Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

॥ श्रीः ॥

जड़ावकुँवर राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला
२०

उत्तररामचरित की शास्त्रीय समीक्षा

लेखक
डॉ० सत्यनारायण चौधरी

चौखम्भा ओरियन्टालिया
...विद्या तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं विक्रेता
...राणसी दिल्ली

7
CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
Bungalow No. 9 U. B.
Jawahar Nagar, DELHI-110007

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

॥ श्रीः ॥

जड़ावकुँवर राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

२०

उत्तररामचरित की शास्त्रीय समीक्षा

लेखक

डॉ० सत्यनारायण चौधरी

एम० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्याचार्य

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं विक्रेता

वाराणसी दिल्ली

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रकाशक

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२
गोकुल भवन, के० ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१००१ (भारत)
टेलीफोन : ६५८८९ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बी० जवाहर नगर
दिल्ली–११०००७
फोन : २२१६१७

© चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्रथम संस्करण १९८०

मूल्य रु० ३०–००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा विश्वभारती

पो० बाक्स नं० १३९
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी
फोन : ६५४४४

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

JADAUKUNWAR RASTRABHASA SERIES
NO. 20

UTTARARĀMACHARITA
KĪ
ŚĀSTRĪYA SAMĪKṢĀ

(A classical criticism of Uttararāmacharitm
of Bhavabhūti)

by

Dr. SATYANĀRĀYAṆA CHOUDHARY
M. A., Ph. D., Sāhityāchārya
Postgraduate Sanskrit Department
Magadha University, Bodh Gaya

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
VARANASI DELHI

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चौखम्भा ओरियन्टालिया

पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२
गोकुल भवन, के० ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१००१ (भारत)
टेलीफोन : ६५८८९ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बी० जवाहर नगर
दिल्ली–११०००७
फोन : २२१६१७

© चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्रथम संस्करण १९८०
मूल्य रु० ३०–००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा विश्वभारती

पो० बाक्स नं० १३९
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी
फोन : ६५४४४

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

JADAUKUNWAR RASTRABHASA SERIES
NO. 20
Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

UTTARARĀMACHARITA
KĪ
ŚĀSTRĪYA SAMĪKṢĀ

(A classical criticism of Uttararāmacharitm
of Bhavabhūti)

by

Dr. SATYANĀRĀYAṆA CHOUDHARY

M. A., Ph. D., Sāhityāchārya

Postgraduate Sanskrit Department

Magadha University, Bodh Gaya

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

A House of Oriental and Antiquarian Books

VARANASI DELHI

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

Publisher

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32

Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI-221001 (India)

Telephone : 65889 Telegram : Gokulotsav

Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar

DELHI-110007

Phone : 221617

© Chaukhambha Orientalia

First Edition 1980

Price : Rs. 30-00

Printers—Vidya Vilas Press, Varanasi.

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परम पूज्य

श्री पिताजी के करकमलों में

सादर-सभक्ति

सत्यनारायण

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रत्यूह-व्यूह-विध्वंसकारको देवनायकः ।
विनायकः प्रबन्धेऽस्मिन् विधत्तां मङ्गलालयान् ॥

(मङ्गलाचरण)

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्राक्कथन

संस्कृत नाटककारों की विशाल परम्परा में महाकवि भवभूति का स्थान अत्यन्त महान् और महनीय है। भारतीय साहित्य में वह एक सिद्धसारस्वत कवि, प्रतिभापूत कलाकार तथा यशस्वी नाटककार के रूप में सर्वमान्य हैं। महाकवि कालिदास के साथ अगर किसी अन्य नाटककार की गणना और तुलना हो सकती है, तो वह महाकवि भवभूति ही हैं। भारतीय नाट्य परम्परा में मुख्यतः रामनाटकों के तो वे प्राणसर्वस्व ही हैं। यद्यपि एक रामचरित को आधार बनाकर संस्कृत साहित्य में दर्जनों नाटक लिखे गये, किन्तु राम के लोक-वेदवन्दित शील और व्यक्तित्व का जैसा उज्ज्वल प्रतिफलन भवभूति के उ० च० में हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। भारतीय साहित्य में कदाचित् पहली बार ही राम के समन्वित शील और व्यक्तित्व को नाटकीय भावभूमि में फैलाकर इतनी बारीकी और निष्ठा के साथ देखा-परखा गया है। फिर भी भवभूति के नाट्य साहित्य का अब तक समुचित मूल्यांकन नहीं हो पाया है। संस्कृत-साहित्य में कदाचित् कविकुलगुरु कालिदास ही ऐसे एक सौभाग्यशाली कवि और नाटककार हैं जिनकी रचनाओं के विविध पक्षों का व्यापक परिप्रेक्ष्य में समुचित चिन्तन-मनन हुआ है। किन्तु भवभूति कदाचित् अपने मौलिक दृष्टिकोण, भावगाम्भीर्य तथा प्रौढ़ भाषाशैली के कारण अद्यावधि किसी समीक्षक के स्वतन्त्र अध्ययन का विषय नहीं बन पाये हैं। इनकी तीन नाट्य कृतियाँ उपलब्ध हैं 'महावीरचरितम्', 'मालतीमाधवम्' और 'उत्तररामचरितम्'। यों इनकी तीनों ही रचनायें अपना पृथक् मूल्य रखती हैं; किन्तु इनमें उ० च० अपनी उदात्त भावभूमि तथा प्रौढ़भाषाशैली के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय नाट्य साहित्य में भवभूति अपनी जिन उपलब्धियों के कारण इतने महार्घ और महनीय हैं, उनका गौरवस्तम्भ उ० च० नाटक ही है। महाकवि कालिदास की रचनाओं में मूल्य और महत्त्व उनके अभिज्ञानशाकुन्तल का है, वही मूल्य-महत्त्व भवभूति की रचनाओं में उ० च० का है। यह परिणत-प्रज्ञ भवभूति की अलोकसामान्य नाट्यप्रतिभा की उज्ज्वल विभूति है :—

'शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतप्रज्ञस्य वाणीमिमाम्।'

प्रस्तुत प्रबन्ध में भवभूति के उत्तररामचरितम् की शास्त्रीय समीक्षा की गई है। जहाँ तक शास्त्रीय समीक्षा का सम्बन्ध है, वह सामान्य समीक्षा पद्धति से कुछ विशिष्ट और गम्भीर मानी जाती है। सामान्यतः इसके दो पक्ष होते हैं:— सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। यद्यपि ये दोनों पक्ष भी एक ही विराट् सत्य के दो रूप हैं, क्योंकि जीवन और साहित्य का व्यावहारिक सत्य ही शास्त्रों में सिद्धान्त

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की अभिधा से प्रतिष्ठित होता है। फिर भी समीक्षा के क्षेत्र में दोनों ही पक्षों का अपना पृथक् मूल्य और महत्त्व माना जाता है। यहाँ शास्त्रीय सिद्धान्तों का स्वरूप विश्लेषण तथा मर्मोद्घाटन जितना महत्त्वपूर्ण माना जाता है उतना ही किसी कृतिविशेष में इसके व्यावहारिक पक्ष का मूल्यांकन भी आवश्यक और अनिवार्य समझा जाता है। अतः किसी कृतिविशेष को शास्त्रीय सिद्धान्तों के निकष पर कसकर उसके व्यावहारिक पक्ष का समुचित मूल्यांकन करना शास्त्रीय समीक्षा पद्धति का एकमात्र उद्देश्य है। प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी दृष्टिकोण से भवभूति के उ. च. की शास्त्रीय समीक्षा प्रस्तुत हुई है।

भारतीय साहित्य में शास्त्रीय समीक्षा की कई प्राचीन पद्धतियाँ हैं। इसका एक रूप प्राचीन आचार्यों के लक्षण ग्रन्थों में भी देखा जा सकता है। किन्तु लक्षण ग्रन्थकारों ने जितनी तल्लीनता से शास्त्रीय सिद्धान्तों का विश्लेषण और विवेचन किया है उतनी उसके व्यावहारिक पक्ष का नहीं। आचार्य वामन, कुन्तक, ध्वनिकार अभिनवगुप्त तथा मम्मट प्रभृति सुधी समालोचकों ने अपने लक्षण ग्रन्थों में शास्त्रीय सिद्धान्तों की मीमांसा करते समय उद्धरण के रूप में किसी कृतिविशेष से दो एक पदों को चुनकर प्रस्तुत कर देना ही अपनी समीक्षा शैली की इयत्ता मान ली है। किन्तु इससे सामान्य पाठकों की व्यावहारिक जिज्ञासावृत्ति कभी संतुष्ट नहीं हो पाती।

शास्त्रीय समीक्षा का दूसरा प्राचीन भारतीय रूप कुछ टीका-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। यद्यपि प्राचीन टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में प्रतिभा और पाण्डित्य का अलौकिक विनियोग किया है, किन्तु वे भी मूलतः किसी कृतिविशेष के पद-पदार्थ परिचय तथा उससे सम्बन्धित रस, अलंकार, छन्द, कोष तथा व्याकरण आदि शास्त्रों के तात्त्विक विवेचन में ही सदा संलग्न दिखाई देते हैं। किसी कृतिविशेष को समन्वित रूप से देखने और परखने का अपेक्षित धैर्य एवं समुचित प्रयास इन टीकाकारों में नहीं दिखाई पड़ता। फिर भी इतना तो सुतरां सिद्ध है कि शास्त्रीय समीक्षा की मूलभित्ति इन्हीं विद्वान् टीकाकारों की टीकाओं पर खड़ी होती है। किसी कृतिकार अथवा कृति विशेष के व्यावहारिक मूल्यों के निर्धारण के लिये इन टीकाकारों की पद-पदार्थ विवेचन पद्धति कई दृष्टियों से महार्घ और महनीय हैं। इस दृष्टि से भवभूति के उ. च. पर वीरराघव, विद्यासागर, त्रिपुरारि तथा घनश्याम प्रभृति स्वनामधन्य आचार्यों की वैदुष्यपूर्ण टीकायें अत्यन्त उपादेय और महत्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में शास्त्रीय समीक्षा के लिए इन सुधी समालोचकों की टीकाओं का प्रकाम उपयोग किया गया है।

भारतीय साहित्य में कुछ ऐसे भी अज्ञात-अनाम आलोचक हुए हैं जो किसी कृतिकार अथवा कृतिविशेष की समीक्षा में दो-एक प्रशस्तिवाक्य लिखकर चले गये

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हैं। 'उत्तरेरामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते', 'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते' आदि अमर वाक्य इसी अज्ञात आलोचना सिन्धु के उज्ज्वल रत्न हैं। निश्चय ही इनमें कुछ प्रशस्तिवाक्य ऐसे हैं जो किसी कविविशेष के काव्यगत उत्कर्ष और शैलीगत वैशिष्ट्य को नपे तुले शब्दों में अभिव्यंजित कर सकने में पूर्ण समर्थ हैं। किन्तु इनमें अधिकांश प्रशस्तियाँ ऐसे ही चलते-फिरते सुनाई पड़ती हैं जिनमें समालोचकों का वैयक्तिक अभिनिवेश एवं दुराग्रह का पक्षपातपूर्ण स्वर ही अधिक मुखर है। 'माघे सन्ति त्रयोगुणाः', 'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः' आदि प्रशंसा वाक्यों को साहित्यिक समालोचना का स्वस्थ मानदण्ड कथमपि नहीं माना जा सकता। यह कोरा स्तुतिवाद है। इस प्रकार किसी रचनाकार अथवा रचनाविशेष के कलात्मक उत्कर्ष तथा व्यावहारिक मूल्यों के सम्यक् ज्ञान के लिए प्राचीन आलोचना के ऐसे सारे प्रयत्न एकांगी किंवा अपर्याप्त ही माने जायँगे।

आधुनिक युग में भी संस्कृत कवियों एवं नाटककारों की कुछ आलोचनायें अवश्य हुई हैं, किन्तु ये आलोचनायें भी मुख्यतः इतिहास ग्रन्थों तथा कुछ सौभाग्य-शाली ग्रन्थों की भूमिका तक ही सीमित रही हैं। इतिहास लेखक विषय की विविधता एवं व्यापकता के कारण किसी कृतिविशेष पर गम्भीरता पूर्वक विचार नहीं कर पाते, और भूमिका लेखक स्थान और समय की सीमा में मूलतः ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार विशेष का सामान्य परिचयमात्र देकर ही मौन हो जाते हैं। जहाँ तक भवभूति के समालोचकों का प्रश्न है इनमें कुछ स्वदेशी और विदेशी पण्डितों के गवेषणात्मक अध्ययन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। विदेशी विद्वानों में 'मैकडॉनल, प्रो. कीथ, आदि तथा स्वदेशी विद्वानों में म. म. काणे, म. म. मिराशी, टोडरमल, भंडारकर, वेल्वलकर डॉ. एस. के. डे, डी. एल. राय प्रभृति महापुरुषों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। किन्तु इन महापुरुषों के अध्ययन एवं अनुसंधान का मूल संरम्भ भवभूति के नाम, धाम, तथा देश-कालादि ऐतिहासिक तथ्यों के निर्धारण में व्यय हो गया है। जहाँ तक भवभूति के साहित्यिक उत्कर्ष, शैली-शिल्प एवं कलात्मक उपलब्धियों का प्रश्न है—इन विषयों पर ये अत्यन्त परिमित शब्दावलियों में सामान्य रूप से दो-चार बातें कहकर ही मौन हो गये हैं। फिर भी इन महापुरुषों के गवेषणात्मक निष्कर्ष कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और विचारोत्तेजक हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में इन महापुरुषों के चिन्तन-मनन का सात्विक श्रमकण यत्र तत्र देखा जा सकता है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि महाकवि भवभूति की कलाकृतियों का अबतक विशेष रूप से कोई सर्वांगीण अध्ययन नहीं हो पाया है। इधर कुछ अनुसंधित्सुओं का इस ओर ध्यान गया है जो निश्चय ही संस्कृत साहित्य के लिए एक शुभ बात है। इनमें डॉ. श्री अयोध्या प्रसाद सिंह

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

(पटना विश्वविद्यालय) का 'भवभूति की नाट्यकला—' नामक शोध-प्रबन्ध, और डॉ. गंगासागर राय की 'महाकवि भवभूति' नामक पुस्तक—इस दृष्टि से अधिक उपादेय हैं। फिर भी अंग्रेजी साहित्य में जैसे एक-एक कवि की सभी कृतियों का कई दृष्टियों से समीक्षण कार्य हुआ है, निश्चय ही संस्कृत साहित्य में अभी उस तरह का कार्य शेष ही है। प्रस्तुत प्रबन्ध इसी दिशा में एक सात्विक विनम्र प्रयास है।

भवभूति अपने महाप्राण व्यक्तित्व, उदात्त दृष्टिकोण तथा गम्भीर शैली–शिल्प के कारण प्रारम्भ से ही मेरे प्रिय नाटककार रहे हैं। अध्ययन काल से लेकर अध्यापन काल तक इनके उ. च. ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित और आकर्षित किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध इसी प्रभाव संस्कार का आवश्यक परिणाम है। यद्यपि इस प्रबन्ध में भवभूति की अन्य कृतियों का भी प्रकाम उल्लेख हुआ है, फिर भी मेरे अनुसंधान का प्रधान क्षेत्र इनका उ. च. ही है। भवभूति की अन्य दो नाट्य-कृतियों को छोड़कर केवल इनके उ. च. का ही अध्ययन करने में मेरा यह दृष्टिकोण रहा है कि अगर इनकी तीनों नाट्य कृतियों को प्रस्तुत अध्ययन का विषय बनाया जायगा, तो तत्त्वतः किसी एक कृति का भी समुचित मूल्यांकन नहीं हो पायगा। अतएव मैंने अपने अध्ययन को यहाँ सिर्फ उ. च. तक ही सीमित रखा है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना अत्यावश्यक है कि उ. च. की शास्त्रीय समीक्षा में मैंने मुख्य रूप से भारतीय मनीषियों के चिर प्रतिष्ठित समीक्षा सिद्धान्तों का ही अनुगमन किया है। इसमें मेरा यह दृढ़ विश्वास है और वह कदाचित् अकारण नहीं है कि किसी भी साहित्यिक कृति की वास्तविक समीक्षा उसके देशकाल की सीमा में ही हो सकती है। देशकाल की सीमा को लाँघकर समीक्षा के किसी विदेशी मापदण्ड से भारतीय कलाकृति का समुचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। समीक्षा-सिद्धान्त के विदेशी चश्मे से देखने के कारण ही कुछ समालोचकों ने भवभूति के उ. च. को 'एपिक ड्रामा' कहने की वैचारिक भूल की है। अतएव प्रस्तुत प्रबन्ध की समीक्षा में मेरा दृष्टिकोण मूलतः भारतीय ही रहा है। फिर भी जहाँ कहीं अवसर मिला है वहाँ मैंने विदेशी समीक्षा-सिद्धान्तों के कतिपय सार्वजनीन मापदण्डों को भी सादर अङ्गीकार कर विनियोग किया है। नाटक में अङ्गीरस के रूप में सिर्फ शृंगार और वीर रस की प्राचीन भारतीय मान्यता का प्रबल पक्षपाती नहीं हूँ। इसमें मेरा यह विश्वास है कि कोई भी सर्व समर्थ नाटककार शृङ्गार और वीर रस की भाँति शान्त-करुण आदि रसों को भी अपनी कृतियों में अङ्गीरस के रूप में प्रतिष्ठित कर सकता है। यह मूलतः नाटककार की प्रतिभा और व्युत्पत्ति पर ही निर्भर करता है। महाकवि भवभूति के उ. च. में अङ्गीरस के रूप में करुण रस तथा पं. श्रीकृष्ण मिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय में शान्त रस का अद्भुत विनियोग एवं सम्यक् परिपाक इसका उज्ज्वल प्रमाण है। अतः जिन

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

समालोचकों ने प्राचीन लक्षण ग्रन्थों की सिर्फ संगति बैठाने के लिए भवभूति के उ. च. में विप्रलम्भ शृङ्गार को अंगीरस सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास किया है वे लक्षणैकचक्षु और गतानुगतिक ही हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी दृष्टिकोण से करुण रस को उ. च. का अङ्गीरस सिद्ध किया है।

भवभूति के उ. च. को यहाँ सात अध्यायों में विभक्त कर सावधानी के साथ देखा-परखा गया है। निश्चय ही ये सात अध्याय किसी कृति विशेष के समुचित मूल्यांकन के लिए समीक्षा सिद्धान्त द्वारा अपनाये गये विश्वजनीन मापदण्ड हैं। इनमें प्रथम अध्याय का विषय है—'भारतीय नाट्यकला विमर्श'। भवभूति की नाट्यकला की समीक्षा के लिये यहाँ भारतीय नाट्यकला के कतिपय आधारभूत तत्त्वों की मीमांसा की गई है। द्वितीय अध्याय में भवभूति के इतिवृत्त; व्यक्तित्व का निर्णय है। जहाँ तक इनके जीवनवृत्त और कृतित्व का सम्बन्ध है उसके निर्णय में यहाँ ऐतिहासिक मत-मतान्तरों को अनावश्यक समझ कर विशेष महत्त्व प्रदान नहीं किया गया है। उनके देशकाल की परीक्षा के लिए डां. काणे, मिराशी, भंडारकर आदि विद्वानों के गवेषणात्मक निष्कर्षों को ही विचारपूर्वक ग्रहण कर लिया गया है : जहाँ तक भवभूति के व्यक्तित्व निर्धारण का प्रश्न है, उसके निर्धारण में मैं पूर्णतः स्वतन्त्र रहा हूँ। जिन समालोचकों ने भवभूति के दाम्पत्य जीवन, धार्मिक दृष्टिकोण तथा सामाजिक जीवन का विषम तवं विषण्ण मानचित्र खींचा है, यहाँ उनका सप्रमाण एवं तर्क संगत विरोध किया गया है। शेष आगे के चार अध्यायों में उ. च. का वस्तुसंविधान, चरित्र-चित्रण, रस-विमर्श तथा भाषाशैली का विस्तृत शास्त्रीय मूल्यांकन है। इन चार अध्यायों में विवेच्य वस्तु के दो पक्ष हैं—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। इसके सिद्धान्त पक्ष में वस्तु, नेता, रस और भाषाशैली का स्वरूप निर्धारण तथा उनका प्राचीन लक्षणग्रन्थों के आधार पर संक्षिप्त विवेचन हुआ है और इसके दूसरे पक्ष में पुनः इन्हीं विवेचित सिद्धान्तों के आधार पर उ. च. के साहित्यिक एवं व्यावहारिक मूल्यों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

प्रस्तुत रचना में जहाँ अंग का पूर्ण रूपेण अनुसंधान किया गया है, वहीं अनंग-कथन से बचने की पूरी चेष्टा की गई है। इष्ट सीमा का निर्धारण अत्यन्त सावधानी से किया गया है और आनुषंगिक विषयों पर आनुषंगिक रूप से ही दो-चार बातें कहकर पुनः मूल विषय को पकड़ लिया गया है। महाकवि कालिदास और भवभूति के तुलनात्मक अध्ययन का श्रीगणेश कदाचित् बाबू द्विजेन्द्रलाल राय ने ही किया था। इन दोनों कवियों की आलोचना के प्रति संस्कृत पाठकों का मन अनायास ही चला जाता है। यहाँ दोनों नाटककारों की नाट्यकला की समन्वित समीक्षा प्रस्तुत की जा सकती थी, किन्तु इस लोभ का संवरण करना ही मैंने

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उचित समझा है क्योंकि ऐसे प्रलोभनों में पड़ने से कदाचित् प्रतिपाद्य विषय की एकनिष्ठता अक्षुण्ण नहीं रह पाती। अतएव प्रस्तुत विषय की समीक्षा में अपने मार्ग एवं मन्तव्य का बराबर ध्यान रखा गया है। जहाँ तक इस निबन्ध में मेरी भाषा का सम्बन्ध है वह संस्कृतनिष्ठ एवं तत्समबहुल है। यद्यपि मैंने सदा कोशिश की है कि भाषा समर्थ और भावग्राही बने, फिर भी भाषा के ऊपर संस्कृत का पूरा प्रभाव है इसे मैं कभी अस्वीकार नहीं कर सकता।

प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्माण में मैंने जिन आकर ग्रन्थों का उपयोग किया है, उनका उल्लेख अन्त में कर दिया गया है। जिन महापुरुषों के शुभाशीष एवं सत्परामर्श में इस प्रबन्ध के निर्माण में मुख्य रूप से लाभान्वित हुआ हूँ, उनके प्रति मैं यहाँ अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। ऐसे गुरुजनों में स्व० आचार्य प्रवर डॉ. श्री बेचन झा जी एम. ए., डि. लिट् (अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, पटना विश्वविद्यालय), प्रिंसिपल श्रीशिववालक राय (प्राचार्य, साहिबगंज कालेज, साहिबगंज) तथा आचार्य श्रीजानकी वल्लभ शास्त्री (अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, रामदयालु सिंह कालेज, मुजफ्फरपुर), डॉ० उपेन्द्रठाकुर (अध्यक्ष, प्रा० भा० ए० अ० विभाग मगध विश्वविधालय बोधगया) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः ये गुरुजन ही मेरे साहित्यानुशीलन के मुख्य प्रेरणाकेन्द्र रहे हैं। इनके अकृत्रिम स्नेह तथा पाण्डित्यपूर्ण सत्परामर्श का जो अकुण्ठित प्रसाद मुझे सदा मिलता रहा है मैं उससे कदापि उऋण नहीं हो सकता। शीलशिरोमणि विद्वद्वर डॉ. श्री बेचन झा 'जी मेरे इस शोधकार्य के निर्देशक आचार्य थे। इनका सुयोग्य निर्देशन तथा सबसे बढ़कर इनकी सदाशयता का सुदृढ़ अवलम्ब अगर मुझे नहीं मिलता, तो कदाचित् मैं इस प्रबन्ध को पूर्ण नहीं कर पाता। इनका महान् ऋण मैं क्योंकर चुका सकूँगा—यह समझ में नहीं आता। भगवान् इन गुरुजनों को चिरायु बनावें, यह मेरी विनम्र प्रार्थना है।

इस प्रसंग में अपने ऋषिकल्प पूज्य श्रीपिताजी, पूज्या मांजी, पूज्य बड़े भाई तथा अपनी प्रिय धर्मपत्नी को भी नहीं भुला सकता, जिन्होंने मुझे निरंतर कर्तव्य चेतना प्रदान कर प्रस्तुत पुस्तक प्रणीत कराई है। चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी, के सुयोग्य प्रकाशक महोदय का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में तत्परता दिखाई है। अन्त में मैं पुनः एक बार उस परम कारुणिक महाप्रभु की अहैतुकी कृपा के प्रति सादर शीश झुकाता हूँ जिनकी कृपा से ही इस चराचर जगत के सभी छोटे-बड़े कार्य निरन्तर सम्पन्न होते रहते हैं।

'मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥'

मालवीय जयन्ती
२५।१२।७९

सत्यनारायण चौधरी

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विषय सूची

प्रथम अध्याय

भारतीय नाट्यकला विमर्श १–२१

काव्य का स्वरूप, उसके दो भेद, दृश्य और श्रव्य, दृश्य की चाक्षुष प्रधानता ३, दृश्य में प्रयोग और प्रदर्शन की सापेक्षता, दृश्य काव्य की सर्वाधिक रमणीयता का रहस्य, नाट्यकला में रसास्वादन की पूर्णान्विति ४, भरत और अरस्तू का साक्ष्य, 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' का व्यावहारिक मूल्यांकन, नाटकार के दायित्व की गम्भीरता, भरत और विशाखदत्त के मतों का पर्यवेक्षण, काव्यकला की सर्वाधिक उलझनपूर्ण विधा ५, नाट्यकला की लोकतन्त्रात्मक प्रकृति, सामाजिक तत्त्व, भारतीय नाटकों के सुखान्त स्वरूप का दार्शनिक मूल्यांकन, रंगमंच का महत्व ६, देशकाल की प्रकृतियों एवं प्रवृत्तियों की सफल अभिव्यक्ति ७, सार्ववर्णिक पंचम नाट्य वेद, अनुकृति का वास्तविक अर्थ, धनंजय की अवस्थानुकृति का अभिप्राय ८, नाट्य शिल्प में अनुकृति के औचित्य का महत्व निर्धारण ९, आत्मोद्घाटन एवं आत्मप्रतीति का सर्वसुलभसाधन, अरूप को रूप और रूप को रसयुक्त करने का अभूतपूर्व विज्ञान १०, नाट्यकला की सफलता और असफलता का रहस्य, नाटकीय भाषा स्वरूप और महत्त्व ११, अभिव्यक्ति की संवृति में ही नाटकीय भावों की पूर्णविवृत्ति १२, संवाद की सफलता, स्वगत-भाषण की व्यवस्था १३, नाटकीय प्रयोग एवं प्रदर्शन, संस्कृत नाटकों में जनान्तिक शैली, प्रवेशक एवं विष्कम्भक का स्वरूप १४, शील एवं अनुशासन का महत्त्व, भारतीय नाट्यकला के विधायक तत्त्व–वस्तु, नेता रस १५, भारतीय नाटकों में शृङ्गार और वीररस की प्रतिष्ठा १६, शेक्सपीयर की करुण प्रधान नाट्यकृतियाँ, करुण रस में भवभूति का योगदान १६, नाटक में शान्त रस की स्थिति १७, रामायण और महाभारत भारतीय नाटकों के उपजीव्य आर्षग्रन्थ १७।

द्वितीय अध्याय

भवभूति का इतिवृत्त, व्यक्तित्व और कृतित्व ... २२–४८

नाटककार भवभूति २२, सामान्य परिचय २४, श्रीकण्ठ और भवभूति नामों की परीक्षा २५, विद्वानों का अभिमत २६; भवभूति और उम्बेक की अभिन्नता २७, चित्सुखाचार्य और प्रत्यग्रूपभगवान् के मतों का

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

साक्ष्य २८, डॉ० मिराशी के मतों की समीक्षा ३०, पं० बलदेव उपाध्याय के मतों की आलोचना ३१, भवभूति का निवास स्थान ३१, कालप्रियानाथ का अर्थ ३२, भवभूति का कालनिर्धारण : पूर्ववर्त्ती ३४, परवर्त्ती सीमा ३६, कल्हण और जैकोबी का मत ३६, नाटककार भवभूति का व्यक्तित्व निर्णय ३७, भवभूति के व्यक्तित्व का दार्शनिक एवं साहित्यिक स्वरूप ३८, धार्मिक विश्वास ३८, भवभूति का व्यक्तिवादी स्वरूप ३९, भगवान् श्रीराम के अनन्य भक्त ४०, कला के क्षेत्र में भवभूति का क्रान्तिकारी व्यक्तित्व ४१, दाम्पत्य प्रणयभाव का आदर्श चित्रकार ४३, भावात्मक अनुभूति की उज्ज्वल अभिव्यक्ति ४४, आर्थिक स्थिति का अनुमान तथा कल्हण के कथन की परीक्षा ४६, भवभूति के तीन नाटक ४८ ।

तृतीय अध्याय

वस्तु संविधान ४९–१०८

कथावस्तु का सामान्य अर्थ ४९, कथावस्तु का महत्व ४९, वस्तु और रस में सामंजस्य ५०, औचित्य एवं औदात्य का महत्व, भरत तथा आनन्दवर्द्धन का मत ५१, कथावस्तु का मांगलिक स्वरूप, कथावस्तु की मूल प्रकृति, दृश्य और सूच्य का विवेचन ५३, पंचकत्रय का मूल उद्देश्य तथा महत्त्व ५४, समालोचकों के विभिन्न मत, डा० कीथ के विचारों की समीक्षा ५५,

उ० च० का वस्तु-संविधान ५७, सार संक्षेप ५७, कथास्रोत ५९, पद्मपुराण और उ० च० की कथा की समीक्षा ६०, अवान्तर स्रोत ६१, कथा में परिवर्तन और परिवर्द्धन के उद्देश्य ६२, वस्तु से अधिक भाव तत्त्व की प्रधानता वस्तु संविधान का नाटकीय वैशिष्ठ्य ६५, सीता निर्वासन का नाटकीय मूल्यांकन ६६, अद्भुत नाट्यकौशल—'चित्रदर्शन' ६८, प्रथम अंक के नामकरण का औचित्य ७०,

द्वितीय अंक की कथावस्तु में कालिक व्यवधान तथा नाटकीय प्रयोगों की समीक्षा ७१, द्वितीय अङ्क में विष्कम्भक का महत्त्व ७२, शम्बूक वध का नाटकीय महत्त्व ७४, पंचवटी का महत्त्व तथा अंक का नामकरण ७४,

राम और सीता का पुर्नमिलन ७५, छाया मिलन का नाटकीय महत्त्व ७५, सीता की चितशुद्धि ७६, सीता के पुत्रीकृत गजशावक ७७, वासन्ती के उपालंभ का नाटकीय महत्त्व ८०, सीता का हृदयपरिवर्त्तन ८१, तृतीय अंक की कथावस्तु का मूल्यांकन ८१, चतुर्थ अंक की

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कथावस्तु का महत्त्व तथा सीता निर्वासन का सामाजिक समाधान ८२, राम और सीता के मिलन में लोक मत ८४, चतुर्थ अङ्क के प्रसंगों का मनोवैज्ञानिक विवेचन ८४, पंचमं तथा षष्ठ अङ्क की कथावस्तु का नाटकीय महत्त्व ८६, नाटकीय संवाद एवं चरित्र-चित्रण ८७, युद्ध दृश्य का मनोवैज्ञानिक महत्त्व ८८, पंचम अंक अंक का नामकरण ८९, षष्ठ अङ्क की कथावस्तु ८९, प्रत्यभिज्ञान दृश्य की उपयोगिता ८९, स्वगत भाषण की आलोचना ९०, सप्तम अङ्क की कथावस्तु का नाटकीय मूल्य ९२, गर्भांक नाटक की सार्थकता ९२, वस्तु संविधानगत दोषों की सामान्य समीक्षा ९३, राम और सीता का पुनर्मिलन ९४, डी० एल० राय के मतों की समीक्षा ९४, वस्तु संविधान में प्रकृति का महत्त्व ९९, अन्वितित्रय १०५ ।

चतुर्थ अध्याय

चरित्र-चित्रण १०९–१३१

नाटक में नेता का स्थान और महत्त्व १०९, वस्तु और नेता का सम्बन्ध १०९, नाटककार के जीवन दर्शन अभिव्यक्ति का मूलाधार ११०, गौण पात्रों का उद्देश्य १११, चरित्र-चित्रण में औचित्य का महत्व १११, नेता शब्द का व्यापक अर्थ, नेता के सामान्य शील और गुण की समीक्षा ११२, भारतीय आर्दश परम्परा का व्यावहारिक मूल्यांकन ११३, भवभूति की आदर्श चरित्र-चित्रण शैली ११४, उ. च. में पुरुष और नारी पात्रों का वर्गीकरण ११४, पात्रों की बहुलता, किन्तु विविधता का अभाव ११४, प्रतिनायक एवं विदूषक का अभाव ११७, नारी पात्रों की विशेषताएँ ११८, राम और सीता के चरित्र का नाटकीय मूल्यांकन १२० ।

पंचम अध्याय

रस-विमर्श १३२–१६३

रससिद्धान्त एक अनुपम उपलब्धि १३२, रससिद्धान्त की परम्परा, भरत का योगदान १३२, आनन्दवर्द्धन और रससिद्धान्त, कीथ का अभिमत १३३, रस शब्द का ऐतिहासिक अर्थ तथा अन्न से आनन्द का अर्थविकास १३४, रस का मूलाधार १३७, रस और भाव का संबंध १३७, नाट्य रसों के आठ प्रकार तथा शान्त रस १३८, रस-निष्पति १३९, अभिव्यक्तिवाद १४०, नाटक में अङ्गीरस की समीक्षा १४१, भवभूति की रस क्षमता १४२, अङ्गीरस का विवेचन १४३, करुण

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

एवं विप्रलम्भ करुण १४४, करुण एवं विप्रलम्भ का भेद १४६, रसगङ्गाधर, भरतमुनि तथा भवभूति का अभिमत १४६, उ. च. का अङ्गीरस करुण १४८, एको रसः करुण एव की मीमांसा १५१, करुण रस की मूलप्रकृति १५६, भवभूति के करुणरस के प्रसंग में डी० एल० के सिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा १५७, कतिपय अङ्गभूत रसों का अध्ययन १५९, हास्य की अपूर्णता १६०, भवभूति की रसक्षमता का सामान्य मूल्यांकन १६१।

षष्ठ अध्याय

भाषा-शैली १६४–१९१

शैली का अर्थ १६४, शैली में व्यक्तित्व की प्रधानता १६५, स्टाइल शैली मार्ग और रीति विवेचन १६५, आनन्दवर्द्धन का विचार १६६, दण्डी एवं कुन्तक का व्यक्तिवादी स्वर १६७, शैली के दो मूलभूत तत्त्व १६८, भवभूति की भाषाशैली का विवेचन १६९, पाण्डित्य और वैदग्ध्य का मूल्यांकन १६९, प्रोढि के विभिन्न अर्थ १७२, व्यास और समास शैली १७३, तीन प्रकार का शैली-विनियोग १७४, भवभूति की नाट्य शैली का दूसरा पक्ष उदारता १७७, अर्थगौरव की परिमिताक्षरा शैली १७८, सूक्ति निर्माण-क्षमता १७९, वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य का निर्वाह १८०, उ. च. में भाषा शैली के अनौचित्यपूर्ण स्थल की मीमांसा १८२, शारीरिक सौन्दर्यचित्रण का अभाव १८३, युगीन प्रवृत्तियों का प्रभाव : गद्यशैली का आदर्श १८४, अलंकरण शय्या १८६, प्रकृति-चित्रण में तदनुकूल भाषा का प्रयोग १८७, गम्भीर उदात्त शैली में हास्य का अभाव, शिष्ट, संयत और परिष्कृत व्यंग्य विनोद १८९, पुनरावृत्त पदों की समालोचना : उनकी शैली के कुछ दोषों का मूल्यांकन १९१।

सप्तम अध्याय

उपसंहार १९२–१९७

भवभूति के उ. च. की शास्त्रीय समीक्षा का सार संकलन।

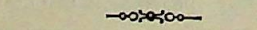

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संकेत तालिका

अ० का०	: अरस्तू का काव्यशास्त्र ।
अ० भा०	: अभिनव भारती ।
अ० रा०	: अनर्घराघव ।
अ० शा०	: अभिज्ञानशाकुन्तलम् ।
ईशा०	: ईशावास्योपनिषद् ।
उ० च०	: उत्तररामचरितम् ।
कठो०	: कठोपनिषद् ।
काव्या०	: काव्यादर्श ।
का० प्र०	: काव्यप्रकाश ।
का० मी०	: काव्यमीमांसा ।
का० सू०	: काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ।
गउड०	: गउडवहो ।
चित्०	: चित्सुखी ।
ता०	: तात्पर्यटीका ।
दश०	: दशरूपक ।
ना० शा०	: नाट्यशास्त्र ।
प्र० रा०	: प्रसन्नराघव ।
प्रो० आँ० का०	: प्रोसिडिंग्स आँफ ओरियण्टल कांफ्रेंस ।
बा० रा०	: बालरामायण ।
ब्र० सू०	: ब्रह्मसूत्र ।
म० च०	: महावीरचरितम् ।
महा० वि०	: महाविद्याविडम्बन ।
मा० ड्रा०	: मास्टर्स आँफ यूरोपियन ड्रामा ।
मा० मि०	: मालविकाग्निमित्रम् ।
मुद्रा०	: मुद्राराक्षस ।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मेघ०	: मेघदूतम् ।
रघु०	: रघुवंशम् ।
रस०	: रसगङ्गाधर ।
वक्रोक्ति०	: वक्रोक्तिजीवितम् ।
विक्रमो०	: विक्रमोर्वशीयम् ।
व्यक्ति०	: व्यक्तिविवेक ।
सं० ड्रा०	: संस्कृत ड्रामा ।
सं० सु० स०	: संस्कृतसुकविसमीक्षा ।
सा० द०	: साहित्यदर्पण ।
हर्ष०	: हर्षचरितम् ।
हि० धर्म०	: हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र ।
हि० सं० लि०	: हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर ।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उत्तररामचरित
की
शास्त्रीय समीक्षा

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय १

भारतीय नाट्यकला विमर्श

यह निखिल नामरूपात्मक जगत् आनन्दकन्द भगवान् की शाश्वत अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति आनन्द का हेतु है और परिणाम भी। कहते हैं ईश्वर ने आनन्द के लिए अपने आनन्द में इस लोक की सृष्टि की है।[1] प्राचीन महर्षियों ने विधाता की इस चिरंतन सृष्टि को देवों का अमर काव्य कहा है—**'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**। कदाचित् इसी अभिप्राय से आगे चलकर ब्रह्मा को कवि और कवि को ब्रह्मा की अलौकिक पदवी से विभूषित किया गया है।[2] कवि इस अखिल ब्रह्माण्ड में सनातन रूप से परिव्याप्त ऋत् का साक्षात्कार करता है, अणु परमाणु में तरंगित चेतना रूपचित् का भावन करता है और पुनः उस भाव के मधु को वाणी के द्वारा अभिव्यंजित कर एक आनन्दमय लोक की सृष्टि करता है। उसके मानस में ऋतम्भरा प्रज्ञा, चिदम्बरा कल्पना तथा प्रियंवदा कला का शाश्वत निवास है। वह जिसे स्पर्श करता है वह अमर हो जाता है। इस कविकर्म का हेतु और परिणाम भी आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अतः आनन्दमय आत्मा की शब्दात्मिका अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं।

इन्द्रिय सन्निकर्ष के आधार पर प्राचीन आचार्यों ने काव्य के दो भेद किये हैं—दृश्य और श्रव्य। नट के द्वारा अंग विक्षेप भावभंगिमाओं तथा उच्चारण सौष्ठव के माध्यम से अभिव्यक्त रसपूर्ण जीवन का प्रत्यक्ष चाक्षुषप्रधान होने के कारण एक **दृश्य** कहलाता है और दूसरा वाणी के द्वारा अभिव्यक्त कवि हृदय श्रवणेन्द्रिय से अनुभूय होने के कारण **श्रव्य** कहलाता है। श्रव्यकाव्य पढ़ने तथा सुनने की वस्तु है, इसका कोई रंगमंच नहीं होता—यह अध्ययन कक्ष का विषय है। इसमें श्रवणेन्द्रिय के द्वारा बुद्धि एवं हृदय का सम्बन्ध काव्य से होता है अतः इसे श्रव्य कहा जाता है। किन्तु दृश्य काव्य मुख्यतः नेत्र का विषय है, इसका साक्षात् सम्बन्ध रंगमंच से है और निपुण अभिनयों के द्वारा जनगण मन का रंजन तथा रसोद्बोधन इसका चरम लक्ष्य है। महाकवि कालिदास ने इसे देवों का चाक्षुषयज्ञ कहा है।[3] यद्यपि दृश्यकाव्य में

---

१. ब्रह्म सूत्र— आनन्दमयाभ्यासात्—१।१।१२

२. ईशो०— कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। मं० सं०—८
ध्वन्या०—अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
—उद्धरण—तृ० उ०।

३. माल०— देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्—१।४

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी पात्रों के कथोपकथन तथा मंचीय संगीत विधान में श्रव्यत्व का अंश विद्यमान रहता है और इस आधार पर उसे दृश्य-श्रव्य ही कहना अधिक संगत प्रतीत होता है। भरत मुनि ने भी नाट्य को दृश्य-श्रव्य ही कहा है। नाट्यशास्त्र के अनुसार दुःखीजनों के मनोरंजन के लिए ब्रह्मा से ऐसे ही खेल की याचना की गयी थी जो दृश्य और श्रव्य दोनों ही हो।[1] फिर भी **'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्तिः'** इस न्याय के अनुसार अभिनय की प्रधानता के कारण नाट्य को दृश्य ही कहा जाता है। प्राचीन भारतीय नाट्य-परम्परा में नाट्य को काव्य के अन्तर्गत स्वीकार करते हुए भी उसके प्रदर्शन पक्ष पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है। संस्कृत नाट्य शब्दावली में अभिनय, रूपक, प्रेक्षक आदि पारिभाषिक शब्दों के धात्वर्थ और रूढ्यर्थ नाटक की प्रयोग-प्रधानता तथा प्रदर्शन-सापेक्षता का ही संकेत करते हैं। संस्कृत नाटकों के रंग निर्देशों में 'रूपयति', 'नाटयति' आदि शब्दों द्वारा उनके मनोभावों, अंगचेष्टाओं और कार्य-व्यापारों के नृत्यमूलक उपस्थापन का जो संविधान है उससे भी नाटक की इसी दृश्य भाविता, रूपकता और प्रेक्षणीयता का बोध होता है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में अभिनय के विशद विवेचन के साथ-साथ रंगमंच और उसकी विविध कलाओं, रंगसज्जा, दृश्य उपकरण, वेशभूषा, संगीत आदि तत्त्वों का जिस तल्लीनता एवं पूर्णता से विश्लेषण तथा विवेचन प्रस्तुत किया गया है उससे भी संस्कृत नाट्य-परंपरा की प्रयोग-प्रधानता तथा दृश्यभाविता ही सिद्ध होती है। नाटक की अभिनेयता और प्रयोगशीलता का यह पक्ष भारतीय नाट्यपद्धति में इतना सबल एवं पूर्ण है कि अभिनेयता और रंगमंच के अतिरिक्त नाटक को प्रभावित करनेवाले तीसरे तत्त्व 'दर्शक समाज' पर भी नाट्यशास्त्र में समुचित विचार-विमर्श किया गया है। भारतीय नाट्य को दृश्यकाव्य की संज्ञा देकर उसके तन्त्र एवं शिल्प का इतना गम्भीर विवेचन तथा विश्लेषण उन्नत भारतीय नाट्य-प्रतिभा का ज्वलन्त प्रमाण है।

दृश्यकाव्य में रसास्वादन के लिए दो प्रबुद्ध इन्द्रियों का सतत योगदान होने के कारण दर्शकों की कल्पना एवं विचारणा शक्ति पर अपेक्षाकृत कम बल पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि श्रव्य की अपेक्षा दृश्य का प्रभाव अधिक सहज, सजीव, स्थायी और रमणीय होता है। जितनी सहज सरस पद्धति से साधारणीकरण की क्रिया दृश्यकाव्य में संघटित एवं निष्पन्न होती है उतनी काव्य की किन्हीं अन्य विधाओं में नहीं। कदाचित् इसीलिए भरत मुनि ने रसास्वाद एवं रस प्रकार की पूर्णान्विति एवं प्रतिष्ठा नाट्य में ही मानी है **'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः'** का स्पष्ट संकेत इसी तथ्य की ओर है।[2] इसी आधार पर भारतीय एवं यूरोपीय काव्यचिन्ताधारा नाटक

१. ना० शा०— क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्—१।११ चौ० सं० संस्थान।
२. ना० शा०— शृंगारहास्यकरुण रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥ ६।१५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करती आयी है। 'काव्येषु नाटकं श्रेष्ठम्' 'नाटकान्तं कवित्वम्' आदि दिव्य वाक्य हमारे प्राचीन आलोचना-सिन्धु के उज्ज्वल रत्न हैं। काव्य की विविध विधाओं के सम्यक् विकास क्रम में नाटक के प्रति युगों से प्रतिष्ठित प्राचीन भारतीय आस्था आज भी एक रस और एकरूप है। प्राचीन यूनानी समालोचक अरस्तू ने भी त्रासदी को ही सर्वश्रेष्ठ काव्य स्वीकार किया था।[1] आज के इस यान्त्रिक युग में जब मनुष्य यन्त्र को ही अपनी शक्ति एवं अभिव्यक्ति का माध्यम बना चुका है तब भी प्राचीन नाटकों के नूतन वैज्ञानिक संस्करण चलचित्र के प्रति वह कदाचित् इसीलिए अधिक निष्ठावान् एवं भक्तिपरायण प्रतीत होता है। जीवन एवं जगत् के धूल-धूप से अस्तव्यस्त, थके-माँदे बटोही के लिए ताड़ एवं खजूर की छोटी छाँह भी कम शीतल एवं सुखद नहीं होती, उसके लिए बबूलवन भी नन्दन कानन बन जाता है, कूप जल गंगाजल हो जाता है।

अभिव्यक्ति की रमणीयता एवं रसास्वादन की पूर्णता की दृष्टि से नाटक अत्यन्त सुकुमार कला माना जाता है, किन्तु नाट्यकला के गाम्भीर्य तथा शैली शिल्प के वैचित्र्य एवं वैविध्य की दृष्टि से नाटककार के लिए पूर्ण प्रतिभा पुरस्कृत तथा जीवन एवं साहित्य में दीक्षित होने के अतिरिक्त उसे सभी विद्याओं, सभी कलाओं तथा अभिव्यक्ति की सभी विधाओं में पारंगत होना अत्यावश्यक है, क्योंकि नाटक में इन सभी तत्त्वों का मधुर सामंजस्य सहज संघटित हो जाता है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते[2] ॥

महाकवि विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में नाट्यकला की गहराई एवं कठिनाई को स्वयं अनुभव कर लिखा है—**'कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा'**।[3] निःसन्देह नाट्यकला काव्यकला की सर्वाधिक उलझनपूर्ण, जटिल एवं कठिन विधा है। यह एक साथ ही काव्य, साहित्य, अभिनय, चित्र, संगीत आदि कई कलाओं का संगम भी है और अपनी सम्प्रेषणीयता के लिए कई कला रूढ़ियों पर आश्रित भी। यहाँ जीवन एवं जगत् की अनुभूति को मंच पर ऐसे कलात्मक ढंग से उछाल कर रखना पड़ता है कि वह साकार और सक्रिय प्रतीत हो, उसमें प्रस्तुत जीवन प्रतिनिधिमूलक होते हुए भी विशिष्ट, व्यक्तिगत तथा अद्वितीय हो। व्यक्तिगत

१. अरिस्टोटल शियरी ऑफ पोयट्री एन्ड फाइन आर्ट्स—ए० बुचर, पृ० १११
२. ना० शा०— १।११७
३. मुद्रा०— कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च।
कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्यजातं
कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ॥ ४।३ ॥

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अनुभूति की अभिव्यक्ति होकर भी वह समूह द्वारा मूर्त्त हो सके, गहन से गहन अनुभूति भी अधिक से अधिक प्रखरता, सरलता एवं संक्षिप्रता के साथ कम से कम समय में व्यक्त ही नहीं मूर्त्तिमान हो सके। सचमुच ऐसा बहुविध संयोग एवं विनियोग सर्वत्र सुलभ नहीं होता।

नाटक एक सामाजिक विज्ञान है। इसमें नाटककार का वही स्वप्न, वही निष्ठा एवं वही अनुभूति मूल्यवान् होगी जो सामूहिक निष्ठा एवं सार्वजनिक अनुभूति के आधार पर खड़ी होती है। नाटककार अपने कृतित्व के द्वारा समष्टि की भावचेतना के जितना अधिक निकट जा सकेगा उसकी कृति उतनी ही चिरस्थायी होगी। यह प्रश्न अनुभूति की वैयक्तिक सचाई और गहराई का उतना नहीं, जितना वह अनुभूति की सार्वजनिक ग्राह्यता का है। जीवन के समस्त अनुभवों को आत्मसात् कर लेने के बाद भी वह अंश फिर भी बचा ही रहता है जो सार्वजनिक अनुभवों, आकांक्षाओं एवं विश्वासों का अंश है। नाटककार की कृति उन्हीं अंशों को अपनाकर मूल्यवान् बन सकती है। यह सामूहिक जीवन के प्रति कलाकार की सजगता का प्रश्न है। वह यदि अपनी संवेदनाओं को प्रकाशित करता हुआ समष्टिगत संवेदनाओं का गहरा संस्पर्श नहीं देता—तो किसी अन्य क्षेत्र में भले ही वह सफल हो, नाट्यकला के क्षेत्र में वह लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सकता। नाटकों का इतिहास साक्षी है कि रचना चाहे सुखान्त हो या दुखान्त, उसमें महत्ता तभी आती है जब वह सामाजिक भावभूमि पर निर्मित होकर समूह का बल प्राप्त करती है। नाटक में व्यंग्य का अर्थ वैयक्तिक संतोष या असंतोष की अभिव्यक्ति नहीं है। यहाँ सुखान्त एवं दुःखान्त का अर्थ भी वैयक्तिक अनुकूलता एवं प्रतिकूलता नहीं है इसका अर्थ है—सामूहिक संतोष या असन्तोष, सामाजिक अनुकूलता एवं प्रतिकूलता। श्रेष्ठ नाटकों की मूल प्रेरणाएँ समष्टिगत ही होती हैं। यही नाटककार का सामाजिक दायित्व है। इसके लिए उसे राष्ट्रीय जीवन के चेतन तथा अवचेतन अंशों से गहरा सम्पर्क एवं सम्बन्ध रखना अनिवार्य है।

नाटक एक रंगमंचीय प्रयोग विज्ञान है। रंगमंच से ही इसकी उत्पत्ति मानी गयी है और वहीं इसे पूर्ण अभिव्यक्ति भी मिलती है। भरतमुनि ने नाटकीय रंगमंच का जिस व्यापक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण एवं विवेचन किया है उससे नाटकीय रंगमंच की प्रभावशीलता एवं अनिवार्यता सुतरां सिद्ध हो जाती है। नाटकीय रंगमंच ही एक ऐसा स्थल है जहाँ चित्र, संगीत आदि सभी कलाएँ एकत्रित होती हैं। विश्व-साहित्य के प्रायः सभी श्रेष्ठ नाटकों की रचना अपने समय की रंगशाला में दर्शकों के सामने अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत करने के लिए ही लिखी गयी थी। महाकवि कालिदास, भवभूति आदि नाटककारों के उत्कृष्ट नाटक तत्कालीन राजदरबारों तथा धार्मिक अवसरों पर विशाल जनसमूह एवं **'अभिरूपभूयिष्ठा परिषद्'** के सम्मुख

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अभिनीत होने के लिए ही लिखे गये थे[1]। अतएव नाटककार जिस रंगशाला के लिए अपने नाटकों की रचना करता है उसकी आकृति, प्रकृति आदि उस पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं, उसकी कृति का रूप निर्धारित करते हैं और साथ ही उसकी विषयवस्तु को भी कुछ हद तक प्रभावित करते हैं।

जहाँ तक नाटकीय कथावस्तु का प्रश्न है उसका सीधा सम्बन्ध तत्कालीन दर्शकों से होता है जिसके आनन्द के लिए उसकी रचना होती है। नाटककार अपनी कथा किस प्रकार रंगमंच पर प्रस्तुत करेगा यह उस कालविशेष के रंगमंचीय रूप प्रकार पर निर्भर करता है, किन्तु वह किस प्रकार की कथा कहेगा यह उन दर्शकों पर निर्भर करता है जिसका वह मनोरंजन करना चाहता है। कोई भी नाटककार गीति कवि की भाँति अपने दर्शकों से स्वतन्त्र नहीं हो सकता, उसकी रचना अपनी संप्रेषणीयता एवं प्रभावशीलता के लिए श्रोताओं पर ही निर्भर करती है। अतएव किसी भी नाटककार को समझने के लिए उन लोगों के बारे में भी कुछ जानकारी होना आवश्यक है जिनके लिए उसने नाटक लिखा तथा जिसके साथ उसका सामाजिक सम्बन्ध था। यही कारण है कि किसी नाटक के अध्ययन से हमें उस देश-काल के आचार-विचार, रीति-रिवाजों तथा सामूहिक भावदशाओं का भी परिचय मिल जाता है। इसलिए सामाजिक तत्त्व की रक्षा किये बिना कोई सफल नाटककार नहीं हो सकता। शेक्सपीयर चाहे भूतप्रेतों में विश्वास करते हों या नहीं, किन्तु वे भलीभाँति जानते थे कि उनके दर्शकों को इन अतिमानवीय प्राणियों तथा प्रेतछायाओं के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं है। इसीलिए जहाँ भी अवसर हुआ उन्होंने अपने नाटकों में इन प्रेतों एवं चुड़ैलों का निर्देश करने में कहीं संकोच नहीं किया है। आज कोई भी नाटककार इन भूतप्रेतों का निरूपण करने का दुःसाहस नहीं कर सकता, क्योंकि आज लोगों का उन पर विश्वास नहीं है।

संस्कृत साहित्य के प्रायः सभी महान् नाटककारों ने अपनी कृतियों में तत्कालीन सामाजिक चेतनाओं एवं कलात्मक दायित्वों का पूर्णरूपेण निर्वाह किया है। महाकवि कालिदास ने तो सहृदय समूह को ही नाटकीय प्रयोग विज्ञान का सही निर्णायक स्वीकार किया है—

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः[2] ॥

---

१. सूत्रधार :— आर्ये ! इयंहि रसभावदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य अभिरूपभूयिष्ठा परिषद्..... —अ० शा० प्रस्तावना।

उ० च०— अद्य खलु भगवतः कालप्रियनाथस्य यात्रायामार्यमिश्रान् विज्ञापयामि एवमत्र-भवन्तो विदां कुर्वन्तु। —प्रस्तावना।

२. अभि० शा०—१।२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नाट्यकला की सफलता उसकी व्यापक प्रभाव शीलता में निहित है—अन्यथा उसका प्रयोजन ही खण्डित एवं मोघ हो जाता है। नाटक सभी ललित कलाओं में अधिक लोकतन्त्रात्मक है—क्योंकि जनसमूह के बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं है। महाकवि कालिदास ने नाटक को विभिन्न संस्कार रुचि, जाति, वर्ग तथा श्रेणी में विभाजित सम्पूर्ण समुदाय की कला कहा है[1]। भरतमुनि द्वारा नाटक को "सार्ववर्णिक पंचमवेद" कहने का रहस्य भी नाटककार के इसी सामाजिक दायित्व में निहित है[2]।

अतः यह अनिवार्य रूप से सामाजिक साहित्य है। इसलिए इसमें समाज स्वीकृत विचारों से अधिक और कुछ अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। अत्यधिक मौलिक दृष्टिकोण, विशिष्ट मान्यताएँ तथा शुष्क दार्शनिक चिन्तन नाटक के क्षेत्र में नहीं आते। इसके परिणामस्वरूप किसी भी युग में नाटक का स्वरूप वही होता है जो वहाँ की जनता के लिए स्वीकृत एवं स्वीकरणीय होता है। जिस महान् नाटककारों की कृतियों का अध्ययन हम आज भी अत्यधिक आदरभाव से करते हैं वे इन्हीं चिरन्तन गुणों के कारण अपने समय में भी सबसे अधिक प्रजाप्रिय एवं पूज्य थे।

वस्तुतः नाट्यकला जीवनकला का पर्याय है। जीवनकला की सफल अनुकृति ही श्रेष्ठ नाट्यकलाकृति मानी जाती है। आचार्य भरत ने नाट्य को लोकस्वभाव एवं वृत्त का अनुकरण कहा है—

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्[3] ॥

भरत के इस लोक स्वभाव अथवा वृत्त की व्यापक परिधि में लोकजीवन के समस्त अन्तर्बाह्य रूपों का—वेषभूषा, क्रियाकलाप, वाणी-व्यवहार तथा भावादि सभी का समावेश है। भरतमुनि ने विस्तार से रंगमंच पर इनके अनुकरण का विधान किया है, किन्तु यहाँ अनुकरण का तात्पर्य वस्तुतः अभिनय से ही है। धनंजय ने दशरूपक में इसे और भी स्पष्ट कर दिया है। **'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'**[4] अर्थात् अवस्थाओं के अनुकरण को ही नाट्य कहते हैं। धनिक के अनुसार अवस्थानुकरण से यहाँ तात्पर्य है कि चाल-ढाल, वेषभूषा, आलाप-प्रलाप तथा क्रिया-कलाप आदि के द्वारा पात्रों की

१. नाट्यमभिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।
—माल० १।४

२. ना० शा०— न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम् ॥
—१।१२

३. ना० शा०—१।१०८, चौ० सं० संस्थान।

४. दश०—१।७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रत्येक अवस्था का अनुकरण रंचमंच पर इस ढंग से किया जाय कि नटों में पात्रों की 'तादात्म्यापत्ति' सहज संघटित हो जाय[1]। यहाँ यह विशेष ध्यातव्य हैं कि आचार्य भरत या धनंजय की अनुकृति प्लेटो एवं अरस्तू की अनुकृति से भिन्न है। अरस्तू ने कलामात्र को अनुकरण कहा है—**'आर्ट इज इमिटेशन'**। किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र में कविकर्म के लिए 'अनुकरण' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं हुआ है। नाटक में जिस अवस्थानुकृति की व्यवस्था की गयी है—वह नटकर्म ही है, कविकर्म नहीं; वहाँ कविकर्म तो अनुकृति का विषय अर्थात् अनुकार्य ही होता है। अभिनव भारती में अभिनवगुप्त ने 'अनुकार' शब्द का प्रयोग नटकर्म के लिए ही किया है—**'नहि नटो रामसदृशं स्वात्मनः शोकं करोति—सर्वथैव तस्य तन्नाभावात्, भावेनाननुकारत्वात्'**[2] अतः भारतीय नाट्य-परंपरा में अनुकरण का संबंध नटकर्म से ही है, कविकर्म से नहीं।

किन्तु नाट्य में भी यह अनुकृति केवल बाह्य जगत् से ही सम्बन्ध नहीं रखती, बल्कि इसका मूल उत्स चेतनाओं का वह भावलोक है जो काव्य की आत्मा तथा आनन्द का आगार है। नाटक में यथार्थ की दर्पणवत् अनुकृति अनपेक्षित ही नहीं घातक भी है। नाटक में विशेष प्रकार के दर्पण ही उपयुक्त होते हैं। क्योंकि जीवन-जगत् की तुलना में नाटक में घटनास्थिति या भावदशा को पूर्णतः विकसित रूप में, अपने बहुविध परस्पर सम्बन्धों के साथ उपस्थित किया जाता है। साधारणतः जीवन में वह स्थिति या घटना ठीक उसी प्रकार कभी नहीं संघटित होती जैसा नाटक में रंगमंच पर प्रदर्शित किया जाता है। क्योंकि जीवन में किसी घटना या भाव की उत्पत्ति एवं परिणति के बीच का कार्य-कारण-सम्बन्ध पूर्ण स्पष्ट एवं बुद्धिगम्य नहीं होता; किन्तु नाटक में नाटककार को उसे स्पष्ट एवं बुद्धिगम्य बनाना पड़ता है। नाटक में विभिन्न घटनाएँ इस प्रकार संयोजित की जाती हैं कि वे सभी आपस में मिलकर किसी अर्थपूर्ण भावानुभूति को पूर्णतः अभिव्यक्त कर सके। नाटक का शिल्प मूलतः अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक चयन, सघनीकरण तथा सार्थक रूपायन का शिल्प है, संघटित वस्तु एवं संयोजित भावानुभूति को सहज स्वाभाविक एवं गत्यात्मक रूप में मूर्त्तता प्रदान करने का शिल्प है। इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि नाटककार सदा औचित्य का निर्वाह करे, विभिन्न घटनाओं और स्थितियों के बीच कार्यकारण-सम्बन्ध को स्पष्ट एवं बुद्धिगम्य बना सके, पात्रों के चरित्र में मानसिक हेतुओं तथा स्थितियों के क्रम में निरन्तरता का अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित कर सके। इसके लिए आवश्यक है कि नाटककार जीवन और साहित्य में पूर्णतः दीक्षित हों तथा उसमें

---

१. वही,—काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्।
—दशरूपक के १।७ पर धनिक की टीका।

२. अभि० भा०—पृष्ठ ३७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अपने भीतर और बाहर दोनों ही ओर अत्यन्त स्वच्छता एवं सूक्ष्मता से देखने तथा दिखा सकने का अद्भुत सामर्थ्य हों।

यह केवल रूप एवं भाव का, अवस्थाओं एवं मुद्राओं का याथातथ्य नकल एवं अनुकरण ही नहीं, बल्कि अन्तर्वाह्य जगत् के संघात द्वारा आत्मोद्घाटन एवं आत्म-प्रतीति का एक सर्वसुलभ साधन भी है। इसलिए भरतमुनि ने नाट्यकला को तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्त्तन कहा है–'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्[1]।' इसमें जीवन और जगत् के सभी भावों को वाणी के द्वारा रूपायित कर कल्पना के कोमल करों से उस रूप जगत् के अन्तराल से सूक्ष्म सौन्दर्य को उद्घाटित करना पड़ता है, वाह्य एवं अन्तर्जगत् के संघर्ष से लोकमानस में जो लघु लोल लहर पैदा होती है उसकी एक-एक रेखा को, रूप एवं रंग को, गति एवं लय को पूरी तटस्थता एवं तन्मयता से उन्मीलित एवं अभिव्यंजित करना पड़ता है। यहाँ अरूप को रूप और रूप को रस से सरावोर करना पड़ता है। यह भूत एवं भविष्य को यथावत् वर्त्तमान की आँखों से देखने तथा दिखा सकने का कलात्मक तन्त्र है, देश काल एवं पात्रों की अनन्यता को भावना की अनन्यता में प्रतिष्ठित कर उसे चिद्रूप बनाने का अलौकिक प्रयोगविज्ञान है, जीवन के चिरन्तन सत्य एवं कठोर आदर्श को **'कान्तासम्मिततया'** लोक-व्यवहार में परिणत एवं प्रतिष्ठित करने की रससिद्ध प्रक्रिया है।

'क्रियाप्रधानं नाटकम्' अर्थात् नाटक क्रिया प्रधान होता है। वर्नाडशा ने नाटकीय व्यापार या क्रिया को नाटक की आत्मा स्वीकार किया है।[2] नाट्यात्मक अनुभति में जीवन की प्रवहमानता की चिरन्तन गति की तथा चिन्मयी चेतना की प्रधानता होती है। वह सिद्ध से अधिक साध्य ही है। नाटककार को इसीलिए सदा मूर्तिमान मानवीय दृश्यों की पैनी परख होनी चाहिये। नाटकीय घटनाओं तथा दृश्यों का पारस्परिक सक्रिय संबंध ही नाट्य-व्यापार कहलाता है। इसका बाह्य घटनात्मक होना अनिवार्य नहीं किन्तु आन्तरिक जीवन या भावदशा की गति और परिणति ही मुख्य है। वस्तुतः इसी क्रिया के स्वाभाविक विकास में नाट्य कला का सारा रहस्य छिपा हुआ है। अथ से इति तक कथानक का स्वाभाविक चढ़ाव और उतार के साथ निरूपण ही नाट्यकला का सार है। नाटक में क्रिया की स्वाभाविकता के समुचित निर्वाह के लिए नाट्यकार को कथानक की गतिमयता, भावों की तीव्रता तथा कल्पना की चिरनवीनता के प्रति सतत जागरूक बना रहना पड़ता है। यहाँ थोड़ी भी असावधानी से नाटककार सदा के लिए लक्ष्यच्युत हो जाता है। अपने अधिकार से प्रमत्त कालिदास के यक्ष को वर्ष भर के लिए ही अपनी महिमा से वंचित होना पड़ा था। किन्तु स्वाधिकार प्रमत्त नाटककार को सदा के लिए अपने

१. ना० शा०—१।१०७

२. नौ एक्शन नो ड्रामा—वर्नाडशा, आर्म्स एण्ड दि मैन—प्रिफैस।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दाम एवं धाम से हाथ धोना पड़ता है। यह एक ऐसा प्रयोगविज्ञान है जिसकी पूर्णता एवं सफलता में स्वयं कृती कालिदास भी निर्भ्रांत एवं विश्वस्त नहीं हो सके[1]। सचमुच यहाँ अत्यन्त सावधानी के बाद भी कदाचित् ही किसी सौभाग्यशाली कलाकार को कल्पान्त स्थायी यश प्राप्त होता है। यही कारण है कि विश्व साहित्य के इतिहास में अबतक दो चार ही यशःपूत नाटकार हो पाये हैं—'**अस्मिन्नति-विचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पंचषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते**[2]।'

भारतीय नाट्य शिल्प का एक और महत्त्वपूर्ण उपकरण है भाषा। नाटक में भाषा का सदा चिरनूतन किन्तु प्रभावशाली प्रयोग होना आवश्यक है। नाटक की भाषा में एक साथ ही काव्य जैसी गहन लाक्षणिकता, व्यंजकता, सूक्ष्मता और चित्रात्मकता तथा बोलचाल की भाषा जैसी मूर्त्तता, सम्प्रेषणीयता तथा प्रवहमानता आदि दिव्य गुणों का सहज समन्वय अनिवार्य होता है। उसमें पात्रानुकूल विविधता और विचित्रता भी अपेक्षित है किन्तु साथ ही समर्थ भाषा की शैलीपरकता तथा साहित्यिकता भी अभीप्सित है। उसमें जितना कुछ तल पर रहता है उससे अधिक या कम से कम उतना ही तल के नीचे भी रहना वांछित है। श्रेष्ठ नाटक की भाषा में भाव, विचार और चित्र तीनों को वहन करने का अद्भुत सामर्थ्य होना अनिवार्य है। यही कारण है कि उत्तम नाट्य-रचना में भाषा को नया संस्कार मिलता है, नयी शक्ति और अभिव्यक्ति मिलती है। अतएव आलोचकों का कथन है कि समर्थ एवं अभिव्यंजनापूर्ण भाषा के बिना श्रेष्ठ नाटक की रचना नहीं हो सकती[3]। उसमें पीढ़ियों के प्रयोग से अर्जित श्रम एवं संस्कार की स्वच्छता एवं संप्रेषणीयता का स्वर्ण सौरभ योग होना चाहिये। इसके लिए नाटककार में द्रष्टा एवं स्रष्टा की युगपत् सहस्थिति अपेक्षित है, उसमें भावों का सहज संवेदन एवं निश्छल अभिव्यंजन परमावश्यक है।

नाटक के मूल तत्त्वों तथा विविध उपकरणों में कथोपकथन या संवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सच तो यह है कि रंगमंचीय निर्देशों को यदि नाटक से निकाल दिया जाय तो कथोपकथन के अतिरिक्त अवशिष्ट कुछ नहीं रहता। क्योंकि नाटककार को अभीष्टसिद्धि तक पहुँचाने का एकमात्र वाहन संवाद ही है। पात्रों के

---

१. आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥—अभि० शा०-१।२

२. ध्वन्या०— प्रथम उद्योत—पृष्ठ ३४.

३. वही,—नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मलाभः इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः।
—आनन्दवर्द्धन—तृतीय उद्योत।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चरित्र-विकास, कथावस्तु के विन्यास और विभिन्न रसों की निष्पत्ति का उपर्युक्त साधन संवाद ही है।

अतएव जिस कथोपकथन में जितनी अधिक चरित्र-चित्रण की क्षमता, व्यापार प्रकार की योग्यता और रसपरिपाक के लिए भावोद्बोधन की तीव्रता होगी वह उतना ही उत्तम और उपादेय माना जायगा। संवाद की उपादेयता पर नाटक की अधिकांश सफलता निर्भर करती है।

नाटकीय संवाद को सक्षम एवं सफल बनाने के लिए पश्चिमी आचार्यों ने बहुतेरे उपाय बताये हैं। अरस्तू ने संवाद योजना पर विवेचन करते हुए यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया है कि संवाद की भाषा असाधारण होते हुए भी स्पष्ट और सहज होते हुए भी असाधारण तथा चमत्कारपूर्ण होनी चाहिये[1]। सामान्यतः असाधारण भाषा में स्पष्टता एवं सरलता नहीं होती और सुगम सुबोध भाषा में व्यंग्य चमत्कार नहीं पाया जाता। किन्तु नाटकीय संवाद की भाषा में इन दोनों तत्त्वों का समुचित सामंजस्य पाया जाता है। सामान्यजन्य समुदायों में प्रचलित भाषा को कवि अपनी प्रतिभा के सुनहले पानी से धोकर उसे विशिष्ट और चमत्कारपूर्ण बना देता है। उपन्यास की भाषा जो बोलचाल की भाषा और उसमें मुहावरों की भरमार होती है वह नाटक के लिए उपयुक्त नहीं होती, क्योंकि वह चरित्र-चित्रण में असमर्थ, कथा को गतिशील बनाने में अक्षम तथा मुख्य रस के परिपाक में बाधक होती है।

पूर्वी आचार्यों ने नाटकीय संवाद के ऊपर कोई विशेष विवेचन नहीं किया है किन्तु भाषा के विभिन्न स्तरों के पात्रोचित विनियोग को लेकर पूरा विचार किया है। आचार्य भरत के अनुसार विद्वान्, ब्राह्मण; राजा तथा उच्च वर्ग के पुरुष-पात्रों को संस्कृत तथा अन्य जन को प्राकृत या अपभ्रंश का प्रयोग करना चाहिये[2]। साथ ही संस्कृत या प्राकृत की भी कई सीढ़ियाँ हैं जो देशकाल तथा पात्र एवं परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तित होकर प्रयोग में आती हैं, इसमें परिवर्त्तन का कारण कहीं विषय की गहनता है, कहीं पात्रों की स्वाभाविक रुचि एवं प्रकृति की विभिन्नता है और कहीं देशकाल की निरंतर बदलती हुई परिस्थितियाँ भी कारण हैं जिससे भाषा में परिवर्त्तन स्वाभाविक एवं अनिवार्य होता है।

नाटकीय संवाद-योजना में शब्दों का चयन भाषा का प्रभाव, भाषण का लाघव, नाटकीय व्यापार तथा जनता की योग्यता पर ध्यान रखना अनिवार्य है। क्लिष्ट शब्द, सुदीर्घ समस्त वाक्य, वृहत् भाषण आदि नाटकीय संवाद के घातक तत्त्व हैं। संवाद को नाटकीय व्यापार से पृथक् कर नहीं सोचा जा सकता। दोनों में

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ११८
२. ना० शा०—आचार्य भरत, अष्टादश अध्याय। तथा
सा० द०—षष्ठाध्याय–१६८वीं कारिका।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अन्योन्याश्रय संबंध है। अच्छे नाटकों में व्यापार संवाद के लिए नियोजित होता है, और संवाद व्यापार प्रसार के लिए प्रयुक्त होता है। जिस संवाद से नाटकीय व्यापार अवरुद्ध हो जाय वह सर्वथा त्याज्य है। नाटकीय संवाद की सफलता का एक बहुत बड़ा दायित्व भाषण की लघुता तथा उसकी प्रभावोत्पादकता पर निर्भर करता है। जिस संवाद में वार्त्तालाप करनेवालों को उत्तर पाने की उत्कंठा बनी रहती है वह संवाद रोचक और उपादेय माना जाता है ठीक इसके विपरीत जिस संवाद में लम्बे भाषण होते हैं और नाटकीय व्यापार का प्रभाव रुद्ध होता है वह अप्रिय एवं असफल होता है। संवाद में जहाँ एक ओर वाणी विचार की प्रेरणा से मस्तिष्क को पुष्ट करती है वहाँ दूसरी ओर हाव-भाव तथा मुख-मुद्राओं की सहायता से हृद्गत भावों को उद्बुद्ध भी करती है। जिस प्रकार आत्मचिन्तन दार्शनिक विवेचन तथा भावनाओं का उद्दाम उच्छ्वास व्यापार रहित होने के कारण नाटक के लिए अनुपयुक्त होते हैं उसी प्रकार दीर्घ संभाषण भी उत्तर-प्रत्युत्तर की क्षिप्रता के अभाव में नीरस प्रतीत होते हैं।

नाटकीय संवाद में स्वगत-भाषण की व्यवस्था अतिप्राचीन है फिर भी इसके प्रयोग वैविध्य तथा प्रभाव वैचित्र्य का चमत्कारपूर्ण विनियोग जैसा पश्चिमी नाटकों में देखा जाता है वैसा भारतीय नाटकों में नहीं। कथानक के बिखरे तन्तुजाल को सुलझाने तथा पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को एक ही साथ समझने का एक अनुपम साधन स्वगत-भाषण ही है, फिर भी आधुनिक नाटकों में इसे अनावश्यक ही नहीं बल्कि एक दोष भी माना जाता है। स्वगत-भाषण अपने आप में स्वतः पूर्ण नहीं, वह या तो किसी पात्र की मानसिक अवस्था का संसूचक होता है, अथवा किसी भावी घटना की नाटकीय भूमिका का काम करता है अथवा किसी पात्र की चारित्रिक विशेषताओं का प्रतिपादक होता है। किन्तु जो स्वगत-भाषण केवल सूचना के लिए होता है वह अनिवार्य रूप से नीरस और नाट्यकला के प्रतिकूल माना जाता है। जब नाटककार किसी ज्ञातव्य विषय की क्रमानुसार सूचना संवाद द्वारा देता है तो उसकी प्रक्रिया स्वाभाविक होने के कारण सामाजिकों को रस की ओर ले जाती है, किन्तु जब वही घटना स्वगतोक्ति के रूप में सहसा प्रकट होती है, तब नाटककार वर्णनात्मक शैली का अनुसरण करने लगता है और वह नाट्यकला से दूर हटकर उपन्यासकला के निकट जा पहुँचता है।

जब कोई पात्र रंगमंच पर उपस्थित अन्य पात्रों के सम्मुख खड़ा होकर हृद्गत भावों को स्वगत रूप में अभिव्यक्त करता है तो स्वगतोक्ति का यह अन्य रूप नाटक के लिए किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं माना जा सकता। यह कैसे संभव है कि रंगमंच पर एक पात्र का वक्तव्य श्रोता सुने किन्तु पार्श्ववर्ती पात्र उसे न सुने।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

क्योंकि भरतमुनि का शाप है[1]। संस्कृत नाटकों में यह जनान्तिक शैली आज नितान्त असंगत मानी जाती है। स्वगत भाषण के शेष दो प्रकार भी अभिनय की दृष्टि से अनुपयोगी ही हैं। अतीत एवं भावी घटना की सूचना के उद्देश्य से जिन स्वगतोक्तियों का भारतीय रंगमंच पर प्रयोग होता है वे शास्त्र की भाषा में प्रवेशक और विष्कम्भक कहे जाते हैं[2]। यद्यपि अनुचित दृश्यों तथा व्यापार विरोधी कथातत्त्वों की सूचना देने के लिए भारतीय नाट्यकला में इन अर्थोपक्षेपकों का मूल्य एवं महत्त्व है फिर भी ये सराहनीय नहीं हैं। नाटक का विधान यह है कि पात्र अपना तथा किसी अन्य घटनाओं का परिचय अपने व्यापारों द्वारा कराये न कि केवल वाणी से। दर्शक नाट्यशाला में श्रवणेन्द्रिय का उपयोग उतना ही करना चाहता है जितना अनिवार्य है। किन्तु जिसका ज्ञान चक्षु द्वारा भी संभव है उसको श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण कर वह संतुष्ट नहीं होता। अतएव स्वगतोक्ति की जगह अगर क्रियाशील संवाद की योजना की जाय तो वह अधिक रमणीय, हृद्य तथा अभिनय की दृष्टि से प्रभावोत्पादक भी हो सकता है। पात्रों का चरित्र विकास उनके स्वाभाविक कार्य तथा संवाद द्वारा अभिव्यक्त होना कहीं अधिक नाटकीय एवं मनोवैज्ञानिक बातें हैं। अतएव नाटकों में स्वगत-भाषण का प्रयोग नाटककार की विवशता का सूचक है। जब नाटककार क्रियाशील संवाद की जगह स्वगत-भाषण में दत्तचित्त हो जाता है, तो वह कलालोक से भी दूर हो जाता है। इसका प्रमाण यह है कि स्वगत भाषण के रूप में लम्बे संवाद वास्तविक जगत् में प्रायः नहीं सुने जाते हैं। फिर भी जो शब्द भाषण नाटकीय व्यापार तथा प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त चमत्कृत, संक्षिप्त एवं समर्थ हैं, वे उपादेय ही माने जायेंगे। संस्कृत नाटकों में स्वगत-भाषण का प्रयोग पश्चिमी नाटकों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक एवं नाटकीय है।

यह एक समशीतोष्ण कला है। यहाँ आवश्यकता से अधिक न तो कविता की अपेक्षा होती है और न तो गद्य की ही (गद्य शब्द गद् धातु से बना है अतः गद्य से मेरा आशय यहाँ नाटकीय संवाद या कथोपकथन से है), नाटक महाकाव्य एवं उपन्यास के बीच की वस्तु है। महाकाव्य में कविता तथा उपन्यास में रमणीय कथावस्तु की प्रधानता होती है, किन्तु नाटक में कविता एवं कथानक दोनों तत्त्वों का मधुर सम्मिश्रण और सम्यक् परिपाक होता है। इसके अतिरिक्त भी नाटक की अभिनेयता, नृत्य, संगीत तथा शैलीशिल्प-सम्बन्धी कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो

१. दश०—त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्॥ १।६५

२. वही,—वृत्तवस्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः॥ १।५९ तथा १।६०

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसे काव्य की अन्य विधाओं से पृथक् सिद्ध करती हैं। यद्यपि नाट्य में काव्य के सभी सामान्य गुणों का समावेश रहता ही है फिर भी यहाँ रंगमंच के अनुरोध से नाटककार को अत्यन्त अनुशासित, संयमित, शालीन तथा मितभाषी होना पड़ता है। यही कारण है कि नाटकों में कहीं भी कविप्रतिभा प्रगल्भ, उद्दाम एवं उच्छृङ्खल रूप धारण नहीं कर पाती। जो कालिदास रति, पार्वती, सुदक्षिणा एवं इन्दुमती के सौन्दर्य वर्णन में सर्ग का सर्ग लिखकर भी नहीं अघा सके, वही कालिदास विधाता की आद्यासृष्टि शकुन्तला के सौन्दर्य वर्णन में **'लब्धं नेत्रनिर्वाणम्'** कहकर ही संतृप्त हो जाते हैं।

यहाँ अभिव्यक्ति की संवृति में ही भावों की पूर्ण विवृति होती है। जहाँ नाटककार कविता के मोह में पड़कर भावसरिता में संतरण का आनन्द लेने लगता हैं, वेदना की विवृति में वाचाल हो जाता है, वहाँ वह सर्वस्व खो देता है। महानुभूति भवभूति के नाटक ऐसे रमणीय दोषों से भरे पड़े हैं। इसका मनोवैज्ञानिक हेतु यह है कि मुखरता में वेदना का आवेग बिखर जाता है। वेदना की तरलता और भावना की गहराई प्रगाढ़त्व में ही शोभा पाती है। यद्यपि जीवन में ऐसे भी क्षण आते हैं जहाँ वेदना संयम का बाँध तोड़कर उमड़ने लगती है, तथापि नियंत्रण एवं अनुशासन का महत्त्व एवं सौन्दर्य सर्वत्र समान है। विशेषकर नाट्यकला तो निरंकुशता तथा प्रगल्भता को थोड़ा भी बर्दास्त नहीं कर सकती।[1] यह पूर्णतः संयम, शील एवं अनुशासन की भाषा है, जीवन और जगत् की नपी-तुली परिभाषा है—

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति'।

भारतीय नाट्य के तीन विधायक तत्त्व हैं—वस्तु, नेता और रस। धनंजय ने दशरूपकों का विवेचन इन्हीं तीनों तत्त्वों के मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत किया है। इनमें रस प्रमुख तत्त्व हैं और शेष वस्तु और नेता दोनों रसोपलब्धि के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। भारतीय नाटकों में समस्त विधियों एवं नाटकीय प्रपंचों का विनियोग रस के ही निमित्त होता है—**'रसप्राणो हि नाट्यविधिः'**। यहाँ नाटक का कोई भी अर्थ रस निरपेक्ष होकर चल नहीं सकता—

नहि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।[1]

वस्तु, नेता और रस इन तीनों तत्त्वों में अन्योन्याश्रय संबंध है। वस्तु एवं नेतृतत्त्व के सम्यक् स्फुटन के विना रस की निष्पत्ति संभव नहीं है और रसनिष्पत्ति के विना वस्तु स्वादहीन तथा नेता म्रियमाण सा हो जाता है। एक के विकृत होने पर शेष दोनों तत्त्व विकलांग प्रतीत होने लगते हैं। वस्तु एवं भाव का यह अपरिहार्य संबंध कला एवं प्रकृति का चिरंतन सत्य है और इन तत्त्वों के सम्यक् संतुलन के बिना

१. ना० शा०—षष्ठाध्याय—पृष्ठ ७१

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कोई भी श्रेष्ठ नाट्यकृति संभव नहीं हो सकती। भारतीय नाट्य-परम्परा में वस्तु एवं भाव के इस अपरिहार्य संबंध को संतुलित रखने के लिए पूरी तटस्थता एवं तल्लीनता बरतने की सलाह दी गई है। आचार्य धनंजय का अभिमत स्पष्ट है कि नाट्य में रसातिरेक के द्वारा न तो वस्तु का विच्छिन्न होना ही सह्य है और न तो वस्तु के चारुत्वोत्कर्ष द्वारा रस का सर्वथा तिरोभाव ही ग्राह्य है :—

न चाति रसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।
रसं वा न तिरोदध्यात् वस्त्वलंकारलक्षणैः[1] ॥

श्रव्य काव्य में रस एवं वस्तु का यह सम्बन्ध भले ही कुछ क्षुण्ण एवं क्षीण दिखायी पड़े किन्तु नाटक में इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। महाकवि कालिदास के मेघदूत में भावतत्त्व इतिवृत्त की परवाह किये बिना भी अपनी महिमा से उर्जस्वित् एवं श्रीसम्पन्न है। मेघदूत का इतिवृत्त यक्षप्रिया के समान अत्यन्त प्रतनु एवं सूक्ष्म है किन्तु उसकी भी उपेक्षाकर कवि भावतत्त्व के संपोषण में ही निरन्तर यत्नशील दिखाई देता है। मेघदूत का वैशिष्ट्य कहानी कहने में नहीं, बल्कि भावों के सफल संप्रेषण में है। किन्तु नाटक एक मूर्ति विधायिनी कला है। इसका स्वाभाविक आग्रह रूप की प्रतीति कराने में है। रूपहीन भाव अन्धा होता है और भावहीन रूप शून्य अथवा शव कहलाता है। अतः कोई भी नाटककार रूप एवं रस के इस सार्वभौम सत्य को तिरस्कृत कर कृतकार्य नहीं हो सकता।

भारतीय नाट्य-परम्परा में अंगीरस के रूप में शृङ्गार और वीर रस की प्रतिष्ठा अत्यन्त प्राचीन है।[2] जीवन और साहित्य के क्षेत्र में शृङ्गार की आकीट पतङ्ग सार्वभौम सत्ता एवं महत्ता इसका एकमात्र रहस्य है और जहाँ तक वीर रस का सम्बन्ध है वह सभी के लिये समान रूप से इष्ट एवं काम्य होने के कारण वरेण्य है। भारतीय नाटकों में कदाचित् इसी रहस्य के आधार पर शृङ्गार और वीर रस को अङ्गीरस के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। किन्तु शृङ्गार और वीर रस की यह मान्यता मनोवैज्ञानिक होते हुए भी रूढ़िमूलक ही है। इसमें प्रयोग एवं परम्परा का जितना प्रबल आग्रह दीख पड़ता है उतनी वास्तविकता नहीं। शृङ्गार और वीर रस के अतिरिक्त अन्य रसों को भी अंगीरस के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। विश्व साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है। शेक्सपीयर आज भी जिन नाटकीय उपलब्धियों के कारण विश्व साहित्य में वन्दनीय है उनमें शृङ्गार अथवा वीर रस का माहात्म्य कदाचित् नगण्य ही है। शेक्सपीयर की नाटकीय उपलब्धियों का बहुत बड़ा दायित्व उनकी करुण प्रधान नाट्य कृतियों पर ही है। अतएव

१. दश०—३।३२

२. सा० द०—एक एव भवेदंगी शृङ्गारो वीर एव वा।
षष्ठ परिच्छेद–छठीं कारिका।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शृङ्गार और वीर रस को अङ्गीरस घोषित कर शेष अन्य रसों को अयोग्य सिद्ध कर अङ्गीरस की सीमा से निकाल बाहर करना कदाचित् जीवन के कठोर सत्य से मुख मोड़ना है। वस्तुतः नाटकों में अङ्गीरस की प्रतिष्ठा का कलात्मक दायित्व नाटककार की प्रतिभा और व्युत्पत्ति पर ही निर्भर करता है। अगर ऐसी बात न होती तो 'उत्तररामचरितम्' जैसी नाट्य कृति सम्भव नहीं हो सकती थी। धनंजय ने शान्त रस को अनभिनेय मानकर उसे नाटक के लिए सर्वथा अयोग्य घोषित किया था।[1] किन्तु भारतीय नाट्य-परम्परा में कुछ ऐसे भी नाटक लिखे गये हैं जिसमें शान्त रस अङ्गभूत ही नहीं अङ्गीरस के रूप में भी प्रतिष्ठित है। रसगंगाधर में पण्डितराज जगन्नाथ ने अन्य रसों की भाँति शान्त रस को अभिनेय तथा नाटकों के लिए सर्वथा उपादेय सिद्ध किया है।[2] अतएव अङ्गीरस की मान्यता भारतीय नाट्य-परम्परा में एक देशीय ही मानी जाएगी।

रामायण और महाभारत भारतीय नाटकों के उपजीव्य आर्षग्रन्थ

जहाँ तक संस्कृत नाटकों की विषयवस्तु का सम्बन्ध है—वह बहुधा रामायण और महाभारत से ही ली गयी है। इसका कारण स्पष्ट है। रामायण और महाभारत भारतीय वाङ्मय के दो आर्षग्रन्थ हैं जिसमें भारतीय संस्कृति और जीवन दर्शन के सभी उच्चादर्शों का सम्यक् समावेश हुआ है। सदियों से इसने अपनी पीयूषवर्षिणी कथाओं एवं तपःपूत चरित्रों के द्वारा यहाँ के जाति जीवन को स्फूर्ति एवं प्रेरणा प्रदान किया है। आज भी यहाँ के सुदूरगाँवों में लोग रामायण एवं महाभारत की पुरानी कथाओं की भक्ति-भाव से श्रवण-मनन कर भाव-विभोर हो जाते हैं। यही कारण है कि यहाँ के कलाकारों ने साभिनिवेश रामायण और महाभारत को अपनी कला का उपजीव्य बनाया है। इससे उनका विषयदारिद्र्य या संकीर्णता किसी भी प्रकार नहीं आँकी जा सकती। बल्कि यह उनकी लोक-तन्त्रात्मक प्रवृत्ति, सार्वभौम रसज्ञता एवं आदर्शवादिता को ही सूचित करती है। तत्कालीन समाज की अभिरुचि को अपनी कला के माध्यम से सन्तुष्ट करने में यहाँ के कलाकारों ने अपना धर्म माना है। यही कारण है कि रामायण और महाभारत की कथाओं को उपजीव्य बनाने में यहाँ के कवियों एवं कलाकारों ने एक गौरव का अनुभव किया है।[3]

---

१. दश०—शममपि केचित् प्राहुर्पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।—४।३५

२. रसगंगाधर—जगन्नाथ, प्रथमानन—पृष्ठ ३६,—निर्णय सागर संस्करण १९४७

३. स्व सूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां,
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः।
यदेतैर्निःशेषैरपरगुणलुब्धैरिव जग-
त्यसावेकश्चक्रे सततसुखसंवासवसतिः॥ —प्रसन्नराघव की प्रस्तावना।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रामायण और महाभारत की सदियों पुरानी एवं जानी-पहचानी कथाओं को उपजीव्य बनाने का रहस्य उसके औचित्य एवं औदात्य में निहित है और साथ ही उसका एक मनोवैज्ञानिक मूल्य भी है। जब नाटककार यह जान लेता है कि उसकी कथावस्तु से सामाजिक दर्शक वृन्द भलीभाँति परिचित हैं तो वह 'कहानी कहने' के श्रम से बहुत हद तक बच जाता है और इस श्रम से अवकाश पाकर वह अपना ध्यान घटनाओं की मार्मिकता तथा चरित्रों के वैयक्तिक मनोविश्लेषण पर केन्द्रित करता है।[1] किसी नयी कहानी को प्रस्तुत करने में नाटककार की प्रधान चिन्ता यही रहती है कि उसके दर्शक वृन्द अपरिचित इतिवृत्त की शृङ्खला में कहीं उलझ न जाय, फलतः अपनी कहानी कला के इस विशिष्ट प्रतिबन्ध में रहकर वह अपने विचारों को मूर्त रूप नहीं दे पाता वह कथानक के निर्माण तथा उसकी प्रभावान्विति की ही नाटकीय लक्ष्य की इयत्ता समझ लेता है। किन्तु रामायण महाभारत की चिर परिचित कथाओं में दर्शकों को कथासूत्र पकड़ने में कठिनाई नहीं होती, फलतः नाटककार कथा निर्माण के श्रम से बचकर उसके मर्मस्थल के विकास में तथा पात्रों के चारित्रिक मूल्यांकन में अधिक दत्तचित्त होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो रामायण और महाभारत की कथाओं को उपजीव्य बनाकर दर्जनों नाटक नहीं लिखे जाते। उत्तररामचरित और शाकुन्तल की ऐतिहासिक रचना सम्भव नहीं हो पाती।

जहाँ तक संस्कृत नाटकों की मूल प्रकृति का सम्बन्ध है वह आद्यन्त काव्यमयी है। नाटक काव्य का ही अन्यतम रूप है। "नाटकान्तं कवित्वम्" के अनुसार काव्यकला का चरम उत्कर्ष नाटकों में ही प्रतिफलित होता है अतः भारतीय नाट्य परम्परा संस्कृत की सामान्य काव्यधारा से सदा ओतप्रोत रही है। अरस्तू ने भी नाटक एवं काव्य की मूल प्रकृति में कोई भेद नहीं माना है। इनके अनुसार यदि दोनों में कुछ भेद है भी तो वश इतना ही, कि काव्य अनुकरण वर्णन द्वारा संघटित होता है और नाटक में कवि अपने पात्रों को जीते जागते, चलते फिरते चित्रित करता है[2]। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि भारत में काव्य शास्त्रियों ने श्रव्य काव्य के लिए अनुकरण सिद्धान्त को ऐसी व्यापक मान्यता कभी नहीं प्रदान की। अवश्य ही नाटक के क्षेत्र में अनुकरणवाद को कुछ मान्यता मिली है, किन्तु वहाँ भी उसका सम्बन्ध नटकर्म अर्थात् अभिनय से ही अभीष्ट है। कवि कर्म से नहीं। कवि प्रतिभा कारयित्री होती है, अनुकारयित्री नहीं, और काव्य उसका करण होता है, अनुकरण नहीं[3]।

१. मास्टर्स ऑफ यूरोपियन ड्रामा—जान एलेन-लन्दन-११६२
२. अरिस्टोटल थियरी ऑफ पोयट्री एण्ड फाइन आर्ट्स—प्रो० ए० बुचर-पृष्ठ-१३
३. अरस्तू का काव्यशास्त्र—डॉ० नागेन्द्र-पृ० १९

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दृश्य एवं श्रव्य के रचनातन्त्र तथा शैलीशिल्पों में चाहे जितनी भी भिन्नता हो, किन्तु दोनों की मूल प्रकृति (आत्मा) एक ही है। शेक्सपीयर, पोलियर आदि नाटककारों की नाट्यकला का उत्कृष्ट रूप वहाँ ही दिखाई देता है जहाँ वे जीवन व्यापार के किसी मार्मिक पहलू पर काव्यमयी भाषा में अपने अंतस् को अभिव्यंजित करते हैं। कालिदास, भवभूति आदि महान नाटककारों की नाट्यौपलब्धियाँ भी इसी प्रकार की हैं। उनके नाटकों के उत्तमांश उनकी काव्य प्रतिभा की उज्ज्वल विभूति है। श्रव्य काव्यों में तो कविता का रस सौन्दर्य एवं भावमाधुर्य सुतरां सिद्ध ही है, किन्तु वही कविता जब नाटकीय परिवेश में मंच पर अवतरित होती है तो उसकी संप्रेषणीयता, प्रभावोत्पादकता तथा आह्लादात्मकता सतगुणी हो जाती है। श्रव्य काव्य की भाव धारा में हम कल्पना के द्वारा ही निमज्जित होते हैं, किन्तु दृश्य में वही भाव मूर्त्त रूप धारण कर हमारे तन, मन, प्राण को आप्यायित कर देता है। कदाचित् इसीलिए भारतीय नाटकों की अन्तः प्रकृति में काव्य का माधुर्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता है। फिर भी विशुद्ध महाकवि एवं विशुद्ध नाटककार की प्रतिभा में कुछ मौलिक अन्तर होता है जो दोनों को पृथक् अस्तित्व एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करता है। उत्कृष्ट महाकाव्य लिखना कुछ और बात है और उत्कृष्ट नाटकों का निबन्धन-कुछ और ही। कोई आवश्यक नहीं कि महाकाव्यों के प्रणयन में सिद्धहस्त कवि दृश्य काव्य के निबन्धन में भी कुशल कलाकार सिद्ध हो सके। श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य कवि की कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा की महत्तम चेतना का अलौकिक परिणाम है। दृश्य काव्य में श्रव्य काव्यों की समग्र उपलब्धियों का सार संकलन एकत्र मिल जाता है। किन्तु साथ ही इसकी रचना तन्त्र तथा शैलीशिल्प सम्बन्धी कुछ निजी विशेषताएँ भी होती हैं जो इन्हें नाटकेतर काव्य रूपों से पृथक् सिद्ध करती हैं। फिर भी भारतीय नाट्य रूपों के अध्ययन में काव्य तत्व की अपरिहार्यता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

संस्कृत नाटकों की मूल प्रकृति सदा मांगलिक एवं आदर्शोन्मुख ही रही है। भारतीय आचार-विचार तथा जीवन दर्शन का मांगलिक प्रभाव यहाँ के कला साहित्य पर स्पष्टतः अंकित है। भरतमुनि ने नाट्यकला की उत्पत्ति चारों वेदों से मानी है और इसे एक "सार्ववर्णिक पंचम नाट्य वेद" की संज्ञा से अभिहित किया है[1]। इसमें वेदों की सर्व स्वीकृत मर्यादाओं के अतिरिक्त सभी मांगलिक विधियों एवं आध्यात्मिक शक्तियों का समावेश हुआ है। इसका प्रयोजन केवल श्रान्त क्लान्त मानव मन का रंजन ही नहीं बल्कि लोकोपदेश जनन एवं रसोद्बोधन

१. ना० शा०—तस्मात् सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम्-१।१२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी है[1]। इस प्रकार यहाँ की नाट्य कला की उत्पत्ति के साथ ही मांगलिक विधियों की कल्पना अनुस्यूत दिखाई पड़ती है। इसीलिए संस्कृत नाटकों का प्रारम्भ और अवसान अत्यन्त प्रभुविष्णु, उत्सवपूर्ण तथा मांगलिक दिखाई देता है। नाटक के आदि और अन्त में प्रयुक्त नान्दी तथा भरतवाक्य की अपरिहार्य योजना यहाँ के जाति जीवन की शान्ति, उल्लास एवं कल्याण की व्यापक भावना को ही सूचित करती है। यही कारण है कि भारतीय नाट्य साहित्य की सुदीर्घ विकास परम्परा में उसके आदर्शवादी दृष्टिकोण में कभी कोई विकृति नहीं आई, कभी किसी ऐसे नग्न यथार्थ का प्रत्यक्ष चित्रण नहीं हुआ जो सत्य होकर भी असुन्दर हो, सुन्दर होकर भी अशिव हो तथा शिवम् होकर भी कुत्सित हो। यहाँ जीवन का वही यथार्थ वरेण्य है जो मानव मन को अन्न से आनन्द की ओर प्रेरित कर सकने में पूर्ण समर्थ हो सके।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यहाँ के नाटकों की आदर्शवादी प्रकृति में सत्य एवं यथार्थ का, दुःख एवं द्वन्द्व का, पतन एवं पराजय का सफल चित्रण हुआ ही नहीं। शाकुन्तल के पञ्चम अंक तथा उत्तरचरित के तृतीय अंक से अधिक एवं मानसिक द्वन्द्वों का उत्कृष्ट चित्रण अन्यत्र और कहाँ मिलेगा। किन्तु भारतीय नाटककारों की आदर्शोन्मुखी दृष्टि वहीं नहीं रुक जाती वल्कि उससे बहुत ऊपर उठकर उन्होंने अन्न से आनन्दमय कोष में सोल्लास प्रवेश कर अमृतत्व का शंसन किया है, जो निसन्देह भारतीय काव्य साधना की एक महत्तम उपलब्धि है। यद्यपि इस दुःख बहुल संसार में दुःख एवं द्वन्द्व का अत्यन्ताभाव न तो संभव है और न काव्य ही, इसलिए संस्कृत नाटकों में भी दुःख एवं द्वन्द्व का ताप एवं संघर्ष का, घृणा एवं उत्पीड़न का प्रकाम चित्रण हुआ है किन्तु उसे अनावश्यक महत्व कभी नहीं दिया गया। यहाँ दुःख एवं द्वन्द्व का महत्त्व केवल इतना ही है कि वह जीवन-यात्री को अपने कर्तव्य पथ पर सतत आरूढ़ बनाये रखे। उसकी श्रान्ति एवं भ्रान्ति को दूर कर उसके पौरुष की ज्योति को सदा उद्दीप्त रखे, और पुनः गन्तव्य की प्राप्ति के बाद उसे जीवन रस के सात्विक आनन्द को छककर पान करा सके।

भारतीय साहित्य में सर्वत्र ही आशावाद का शक्तिशाली स्वर सुनाई पड़ता है। यही कारण है कि यहाँ के नाटक सुखान्त ही देखे जाते हैं। इसे जीवन की यथार्थता को दूर समझकर एक देशीय एवं ऐकान्तिक नहीं कहा जा सकता। यह भारतीय जीवन दर्शन की एक मौलिक उपलब्धि है। संघर्षशील जीवन विपत्ति के व्यूह से निरन्तर लड़ता हुआ अन्त में सफलता के सोम शिखर पर आरूढ़ होता है।

१. ना० शा०—धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥ १।११२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यही यहाँ के साहित्य एवं जीवन का गन्तव्य और मन्तव्य है। पच्छिम के नाटकों में जिस प्रकार किसी महापुरुष के जीवन का कारुणिक अन्त दिखाकर दर्शकों के मन मानस में त्रास एवं करुणा के दाहक प्रभाव को उत्पन्न कराया जाता है—उस प्रकार के दृश्यों एवं परिणामों की उपलब्धि यहाँ कथमपि संभव नहीं। यहाँ का पुरुषार्थ-वादी जीवन दर्शन इस प्रकार की संभावनाओं का आद्यन्त विरोधी रहा है। यहाँ साहित्य का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ ही सामूहिक जीवन का कल्याण है। **"सद्यः पर-निर्वृतये"** के अतिरिक्त **"शिवेतरक्षतये"** भी इसके प्रयोजन हैं[1]—अतः यहाँ के नाटकों में ऐसे तत्त्वों को कभी प्रश्रय नहीं दिया गया जो शिवेतर एवं पुरुषार्थ विरोधी हो। ऐसे दृश्य प्रायः यहाँ के नाटकों में उह्य एवं सूच्य ही माने गये हैं[2]। यहाँ के नाटकों की सुखान्त प्रकृति भी मात्र लक्षण ग्रन्थों का अनुवर्त्तन नहीं बल्कि नाटककारों की संस्कार स्नात प्रतिभा की तपःपूत परिणति है। इस प्रकार भारतीय साहित्य का प्रत्येक अंग पुरुषार्थ चतुष्टय की चिन्मय ज्योति से उद्दीप्त एवं भास्वर है।

१. का० प्र०—काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये,
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे। मम्मट—१।२

२. दश०— नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः॥ धनंजय—१।५७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय २

भवभूति का इतिवृत्त, व्यक्तित्व और कृतित्व

नाटककार भवभूति

महाकवि भवभूति भारतीय नाट्य साहित्य के महाप्राण कवि एवं यशस्वी नाटककार हैं। महामहोपाध्याय डॉ० काणे के शब्दों में भवभूति भारतीय नाट्य साहित्य के आकाश में सर्वाधिक देदीप्यमान नक्षत्रों में से एक हैं[1]। यों कुछ मुक्तक पद भी इनके नाम से यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं जो इनकी अलोक सामान्य प्रतिभा के उज्ज्वल प्रमाण हैं, फिर भी ये भारतीय साहित्य में मूलतः तीन नाटकों के अमर कलाकार के रूप में ही जाने पहचाने जाते हैं—वे तीन नाट्य ग्रन्थ हैं—महावीरचरितम्, मालतीमाधवम् और उत्तररामचरितम्। इनमें इनका "उत्तररामचरितम्" विश्व नाट्य साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में से एक है। भवभूति की नाट्यकला कीर्त्ति का गौरव-स्तम्भ भी यही है। इनका प्रौढ़ व्यक्तित्व, प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा जीवन-दर्शन इनकी नाट्य कृतियों में पूर्णरूपेण प्रतिफलित हुए हैं। भवभूति के महाप्राण व्यक्तित्व में गतानुगतिकता का कोई प्रबल आग्रह नहीं दीखता। अतीत के उज्ज्वल उपयोगी तत्त्वों में सज्ञान आस्था रखते हुए आशा एवं विश्वास के साथ गतिशील रहकर इन्होंने सर्वत्र अपनी प्रतिभा की पवित्र किरणें बिखेरी हैं। ये किसी राजमार्ग पर, आँख मूँदकर चलने वाले कलाकार नहीं बल्कि ये ऐसे नरवरों में हैं जो अपने मार्ग का निर्माण स्वयं किया करते हैं। जीवनभर सामाजिक आलोचनाओं एवं कुण्ठाओं का गरल घूँट पीकर भी इस नीलकण्ठ ने जो जीवन और साहित्य को अमृत का दान दिया वह आज भी मानव जाति की कल्याण सिद्धि में पूर्ण समर्थ है। विद्वानों का कथन है कि इन्हें अपने साहित्यिक जीवन के प्रथम चरण में पण्डितों की कटु समालोचना का शिकार होना पड़ा था, किन्तु इससे कला के प्रति इनकी आस्था कभी क्षीण एवं क्षुण्ण नहीं हुई बल्कि वह उत्तरोत्तर दृढ़तर भी होती दिखाई देती है। उन सामाजिक एवं साहित्यिक समालोचना के प्रति जो इन्होंने अपनी सात्विक प्रतिक्रिया प्रकट की है वह इनके गौरवपूर्ण व्यक्तित्व, क्रान्तिकारी दृष्टिकोण तथा प्रचण्ड पाण्डित्य का प्रतिनिधि स्वर है।

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।

---

१. उ० च० की प्रस्तावना—म० म० काणे—चतुर्थ संस्करण—पृ० १

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उत्पस्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्ययंनिरवधिर्विपुला च पृथ्वी[1] ॥

इस पद्य में उनका गम्भीर आशावाद तथा जीवन और साहित्य के प्रति आत्यन्तिक निष्ठा का क्रान्तिकारी स्वर गुंजित हो उठा है।

महाकवि वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के बाद कदाचित् भवभूति ही ऐसे प्रतिभापूत महाकवि नजर आते हैं जिन्होंने अपनी अलौकिक साहित्य साधना के द्वारा भारतीय संस्कृति और साहित्य को एक नया आदर्श तथा नयी व्याख्या प्रदान की है। सदियों से आती हुई संस्कृत नाट्य परम्परा को इन्होंने एक नयी शैली और शक्ति प्रदान कर उसे एक नये क्षितिज की ओर उन्मुख किया। प्रायः सभी परवर्ती नाटककार और कवि इनकी उदात्त कला से प्रभावित हुए हैं—किन्तु फिर भी यह दूसरी बात है कि भवभूति के चरण-चिन्हों पर चलते हुए भी कोई इनकी ऊँचाई को नहीं छू सका। जीवन एवं साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने जो आदर्श मानदण्ड स्थापित कर दिया वह आज भी अप्रतिम एवं सर्वश्लाघ्य है। "नाटकान्तं कवित्वम्" का चूड़ान्त उत्कर्ष महाकवि कालिदास के बाद भवभूति के उ० च० में ही उपलब्ध होता है। कालिदास जैसे रससिद्ध महाकवि तथा कृती नाटककार के समकक्ष अगर किसी नाटककार की गणना हो सकती है तो वह महाकवि भवभूति ही है। डॉ० एस० के० डे० की सम्मति में भवभूति नाटककारों की वृहत्त्रयी में क्रमानुसार अन्तिम होते हुए भी प्रयोग एवं उपलब्धि की दृष्टि से कालिदास के बाद ही स्मरण किये जाते हैं[2]। विद्वानों ने इन दो महान् नाटककारों का तुलनात्मक अध्ययन व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। स्वर्गीय श्री डी० एल० राय के अनुसार "विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भाव की तरंग क्रीड़ा में, भाषा के गाम्भीर्य तथा हृदय के माहात्म्य में भवभूति का उ० च० महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल से भी श्रेष्ठ है[3]।" समालोचकों का एक बहुत बड़ा वर्ग प्राचीन काल से ही भवभूति के उ० च० को कालिदास के शाकुन्तल से श्रेष्ठ मानता आ रहा है—"कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते", "उत्तरेरामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते" आदि शिष्ट वचन इसी प्राचीन आलोचना सिन्धु के उज्ज्वल रत्न हैं। निःसन्देह भवभूति सिद्ध सारस्वत कवि थे। संस्कृत भाषा पर उनका अनन्य साधारण अधिकार था और इसका इन्हें वास्तविक गौरव भी है[4]। भवभूति ने अपने परिचय में जिन तपःपूत विशेषणों का प्रयोग

१. मा० मा०—१।६
२. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर (क्लासिकल पीरिअड) भाग १
३. कालिदास और भवभूति—डी० एल० राय—पृ० १६२
४ म० च०—वश्यवाचः कवेर्वाक्यं सा च रामाश्रया कथा—१।४
उ० च०—यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्त्तते—१।४

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किया है वे उनके अप्रतिम व्यक्तित्व, असाधारण पाण्डित्य तथा अपरिमित काव्य शक्ति के परिचायक हैं। इन्होंने अपने को जो पदवाक्यप्रमाणज्ञ, पूर्णप्रज्ञ तथा वश्यवाक् कहा है,[1] वह उनकी प्रतिभा एवं पाण्डित्य का मिथ्या डिण्डिमघोष नहीं, बल्कि उनके स्वाध्यायपूत व्यक्तित्व, उदात्तशील एवं अपरिमित काव्यशक्ति का सात्त्विक जयघोष है। निःसन्देह भवभूति तथा उनकी अमर नाट्यकृति भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के गौरव स्तम्भ हैं।

सामान्य परिचय

सामान्यतः संस्कृत के प्रायः सभी प्राचीन आचार्य अपने विषय में मौन ही दीखते हैं। अपने देश-काल का परिचय देना वे कदाचित् शिष्टाचार के विरुद्ध समझते थे। यद्यपि विद्वानों ने उनकी कृतियों, तत्कालीन शिलालेखों एवं अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर इन आचार्यों के देश-काल सम्बन्धी तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने का स्तुत्य प्रयास किया है, फिर भी भास-कालिदास आदि महाकवियों के देश-काल निर्णय में कई शताब्दियों का अन्तर पड़ जाता है। समस्त संस्कृत साहित्य में कदाचित् बाणभट्ट ही ऐसे युगान्तरकारी आचार्य दीखते हैं जिन्होंने अपना जीवनवृत्त सुव्यवस्थित रूप से लिखा है और साथ ही कुछ ऐसे कीर्त्तिशेष महाकवियों का भी परिचय देने की कृपा की है जिनकी कृतियाँ आज अनुपलब्ध हैं और वे यत्र तत्र उद्धरण के रूप में ही नामशेष होकर जी रहे हैं। बाणभट्ट के बाद संभवतः भवभूति ही ऐसे दूसरे कवि हैं जिन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में अपने विषय में सामान्य रूप से कुछ संकेत देने की कृपा की है। यही कारण है कि इनके देश काल के सम्बन्ध में प्रायः सभी स्वदेशी एवं विदेशी विद्वान् बहुत कुछ एकमत दिखाई देते हैं।

भवभूति ने अपने तीनों नाटकों की प्रस्तावना में न्यूनाधिक रूप से अपने विषय में कुछ संकेत किया है। इनमें सबसे अधिक महावीर चरित में, उससे कम मालतीमाधव में तथा सबसे कम उ० च० में प्राप्त होता है। इसके आधार पर भवभूति के जीवनवृत तथा देशकाल सम्बन्धी जिन तथ्यों का पता मिलता है वह इस प्रकार है :—

अस्ति दक्षिणापथे विदर्भेषु पद्मपुरं नाम नगरम्। तत्र केचित् तैत्तिरीयिणः काश्यपाश्चरणगुरवः पंक्तिपावनाः पञ्चाग्नयो धृतव्रताः सोमपीथिन उदुम्बरनामानो ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति। तदामुष्यायणस्य तत्रभवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः

१. उ० च०—अस्ति खलु तत्रभवान्काश्यपः श्रीकण्ठपदलांछनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतुकर्णीपुत्रः। प्रस्तावना, पृष्ठ १३ शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणी-मिमाम्। भरतवाक्य—पृ० ५१०

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पंचमः सुगृहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्त्तेर्नीलकण्ठस्य आत्मसंभवः श्रीकण्ठ-पदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतूकर्णीपुत्रः कविर्मित्रधैयमस्माकमित्यत्र भवन्तो विदाङ्कुर्वन्तु[1]।

अर्थात् भवभूति के पूर्वज दक्षिणापथ में स्थित विदर्भ देश के पद्मपुर गाँव में निवास करते थे। उनका गोत्र काश्यप था तथा कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तरीय शाखा के अनुयायी थे। वे पंचाग्नियों का आधान करने वाले तथा सौमयज्ञ करने वाले ब्रह्मवेत्ता थे। उदुम्बर इनकी उपाधि थी। उनकी पाँचवी पीढी पूर्व किसी महाकवि ने वाजपेय यज्ञ भी किया था। भवभूति के पितामह का नाम भट्टगोपाल तथा पिता का नाम नीलकण्ठ था। इनकी माता का नाम जतुकर्णी था और इनका नाम 'श्रीकण्ठ-पदलाञ्छन भवभूति' था। इनके गुरु कोई ज्ञाननिधि थे जो परमहंसो में अग्रगण्य थे। भवभूति ने अपने पूर्वजों के गुण कीर्तन में जिन तपःपूत विशेषणों का प्रयोग किया है उनसे स्पष्ट है कि उनका वंश एवं परिवार वैदिक आचार-विचार, यज्ञानुष्ठान तथा ब्रह्मविद्या के अध्ययन-आध्यापन का केन्द्र था। अतएव भवभूति भी अपनी उज्ज्वल वंश परम्परा के अनुकूल ही व्याकरण, न्याय मीमांसा, आदि शास्त्रों में पूर्ण निष्णात थे। यही परिचय न्यूनाधिक रूप से मा० मा० तथा उ० च० में भी मिलता है।

श्रीकण्ठ और भवभूति नामों की परीक्षा

भवभूति का वास्तविक नाम क्या था—इस विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। उनके सभी नाटकों में 'श्रीकण्ठपदलाञ्छनः भवभूतिर्नाम' ऐसा वाक्यखण्ड मिलता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि महाकवि का वास्तविक नाम क्या था—भवभूति या श्रीकण्ठ? 'भवभूतिर्नाम' इस वाक्यखण्ड से तो प्रतीत होता है कि कवि का विश्व-विश्रुत नाम 'भवभूति' ही था और 'श्रीकण्ठ' इनकी उपाधि रही होगी। परवर्ती ग्रन्थों में भी सर्वत्र भवभूति नाम का ही उल्लेख मिलता है—कहीं भी श्रीकण्ठ नाम का उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह प्रतीत होता है कि इनका वास्तविक नाम भवभूति ही था और श्रीकण्ठ इनकी उपाधि थी। किन्तु भवभूति के टीकाकार इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। उ० च० पर टीका लिखते हुए वीरराघव लिखते हैं कि भवभूति का पैतृक नाम श्रीकण्ठ ही था, किन्तु एक विशिष्ट पद्य रचना के कारण इनका नाम 'भवभूति' पड़ गया :—

श्रीकण्ठपदलांछनः पितृकृतनामेदम्। भवभूतिर्नाम 'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्र-मूर्त्ति, 'इति श्लोकरचना संतुष्टेन राज्ञा भवभूतिरिति ख्यापितः[2]।'

---

१. म० च० की प्रस्तावना, पृ० २

२. उ० च० पर वीरराघव की टीका–पृ० ५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मालतीमाधव के प्रसिद्ध टीकाकार जगद्धर की सम्मति में भी कवि का वास्तविक नाम 'श्रीकण्ठ' ही था किन्तु आगे चलकर वे भवभूति नाम से ही प्रसिद्ध हो गये—**'नाम्ना श्रीकण्ठः प्रसिद्ध्या भवभूतिरित्यर्थः'**[1]।

विद्वानों का अभिमत

इस प्रकार भवभूति के प्रायः सभी टीकाकारों का यही निष्कर्ष है कि कवि का वास्तविक नाम श्रीकण्ठ ही था और 'भवभूति' उनका साहित्यिक उपनाम था। किन्तु म० म० पी० वी० काणे महाशय का कहना है कि टीकाकारों का यह मत किसी निश्चित परंपरा एवं प्रमाण पर अवलम्बित न होकर सिर्फ कल्पनाओं पर ही आश्रित है—अतः इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता[2]। किन्तु इन टीकाकारों के निष्कर्ष को सहसा अस्वीकार करना भी सरल नहीं है। क्योंकि कवि का पैतृक नाम 'श्रीकण्ठ' था और 'भवभूति' उपनाम था—इसमें प्रायः सभी टीकाकार एक मत हैं। डा० वेल्वल्कर प्रभृति विद्वानों ने टीकाकारों के व्याख्यानों को ही प्रामाण्य मानकर कवि के श्रीकण्ठ इस पैतृक नाम का समर्थन किया है। 'भवभूतिर्नाम' इस वाक्यखण्ड में प्रसिद्धिज्ञापक 'नाम' अव्यय भी भवभूति की लोक-प्रसिद्धि को ही व्यक्त करता है। संस्कृत साहित्य में बहुत ही ऐसे स्वनामधन्य कवि हो गये हैं जो किसी विशेष पदरचना के कारण एक विशेष नाम से आज भी अमर हैं।

महाकवि कालिदास 'दीपशिखा' की उपाधि से, तो भारवि 'आतपत्रभारवि' की संज्ञा से और महाकविमाघ 'घंटापथमाघ' के नाक से आज भी लोक और साहित्य में सर्वत्र जाने पहचाने जाते हैं। किन्तु वह स्वनामधन्य पद्य कौन सा है जिसके प्रताप से कवि आगे चलकर 'भवभूति' नाम से अमर हुए? आर्यासप्तशती के टीकाकार अनन्त पण्डित ने लिखा है **'गिरिजायाः कुचौ वन्दे भवभूतिसिताननौ'** इस पद्य विशेष के कारण कवि का नाम भवभूति हो गया[3]। उ० च० के प्रसिद्ध टीकाकार वीरराघव के अनुसार 'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः' इस पद्य विशेष के कारण कवि का नाम भवभूति पड़ गया[4]। किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि :—

कां तपस्वीगतोऽवस्थामिति स्मेराविव स्तनौ।
वन्दे गौरीघनाश्लेष भवभूतिसिताननौ॥

इस विशिष्ट पद्य की रचना के कारण कवि भवभति के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार कई मत साहित्य संसार में दिखाई देते हैं किन्तु इतना तो निश्चित है कि

१. मा० मा० पर जगद्धर की टीका—पृ० ४
२. म० म० काणेकृत उ० च० की प्रस्तावना—पृ० ४
३. आर्यासप्तशती—१।३९ की टीका
४. उ० च० पर वीरराघव की टीका—पृ० ५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

माँ पार्वती की स्तुति में लिखे गये उपर्युक्त श्लोकों के आधार पर ही आलोचकों ने कवि श्रीकण्ठ को 'भवभूति' की उपाधि से विभूषित किया। उ० च० के टीकाकार घनश्याम ने भवभूति शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि भगवान् शंकर से वाग्विभूति प्राप्तकर ही कवि पीछे भवभूति के नाम से विख्यात हुए।

'भवात् शिवात् भूतिः भस्मसम्पत् यस्य। ईश्वरेणैव जातु द्विजरूपेण विभूतिर्दत्ता, तदाप्रभृतिभवभूतिरिति प्रसिद्धो जातः इति च परावरविदो विदन्ति[1]।'

अस्तु, उपर्युक्त व्याख्यान के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि कवि का पैतृक नाम श्रीकण्ठ था और भवभूति उनका साहित्यिक उपनाम था। हिन्दु परिवार में नामकरण संस्कार का एक विशिष्ट सांस्कृतिक महत्त्व है। आज भी पुत्र के नाम में पिता के नाम की आंशिक ध्वनि तथा वांशिक अनुकृति सर्वत्र सुनाई पड़ती है। भवभूति के पिता का नाम 'नीलकण्ठ' था, अतः यदि उन्होंने अपनी वैदिक वंश परम्परा के अनुकूल अपने पुत्र का नामकरण 'श्रीकण्ठ' भी किया हो तो इसमें कोई अस्वाभाविकता नजर नहीं आती। अतएव भवभूति के पिता का 'नीलकण्ठ' नाम कवि के 'श्रीकण्ठ' इस पैतृक नाम की सम्भावना को ही सिद्ध करता है। अतः यहाँ यही स्वीकार करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि इनका पैतृक नाम 'श्रीकण्ठ' ही था और आगे चलकर वे किसी विशिष्ट पद्य रचना के कारण साहित्य संसार में भवभूति के नाम से अमर हुए।

भवभूति और उम्बेक की अभिन्नता

इसके अतिरिक्त नाटककार भवभूति तथा प्रचण्ड मीमांसक उम्बेक की एकता का प्रश्न भी साहित्यिकों के विवाद का विषय बना हुआ है। सर्वप्रथम पण्डित शंकर पाण्डुरंग ने 'गउडवहो' की भूमिका में इस प्रश्न की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। इन्हें मालतीमाधव का ५०० वर्ष प्राचीन एक हस्तलेख प्राप्त हुआ था जिसके षष्ट अङ्क की समाप्ति में इसे उम्बेककृत बताया गया है। वहाँ उम्बेक का विशेषण **'श्रीकुमारिलस्वामिप्रसादप्राप्तवाग्वैभवः'** दिया गया है। साथ ही उस हस्तलेख के तृतीय अंक के अन्त में उसे कुमारिल के शिष्य द्वारा रचित भी बताया गया है **'इति भट्टकुमारिलशिष्यकृते मालतीमाधवे तृतीयोऽङ्कः।'** इसका तात्पर्य यह हुआ कि भवभूति और उम्बेक एक ही व्यक्ति के दो नाम थे और वे भट्टकुमारिल के शिष्य थे। उम्बेक और भवभूति के अभिन्न होने का एक और प्रमाण उम्बेक की तात्पर्य टीका के प्रारम्भ में उद्धृत मालतीमाधव का यह प्रसिद्ध श्लोक है :—

---

१. उ० च० पर घनश्याम की टीका—पृ० ४

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैषयत्नः ।
उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी[1] ॥

भवभूति के पद्यों की पुनरावृत्ति उनके अन्य ग्रन्थों में भी शक्य एवं संभव मानकर विद्वानों ने दोनों की अभिन्नता स्वीकार की है।

चित्सुखाचार्य और प्रत्यग्रूप भगवान् के मतों का साक्ष्य

इसके अतिरिक्त और भी कई दार्शनिक ग्रन्थों में भवभूति और उम्बेक की अभिन्नता के साधक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। चित्सुखाचार्य ने अपनी तत्त्वप्रदीपिका टीका में दोनों को एक ही व्यक्ति माना है। तत्त्वप्रदीपिका का वह अंश इस प्रकार है—'तस्माच्छास्त्रं शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टे बुद्धिरिति लक्षणमलक्षणम्। तथा आप्तवाक्यं शब्दप्रमाणमिति नैयायिकानामपि।

आप्तोदीरितवाक्येषु मालतीमाधवादिषु ।
व्यभिचारान्न तद्युक्तमाप्तत्वास्यानिरुक्तितः ॥

स्वकपोलकल्पितमालतीमाधवादिवाक्येषु प्रमाण्याभावादतिव्याप्तिः। नहि पुरा आप्त एव सन् नाटकनाटकादिप्रबन्धविरचनमात्रेणाप्तो भवति भवभूतिः। उक्तं चैतदुम्बेकेन—"यदाप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थविषयं वाक्यं प्रयोक्तव्यम्। यथा अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति। तत्रार्थव्यभिचारः स्फुटः[2]।"

यहाँ चित्सुखाचार्य ने आप्तोदीरित शब्दों के प्रामाण्य में अतिव्याप्ति दोष दिखाया है। उनका कहना है कि शास्त्र निर्माता होने से भवभूति आप्त हैं, किन्तु मालती-माधवादि नाटकों के स्वकपोलकल्पित वाक्य आप्तवचन नहीं माने जा सकते, चित्सुखाचार्य कहते हैं कि यही मत उम्बेक का भी है। यहाँ यद्यपि भवभूति और उम्बेक की अभिन्नता प्रत्यक्षतः उक्त नहीं है, फिर भी चित्सुखी की तत्त्वप्रदीपिका के ऊपर प्रत्यग्रूप भगवान् की "नयनप्रसादिनी टीका से दोनों की अभिन्नता प्रतिपादित हो जाती है। प्रत्यग्रूप भगवान् ने स्वीकार किया है कि—"भवभूतिरुम्बेकः। एतदेव ग्रन्थान्तरस्थेन तद्वचनेन संमतयति उक्तं चैतदिति[3]।"

जहाँ तक उम्बेक के मीमांसक होने की बात है वह अन्य ग्रन्थों से भी सिद्ध होता है। हरिभद्र सूरि के षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार गुणरत्न जैन ने उम्बेक को कारिका का वेत्ता कहा है :—

---

१. मा० मा०-१।६
२. चित्सुखी-तत्त्वप्रदीपिका टीका—निर्णयसागर संस्करण—पृ० २६५ (१९१५ ई०)
३. द्रष्टव्य—पं० बलदेव उपाध्याय कृत—संस्कृत सुकवि समीक्षा—पृ० ३२०-३२१

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ओम्बेकः कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किंचिदपि रेवणः[1] ॥

निश्चय ही यहाँ कारिका से कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्त्तिक का ही तात्पर्य है। क्योंकि उम्बेक कुमारिल के श्लोकवार्तिक के मान्य व्याख्याकार हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है कि शंकर पाण्डुरंग को प्राप्त मालतीमाधव के ५०० वर्ष प्राचीन हस्तलेख में उसे "कुमारिल शिष्य उम्बेककृत" बताया गया है। उससे यही सिद्ध होता है कि नाटककार भवभूति और श्लोकवार्तिक के टीकाकार "उम्बेक" दोनों एक ही व्यक्ति थे। परन्तु इस विषय पर अद्यावधि अनुसन्धित्सुओं के निष्कर्ष एक नहीं हो सके हैं। श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री भवभूति और उम्बेक को एक ही व्यक्ति मानते प्रतीत होते हैं[2]। म० म० डॉ० काणे महोदय ने उत्तरचरित की भूमिका में तथा अन्यत्र भी अनेक साधक बाधक प्रमाणों के आधार पर भवभूति और उम्बेक दोनों को एक ही व्यक्ति माना है[3]। परन्तु भवभूति और उम्बेक की अभिन्नता के विरोध में भी कुछ विद्वानों ने आपत्तियाँ उठाई हैं। इस प्रसंग में डा० कुन्हन राजा तथा म० म० डा० मिराशी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। डा० कुन्हन राजा ने नाटककार भवभूति तथा मीमांसक उम्बेक की अभिन्नता का खण्डन इस आधार पर किया है कि भवभूति में मीमांसा के प्रति कोई प्रबल आग्रह नहीं है उनका विशेष आग्रह वेदान्त पर है[4]। किन्तु राजा साहब का यह तर्क सहज समाधेय है। भवभूति ने स्वयं अपने को पूर्ण प्रज्ञ तथा पदवाक्य-प्रमाणज्ञ कहा है। वाक्य का अर्थ मीमांसा ही माना गया है। इसके अतिरिक्त भवभूति ने अपने पूर्वजों के गुणकीर्त्तन में जिन विशेषणों का प्रयोग किया है उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भवभूति का वंश एवं परिवार वैदिक कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मविद्या के अध्ययन-अध्यापन का केन्द्र था। अगर उस स्तुत्य वंश परम्परा का दिव्य उन्मेष भवभूति के जीवन और साहित्य में भी हुआ हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या? यह बात दूसरी है कि उनकी तीनों कृतियों में मीमांसा का कोई प्रबल आग्रह नहीं दीख पड़ता। क्योंकि उन्होंने स्वयं ही नाटकों में दार्शनिक एवं औपनिषदिक ज्ञान-विज्ञान की अनावश्यकता तथा अनुपयुक्तता की घोषणा मुक्तकण्ठ से की है[5]। अतः राजा साहब की यह विप्रतिपत्ति मान्य नहीं हो सकती।

---

१. वही,—पृ० ३१९-३२०
२. प्रोसिडिंग्स ऑफ सकेण्ड ओरियण्टल कान्फ्रेन्स—१९२३ ई०, पृ० सं० ४१०-४१२
३. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र—म० म० पी० वी० काणे—पंचम भाग—पृ० ११८८-११९९
४. तात्पर्य टीका की भूमिका—डा० कुन्हन राजा-पृ० २५-२६
५. मा० मा०—यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चिद गुणी नाटके।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

डॉ० मिराशी के मतों की समीक्षा

इसके अतिरिक्त डॉ० मिराशी ने नाटककार भवभूति और मीमांसक उम्बेक दोनों की काल भिन्नता के आधार पर दोनों की अभिन्नता का खण्डन किया है। डॉ० मिराशी के अनुसार मीमांसक उम्बेक का साहित्यिक कार्यकाल लगभग ७७५ ई० से ८०० ई० के बीच पड़ता है जबकि भवभूति इनसे करीब ५० वर्ष पूर्व अपना साहित्यिक कार्यकाल समाप्त कर चुके थे। अतः कालक्रम की भिन्नता के अनुसार दोनों की अभिन्नता नहीं मानी जा सकती[1]। किन्तु डॉ० मिराशी का यह कालभेद भी समाधेय है।

भारतीय इतिहास में संस्कृत साहित्यकारों का देशकाल निर्णय सर्वथा विवादास्पद ही रहा है। किसी अन्तरंग प्रमाण के अभाव में सिर्फ तर्क एवं अन्य बहिरंग सामग्रियों के आधार पर उनके देशकाल के विषय में इदमित्थम् कहना अत्यन्त कठिन है। अतएव भवभूति और उम्बेक के काल निर्णय में सिर्फ ५० वर्ष का अन्तर दिखाकर दोनों की भिन्नता की घोषणा भी अधिक मूल्य नहीं रखती। इसमें शंका और तर्क का पूर्ण अवकास है। हो सकता है कि प्रथमतः नाटकों में प्रौढि प्राप्त कर भवभूति पीछे मीमांसा की ओर झुके होंगे और वार्धक्य काल में उन्होंने मीमांसा के ग्रन्थों पर टीका लिखी होगी। साथ ही "ये नाम केचिदिह"……जैसे उनके श्लोक से पता चलता है कि नाटककार भवभूति को जीवन में सामाजिक कुण्ठाओं एवं आलोचनाओं का प्रकाम गरल घूंट पीना पड़ा था। यद्यपि वे अपने को वश्यवाक्, पूर्णप्रज्ञ तथा पदवाक्यप्रमाणज्ञ महाकवि कहते हैं, फिर भी उनकी कृतियों का समाज में समुचित आदर नहीं हुआ और उन्हें जो कटु आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा उसके मूल में कदाचित् पदवाक्यप्रमाणज्ञ भवभूति का नाटककार ही दीख पड़ता है। उस समय जैसा कि चित्सुखी आदि ग्रन्थों से पता चलता है कि नाटककार को आप्त नहीं माना जाता था[2]। अतएव बहुत सम्भव है कि पदवाक्य-प्रमाणज्ञ भवभूति ने अपने जीवन के उत्तरकाल में उस अनाप्तदोष के परिमार्जन के लिए पुनः उम्बेक नाम से कुमारिल के श्लोकवार्तिक पर टीका लिखी होगी, जो निस्सन्देह उनके स्वाभिमान और अप्रतिहतवैदुष्य के सर्वथा अनुरूप दीख पड़ता है।

उत्तरचरित की प्रस्तावना में म० म० काणे महाशय ने भवभूति और उम्बेक की अभिन्नता का विधिवत् परीक्षण किया है और अन्त में वे भी इसी निष्कर्ष पर

यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं-
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः ॥ १।८

१. स्टडीज इन इन्डोलॉजी—म० म० डॉ० मिराशी—प्रथम भाग-पृ० ४५

२. चित्सुखी—निर्णयसागर-संस्करण—पृ० २६५ (१९१५ ई०)

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आते हैं कि दोनों के अभिन्न होने की अत्यधिक सम्भावना है[1]। सबसे बड़ी बात यह है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही भवभूति और उम्बेक की एकता मानी जा रही है। चित्सुखाचार्य की तत्त्वप्रदीपिका के ऊपर प्रत्यग्रूप भगवान् (१३००–१४०० ई०) की नयनप्रसादिनी टीका से इस तथ्य का स्पष्टतः निर्देश किया गया है[2]। अतः किसी अकाट्य प्रमाण के अभाव में परम्परा की इस रूढ़ि को ही मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि भवभूति और उम्बेक दो व्यक्ति नहीं बल्कि एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं।

पं० बलदेव उपाध्याय के मतों की आलोचना

इसके अतिरिक्त भी भवभूति की नाम-व्याप्ति को लेकर साहित्य-संसार में काफी विवाद है। पं० बलदेव उपाध्याय जी ने मण्डन, सुरेश्वर, विश्वरूप, भवभूति तथा उम्बेक को एक ही व्यक्ति मान लिया है। उनका कहना है कि जिस प्रतिभाशाली विद्वान् ने नाटकों में अपना नाम भवभूति रखा, मीमांसा में उसी ने अपना नाम उम्बेक रखा और कालान्तर में आचार्य शंकर द्वारा संन्यासी बनाये जाने पर उसी का नाम सुरेश्वर पड़ा[3]। किन्तु भवभूति और उम्बेक की अभिन्नता मान लेने पर भी भवभूति के साथ मण्डन, सुरेश्वर तथा विश्वरूप आदि नामों की अभिन्नता स्वीकार नहीं की जा सकती। उत्तरचरित की प्रस्तावना में डॉ० काणे ने इन नामों की अभिन्नता का विधिवत् और साधिकार प्रत्याख्यान किया है। अतः इस स्थिति में यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि भवभूति और उम्बेक की अभिन्नता की सम्भावनाएँ अधिक हैं किन्तु विश्वरूप, सुरेश्वर तथा मण्डन आदि नामों के साथ भवभूति की एकता अनिश्चित किंवा अमान्य ही है।

भवभूति का निवास-स्थान

इसी प्रकार भवभूति के निवास-स्थान को लेकर भी विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की अटकलबाजियाँ की हैं। यहाँ उन विवादों के विस्तार में नहीं जाकर उनका मोटा-मोटी छोटा-सा वक्तव्य ही प्रस्तुत करना अधिक समीचीन होगा। मालती-माधव की प्रस्तावना में भवभूति ने अपना जन्मस्थान पद्मपुर बताया है जो दक्षिणापथ के विदर्भ प्रदेश में कहीं स्थित है[4]। यहाँ दक्षिणापथ का प्रचलित अर्थ दक्षिण भारत है[5]। भवभूति के प्रसिद्ध टीकाकार जगद्धर और त्रिपुरारि ने पद्मावती को

---

१. उत्तररामचरितम् की भूमिका—म० म० काणे—पृ० ११
२. महाविद्याविडम्बन (गायकवाड ओरियन्टल सीरिज) की भूमिका—पृ० १४
३. संस्कृत सुकवि समीक्षा—पं० बलदेव उपाध्याय—पृ० ३२२
४. मा० मा०—अस्ति दक्षिणापथे पद्मपुरं नाम नगरम्। पृ० १०
५. का० मी०—माहिष्मत्या परतो दक्षिणापथम्—सप्तदशोऽध्याय—पृ० २७८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पद्मपुर का पर्याय माना है। जेनरल कनिंघम के अनुसार ग्वालियर राज्य में सिन्धु के किनारे बसा हुआ नरवार नामक स्थान ही भवभूति की पद्मावती है[1]। डॉ० मिराशी ने भवभूति के जन्मस्थान के विषय में विशेष अन्वेषण किया है। उनका निष्कर्ष यह है कि भवभूति का पद्मपुर विदेह में ही है जो भंडारा जिले के आमगाँव जमीन्दारी में छोटा-सा ग्राम है[2]। किन्तु म० म० डॉ० काणे महाशय, डॉ० मिराशी के निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। म० म० काणे का कहना है कि विदर्भ में ६ ग्राम ऐसे हैं जो पद्मपुर, पद्मापुर आदि समान नाम वाले हैं, अतः किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में भवभूति की पद्मावती का निर्णय इदमित्थम् रूप से नहीं किया जा सकता है[3]। इसी प्रकार डा० भंडारकर प्रभृति विद्वानों की खोजों के निष्कर्ष भी प्रायः भिन्न-भिन्न ही हैं। यद्यपि किसी ठोस प्रमाण के अभाव में इस तथ्य में हमेशा तर्क एवं शंका की गुंजाइस है फिर भी मेरी समझ में इतना तो माना ही जा सकता है कि भवभूति निश्चय ही दक्षिणापथ के रहने वाले थे। उनकी कृतियों में दक्षिण के पर्वतों, वनों, नदियों तथा तीर्थों का अत्यन्त ही सूक्ष्म एवं हृदयहारी वर्णन उपलब्ध होता है जिससे उनका चिरपरिचय एवं कुछ आत्मीय संबंध भी प्रकट होता है। गोदावरी के उत्स का जैसा चित्रमय एवं भाव-विह्वल वर्णन उत्तरचरितम् में मिलता है, उससे उनकी आत्मीयता और तन्मयता के साथ उनके देश प्रेम का संस्कारगत भाव भी सहज फूट पड़ता है[4]। अतः हो सकता है कि दक्षिणापथ में नित्य प्रवहमान सदातोया गोदावरी के तटवर्ती भू-भागों में ही कहीं उस पवित्र पद्मावती की संभावना है जिसे कभी महानुभूति भवभूति ने जन्म लेकर अलंकृत किया था।

कालप्रियानाथ का अर्थ

भवभूति के तीनों नाटक भगवान् कालप्रियानाथ की यात्रा के अवसर पर अभिनीत हुए हैं। ये कालप्रियानाथ कौन हैं और इनकी अवस्थिति कहाँ है?—इन प्रश्नों को लेकर भी विद्वानों में काफी मतभेद है। कुछ टीकाकारों ने 'कालप्रियनाथ' यह ह्रस्व पाठ ही शुद्ध माना है और कुछ टीकाकारों ने 'कालप्रियानाथ' इस दीर्घ पाठ को ही सही मानकर व्याख्यान किया है किन्तु प्रचलित मतों के अनुसार काल-प्रियानाथ या कालप्रियनाथ का आशय भगवान् शिव से ही सम्बद्ध है। भवभूति के

---

१. क इन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया—कनिंघम्, पृ० २२
(म० म० मिराशी द्वारा उदधृत—स्टडीज इन इन्डोलॉजी भाग-१, पृ० २२)

२. स्टडीज इन इन्डोलॉजी—डॉ० मिराशी—भाग-१ में 'वर्थ प्लेस ऑफ भवभूति' नामक निबन्ध—पृष्ठ २१-३४

३. उ० च० की भूमिका—पृष्ठ ७-९ (१९६३ ई०).

४. उ० च०—२।३०

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रसिद्ध टीकाकार वीरराघव ने महावीरचरित की टीका में 'कालप्रियानाथ' इस ह्रस्व पाठ को ही शुद्ध मानकर इसका अर्थ भगवान् शिव किया है[1]। डा० कीथ ने कालप्रियानाथ को उज्जयिनी के स्वनामधन्य महाकाल से अभिन्न माना है[2]। इस प्रकार अधिकांश विद्वानों ने कालप्रियानाथ का अर्थ शिव ही किया है भले ही उनमें स्थानगत भिन्नता मिले। किन्तु डा० मिराशी ने इस उपर्युक्त अर्थ सिद्धान्त से भिन्न एक नवीन अर्थ की स्थापना की है। वे इस ह्रस्व पाठ को ही शुद्ध मानते हैं और इसका सम्बन्ध कालपी के सूर्य मन्दिर से जोड़ते हैं। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने एक ताम्रलेख तथा भविष्य, वराह आदि पुराणों के साक्ष्य को प्रस्तुत किया है[3]। किन्तु डा० मिराशी का यह सिद्धान्त भी सर्वथा निरापद नहीं है। म० म० काणे महोदय ने उत्तरचरित की प्रस्तावना में डा० मिराशी के इस सिद्धान्त के प्रामाण्य में काफी सन्देह प्रकट किया है और वराह, भविष्य आदि आधार-ग्रन्थों के साक्ष्य को प्रक्षिप्त सिद्ध किया है[4]। इसके अतिरिक्त डा० मिराशी ने कालप्रियनाथ का अर्थ जो सूर्य किया है वह भी चिन्त्य ही है, क्योंकि कालप्रिय का अर्थ सूर्य हो सकता है किन्तु तब नाथ शब्द सर्वथा असम्बद्ध एवं अनन्वित हो जाता है। साथ ही भवभूति के अभीष्ट कालप्रियानाथ हैं 'कालप्रिय' नहीं। अतएव डा० मिराशी का सिद्धान्त अधिक संगत प्रतीत नहीं होता।

वस्तुतः कालप्रियानाथ भगवान् शिव ही हैं। यह बात भिन्न है कि यह कालप्रियानाथ भगवान् शंकर कालपी के हैं अथवा इनका सम्बन्ध उज्जयिनी के महाकाल से है। इसमें उज्जयिनी के महाकाल से कालप्रियानाथ के सम्बन्ध की संभावना बहुत कम प्रतीत होती है—क्योंकि कालिदास से लेकर बाणभट्ट तक के साहित्य में उज्जयिनी के इस स्वनामधन्य महादेव को 'महाकाल' ही कहा गया है फिर सिर्फ सौ वर्ष बाद ही भवभूति ने परम्परा प्रतिष्ठित महाकाल को कालप्रियानाथ की संज्ञा से परिवर्तित किया हो यह सहसा विश्वास नहीं होता। यद्यपि यह कालप्रियानाथ कोई शिव ही हैं फिर भी यह उज्जयिनी के महाकाल से निश्चय ही भिन्न है। हो सकता है यह कालप्रियानाथ कहीं भवभूति की जन्मभूमि में ही प्रतिष्ठित हो। इस सम्बन्ध में डा० मिराशी का यह तर्क की यदि कालप्रियानाथ का सम्बन्ध उनकी

---

१. म० च० पर वीरराघव की टीका—कालप्रियानाथस्य कालप्रियानामिकाम्बिका पतेः। कालप्रियानाथस्य इति ह्रस्वान्तप्रियशब्दयुक्तः पाठः प्रचुरो दृश्यते—तत्राप्यर्थः पूर्ववत्। क्षेत्रविशेषस्येश्वरमूर्त्तिविशेषसंज्ञाभूते कालप्रियानाथशब्दे "ड्यापो संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्" इति वैकल्पिक ह्रस्वप्रवृत्तेः। पृ०-६

२. संस्कृत ड्रामा—डा० ए० बी० कीथ, अनुवादक—डा० उदयभानु सिंह-पृ० १९१

३. स्टडीज इन इन्डोलोजी-डा० मिराशी-भाग-१, पृ० ३४-४२

४. उ० च० की भूमिका-म० म० काणे, पृष्ठ १६.

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जन्मभूमि से होता तो भवभूति को उस सुपरिचित स्थान पर अपने गोत्र वंश तथा वैदुष्य का लम्बा परिचय देने की अपेक्षा नहीं होती--बहुत अधिक मूल्य नहीं रखता। क्योंकि जैसा कि उनके नाटकों से स्पष्ट होता है कि कालप्रियानाथ की यात्रा में नाना दिग्दिगन्तों से यात्री आते थे। **'सन्निपतितश्च भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रा प्रसंगेन नाना दिग्दिगन्तवास्तव्यो जनः**[1]।' अतएव उन अपरिचित जनसमूह को नाटककार के गोत्र वंश तथा पाण्डित्य का परिचय देना आवश्यक था। किन्तु यदि भवभूति की प्रसिद्धि इतनी हो गयी थी कि उन्हें नानादिग्देश के लोग जानते थे तो फिर उन्हें कहीं भी अपना परिचय देने की आवश्यकता न थी चाहे वे नाटक उज्जयिनी में अभिनित हुए हों या कालपी में। वस्तुतः संस्कृत नाटककारों की यह प्राचीन परम्परा ही थी जिसके अनुसार नाटक के प्रारम्भ में नाटककार को अपने गोत्र वंश का परिचय देना आवश्यक माना जाता था। प्रायः सभी नाटककारों ने नाटक के प्रारम्भ में न्यूनाधिकरूप से अपना परिचय वाक्य प्रस्तुत किया है, अतएव जन्मभूमि में अभिनीत होने वाले नाटकों में नाटककार की विस्तृत परिचिति की अपेक्षा या अनपेक्षा का प्रश्न बिल्कुल निराधार एवं असंगत ही है।

भवभूति का काल निर्धारण : पूर्ववर्ती सीमा

भवभूति के नामधाम को लेकर विद्वानों में जितना विवाद है उतना उनके समय को लेकर नहीं। प्रायः सभी पूर्वी एवं पश्चिमी विद्वान् इनके समय को लेकर करीब-करीब एक मत हैं। यों भवभूति ने अपनी कृतियों में अपने समय का या तत्कालीन किसी राजा अथवा कवि का कहीं कोई निर्देश नहीं किया है, किन्तु भवभूति के समय निर्धारण में कई अन्तरंग एवं बहिरंग प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर आसानी से एक सुनिश्चित सिद्धान्त पर पहुँचा जा सकता है।

अन्तरंग साक्ष्य के रूप में भवभूति की भाषाशैली और काव्यकला का अध्ययन स्वाभाविक है। यह निर्विवाद है कि काव्यकला के क्षेत्र में भवभूति महाकवि कालिदास से पूर्ण प्रभावित हैं और जहाँ तक इनकी भाषा शैली का प्रश्न है उस पर बाणभट्ट की **'ओजः समासभूयस्त्व'** गद्य शैली का गाढ़ा रंग चढ़ा हुआ है। मा० मा० में विरही माधव कालिदास के विरही यक्ष की तरह मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रिया के पास संदेश भेजता है[2]। यहाँ न केवल कालिदास के मेघदूत के भावों का

१. मा० मा०-पृष्ठ ३.

२. मा० मा०—दैवात्पश्येर्जगति विचरन्मत्प्रियां मालतीं चे-
दाश्वास्यादौ तदनु कथयेर्माधवीयामवस्थाम्।
आशातन्तुर्न च कथयतात्यन्तमुच्छेदनीयः,
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः॥ १।२६

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ही अनुकरण हुआ है बल्कि भाव के साथ मन्दाक्रान्ता छन्द की भी अनुकृति पायी जाती है। इसके अतिरिक्त भी भवभूति के नाटकों में ऐसे कई स्थल हैं जिनपर कालिदास की काव्यकला का प्रभाव स्पष्टतः अंकित है। इससे स्पष्ट है कि भवभूति कालिदास के काफीवाद हुए थे। यों कालिदास का समय भी विवादास्पद ही है फिर भी अधिकांश विद्वानों ने इनका समय पांचवी शदी का आरम्भ काल माना है[1]।

ऊपर कहा जा चुका है कि भवभूति की भाषाशैली पर बाण की प्रगल्भ गद्यशैली का संस्कार अंकित है। भवभूति की भाषाशैली उस युग की देन है जब काफी सुदीर्घ एवं संश्लिष्ट वाक्य लिखे जाते थे और भाषा की स्वाभाविक गति पर पाण्डित्य एवं विदग्धता का बोझ चढ़ चुका था। भावसंक्षेप की जगह भाव विस्तार को काफी महत्व दिया जाता है। निसन्देह भाषाशैली के ये सभी लक्षण बाण एवं दण्डी की कृतियों में उपलब्ध होते हैं। बाण ने हर्षचरित में गद्य के जिस आदर्श को स्वीकार किया है वही आदर्श न्यूनाधिक रूप से भवभूति ने मालतीमाधव के प्रथमांक में आदर के साथ प्रतिष्ठित किया है[2]। इससे लक्षित होता है कि भवभूति बाणभट्ट की भाषाशैली से अवश्य ही प्रभावित थे। बाणभट्ट का समय सातवीं शदी का पूर्वार्ध है—यह निर्विवाद है, और बाण ने हर्षचरित के प्रारम्भ में प्रायः सभी पूर्ववर्ती लब्धप्रतिष्ठ कवियों एवं आचार्यों का नामस्मरण किया है। किन्तु उस सूची में भवभूति का नाम नहीं दिखाई देता है। अगर भवभूति बाण के पूर्ववर्ती या समसामयिक भी होते तो निश्चय ही भवभूति जैसे रससिद्ध महाकवि का नाम बाण की सूची में उपन्यस्त होता, किन्तु भवभूति के विषय में बाण का चिर-मौन ही सूचित करता है कि भवभूति बाण के परवर्ती आचार्य हैं। इस प्रकार सातवीं शदी के बाद ही भवभूति के समय का निर्धारण करना समुचित है, और बाण का समय भवभूति के काल निर्धारण की ऊपरी सीमा के रूप में रखा जा सकता है।

इस पद्य पर कालिदास के उ० मेघ० के निम्नांकित पद्य की छाया देखी जा सकती है :—

कच्चित्सौम्य ! प्रियसहचरी विद्युतालिंगति त्वाम्
आविर्भूतप्रणयसुमुखाश्चातका वा भजन्ते।
पौरस्त्यो वा सुखयति मरुत्साधु संवाहनाभि-
र्विंध्यद्विपभ्रत्सुरपतिधनुर्लक्ष्म लक्ष्मीवदैतत् ॥ उ० मेघ०

१. संस्कृत ड्रामा—डा० ए० बी० कीथ—पृ० १४५-४६

२. हर्ष च०—नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषो श्लिष्टः स्फुटोरसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ॥ —बाणभट्ट
मा० मा०—यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम्।
तच्चैदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः ॥ ९।८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कालनिर्धारण : परवर्ती सीमा

इसी प्रकार भवभूति के कालनिर्धारण की परवर्ती सीमा रेखा भी खींची जा सकती है। सर्वप्रथम वामन ने अपने काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में उद्धरण के रूप में भवभूति के कुछ श्लोकों को उद्धृत किया है।[1] डा० काणे महाशय ने वामन के समय को आठवीं शदी के आसपास माना है। अतः इस तरह भवभूति को आठवीं शदी के बाद नहीं रखा जा सकता है। भवभूति की काल सीमा की यह परवर्त्ती रेखा है। वामन के बाद राजशेखर ने अपने को वाल्मीकि तथा भवभूति का अवतार ही घोषित किया है।[2] राजशेखर का समय दशवीं शदी का पूर्वार्द्ध माना गया है। यों राजशेखर की यह घोषणा भवभूति के कालनिर्धारण में अधिक महत्त्वपूर्ण कड़ी नहीं है। फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि उस समय तक भवभूति काफी लब्धप्रतिष्ठ एवं अनुकरणीय हो चुके थे। जिसको राजशेखर जैसे विद्वान् ने अपने स्वाभिमान, गौरव एवं ईहा का प्रतीक मानकर अपने को उनका अवतार घोषित किया है। इस प्रकार भवभूति के काल-निर्णय सम्बन्धी पूर्ववर्त्ती एवं परवर्ती सीमा रेखा खींचने के बाद यही निष्कर्ष निकलता है कि भवभूति सातवीं सदी के पश्चात् और आठवीं शदी के पूर्व अवश्य ही विद्यमान रहे होंगे।

कल्हण और जैकोबी का मत

इसके अतिरिक्त काश्मीरी पंडित कल्हण ने राजतरंगिणी में लिखा है कि भवभूति और वाक्पतिराज कान्यकुब्जाधीश्वर 'यशोवर्मा' के राजकवि थे।[3] राजतरंगिणी के अनुसार यशोवर्मा को काश्मीर नरेश ललितादित्य ने हराकर बंगाल तक अपनी विजय वैजयन्ती लहराई थी। जैनरल कनिंघम के अनुसार ललितादित्य का समय ६९३ ई० है। गउडवहो की भूमिका में शंकर पाण्डुरंग ने ललितादित्य का राज्यकाल ६९५–७३२ ई० तक माना है। किन्तु गउडवहो में निर्दिष्ट एक सूर्यग्रहण की ज्योतिषगणना के अनुसार डा० जैकोबी ने सिद्ध किया है कि यह सूर्यग्रहण कन्नौज में १४ अगस्त ७३४ ई० को दृश्य था। डा० काणे महाशय ने इसी आधार पर गउडवहो का रचनाकाल ७४० ई० के आसपास माना है।[4]

---

१. का० सू० वृत्ति०–वामन–१।२।१२, ४।३।२, ५।२।१८

२. वा० रा०—बभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥१।१६

३. राजतरंगिणी—कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥—कल्हण ४।१४४

५. उ० च० की भूमिका—म० म० काणे।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इन उपर्युक्त बहिरंग साक्ष्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि भवभूति और वाक्पतिराज के आश्रयदाता कान्यकुब्जाधीश्वर यशोवर्मा का काल ७४० ई० है तो निसन्देह भवभूति और वाक्पतिराज का समय भी यही होना चाहिए। गउडवहो के कर्त्ता वाक्पतिराज ने भवभूति के काव्यवैभव का अत्यन्त उच्छ्वसित शब्दों में स्तवन किया है—

भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु[1]॥

उपर्युक्त स्तुति से स्पष्ट है कि गउडवहो की रचना के समय भवभूति पूर्णरूपेण लब्धप्रतिष्ठ हो चुके थे और सम्भवतः कीर्तिशेष भी हो चुके थे—इसका अनुमान 'अद्यापि' पद से लगाया जा सकता है। अतः यशोवर्मा तथा उनके आश्रित कवि वाक्पतिराज के रचनाकाल के निर्धारण से सिद्ध हो जाता है कि भवभूति का साहित्यिक कार्यकाल ८ वीं शदी के प्रथम चतुर्थांश या उसके कुछ बाद तक भी रहा होगा।

यहां यह ध्यातव्य है कि अगर कल्हण ने राजतरंगिणी में भवभूति और वाक्पतिराज को यशोवर्मा का आश्रित कवि नहीं लिखा होता तो इसके लिए कहीं कोई दूसरा प्रमाण नहीं है जिसके अनुसार दोनों को समकालीन सिद्ध किया जाय। हो सकता है कि गउडवहो में वाक्पतिराजकृत प्रशंसावाक्य के आधार पर ही कल्हण ने ऐसा अनुमान कर लिया हो। क्योंकि भवभूति की कृतियों में कहीं भी राजकीय ऐश्वर्य एवं भौतिक वैभव का लवलेश प्रतीत नहीं होता। किन्तु यदि कल्हण के कथन को ही प्रमाणकोटि में रखा जाय तो बहुत संभव प्रतीत होता है कि भवभूति अपना साहित्यिक कार्यकाल समाप्त कर चुकने के बाद वार्धक्य काल में कान्यकुब्जाधीश्वर यशोवर्मा के आश्रित कवि हुए होंगे। निश्चय ही भवभूति वाक्पतिराज से अवस्था में बड़े एवं प्रतिष्ठित रहे होंगे, यह उनके 'अद्यापि' पद से संकेतित हो रहा है। इस तरह भवभूति का समय ७ वीं शदी का अन्तिम चतुर्थांश से लेकर आठवीं शदी के प्रथम चतुर्थांश तक मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है और इसमें असहमति की कोई गुञ्जाइस भी नहीं है।

नाटककार भवभूति का व्यक्तित्व निर्णय

भवभूति का काल निर्धारण कर लेने के बाद अब हम उनकी कृतियों के प्रकाश में उनके संभावित जीवन चरित का अध्ययन प्रस्तुत करना चाहेंगे। यों

---

१. गउडवहो—भवभूइजलहिनिग्गय-कव्वामयरसकणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहाणिवेसेसु॥
वाक्पतिराज—पद्य सं० ७९९

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संस्कृत कवियों की रुढ़िबद्धपरम्परा के अनुसार भवभूति भी अपने विषय में मौन ही रहे हैं, फिर भी उनकी रचनाओं की पूरी तटस्थता एवं तल्लीनता से छानबीन करने के बाद हमें जो तथ्य हाथ लगते हैं, उनके आधार पर अवश्य ही उनके सम्भावित जीवन चरित को खड़ा किया जा सकता है।

भवभूति के व्यक्तित्व का दार्शनिक एवं साहित्यिक स्वरूप

जीवन के अनुभव परिपक्व होकर रमणीय कल्पना के द्वारा कला में अभिव्यक्त होते हैं। स्वभावतः ही काव्यकला में जीवन-जगत के प्रति कवि का वैयक्तिक दृष्टिकोण भी प्रतिबिम्बित हो उठता है। फिर भी परिछांही के किसी अज्ञात अनाम छोर को पकड़कर उसके मूल उत्स का पता पाना और पुनः उसके आधार पर कवि के 'तमः पारे प्रतिष्ठितम्' व्यक्तित्व का मानचित्र खींचना निसन्देह एक दुष्कर व्यापार है। महान् कलाकारों का व्यक्तित्व भी महान् एवं सार्वभौम होता है और उसका निःशेष विलयन उनकी कृतियों में हो जाता है। उसका आत्मभाव विश्वात्मभाव के उदात्तरूपों में इस प्रकार ढल गया रहता है कि उसके स्वत्व को उससे छांटकर, पृथक् कर परखना अत्यन्त कठिन हो जाता है। सच पूछिये तो उसे वहां अपना कहने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता। यद्यपि यह बात नहीं है कि जीवन एवं जगत की विषमताओं कुरूपताओं तथा कुंठाओं से उनका जीवन सदा असंपृक्त ही रहा है, बल्कि सच्ची बात यह है कि सामान्य जनों की अपेक्षा कहीं अधिक इन साहित्यिक महारथियों ने जीवन की कुंठाओं का आघात सहा है, और जीवन-जगत की विषमताओं के विषम गरल का आकंठपान भी किया है, फिर भी इन महात्माओं ने उस गरल को अपने लिए रखकर दुनिया को सदा के लिए अमृत का ही दान दिया है। यही कारण है कि वैयक्तिक सुख-दुःख के थपेड़ों से उनकी काव्यकला आद्यन्त अस्पृष्ट, तटस्थ एवं निरपेक्ष ही नजर आती हैं। ज्ञानी, योगी और रससिद्ध कलाकार जीवन-जगत की द्वन्द्वात्मकता से प्रभावित अवश्य होते हैं, किन्तु पराजित नहीं। सुख-दुःख जीवन-मरण, तथा समता-विषमता का द्वन्द्व कलाजगत में तिरोहित हो जाता है। मसान की राख कला के करस्पर्श से विभूति बन जाती है, दुनिया का जहर कला के अधर में हो जाता है—'कालियदह' 'अमृतसर' हो जाता है।

धार्मिक विश्वास

किन्तु सौभाग्य से हमारे चरित नायक भवभूति ने अपने सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट संकेत किये हैं जिनके सहारे हम उनके जीवन चरित का संभावित मानचित्र खींच सकते हैं। सर्वप्रथम अपने पूर्वजों के नामधाम गुण कीर्तन में भवभूति ने

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जिन विशेषणों एवं तप:पूत शब्दों का विनियोग किया है,[1] उनसे सूचित होता है कि भवभूति का जन्म ऐसे श्रोत्रिय परिवार में हुआ था जो अपने ज्ञानविज्ञान, वैदिक कर्मकाण्ड, शीलस्वाध्याय के लिए परम्परा से प्रतिष्ठित एवं पूज्य था। भवभूति को अनायास ही अपनी वंश परम्परा से पाण्डित्य एवं वैदुष्य का, शील एवं स्वाध्याय का, मान एवं प्रतिष्ठा का बहुत बड़ा रिक्थ उपलब्ध हुआ था। उन्होंने अपने को पदवाक्यप्रमाणज्ञ, वश्यवाक् एवं पूर्णप्रज्ञ महाकवि कहा है[2]। निसन्देह यह उनकी गर्वोक्तियाँ नहीं स्वभावोक्तियाँ ही हैं। व्याकरण, न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि गुरु गम्भीर शास्त्रों में उनकी गति अप्रतिहत थी—यह उनकी कृतियों के सिंहावलोकन मात्र से ही सूचित हो जाता है; फिर भी यह दूसरी बात है कि उन्होंने नाटकों में अपने दार्शनिक ज्ञानविज्ञान का सम्यक् विनियोग नहीं किया। कदाचित् वे अपनी नाट्यकृतियों के लिए शास्त्रीय पाण्डित्य एवं दार्शनिक ज्ञान-विज्ञान को अनपेक्षित एवं अनुपयुक्त ही मानते थे[3]। फिर भी उनकी नाट्यकृतियों में अवान्तर रूप से ऐसे कई स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं जो उनके प्रचण्ड पाण्डित्य एवं दार्शनिक ज्ञानवैभव को सिद्ध करने में सर्वथा अलम् हैं[4]।

भवभूति का व्यक्तिवादी स्वरूप

भवभूति अपने श्रोत्रिय वंश की पंक्तिपावन परम्परा के अनुरूप ही ब्राह्मण संस्कृति तथा वैदिक आचार-विचार में दृढ़ निष्ठा रखने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने निगमागम का तलस्पर्शी अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि पूरी निष्ठा एवं विधिवत् स्वाध्याय के द्वारा उसे हृदयंगम भी किया था। साहित्य एवं दर्शन के क्षेत्र में वे विधिवत् शिक्षित एवं पूर्णतः दीक्षित थे। उनके व्यक्तित्व में दार्शनिक ज्ञान-विज्ञान का, अनाविल शील एवं विधिवत् स्वाध्याय का, साहित्य एवं कला का अपूर्व परिपाक हुआ था। उनकी दृष्टि एवं सृष्टि में आदर्श एवं यथार्थ का, शील एवं सौन्दर्य का, ज्ञान एवं भक्ति का सर्वत्र ही सम्यक् संयोग एवं विनियोग दिखाई पड़ता है। मीमांसक होने से वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति उनकी स्वाभाविक रुचि रही

---

१. मा० मा०—प्रस्तावना–पृ० १०

२. उ० च०—यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते–१।२
वही,—शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्रज्ञस्य वाणीमिमाम्–७।२१

३. मा० मा०—यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च,
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चिद् गुणो नाटके।
यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम्।
तच्चैदस्ति ततस्तदैव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः॥ १।८

४. द्रष्टव्य—काणेकृत उ० च० की भूमिका।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होगी—यह सुतरां सिद्ध है, फिर भी कट्टरकर्मकाण्डी की तरह उनका दृष्टिकोण संकीर्ण एवं कलुषित नहीं था। उनके विचार अत्यन्त स्फीत, सुसंस्कृत, उदार एवं समन्वयवादी थे। वे ज्ञानक्षेत्र में शंकराचार्य की तरह अद्वैतवादी और भावक्षेत्र में भक्तिवादी थे। जो शंकराचार्य ज्ञानक्षेत्र में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं वही पुनः भावक्षेत्र में 'भजगोविन्दम्' का उपदेश करते हुए शिव की भक्ति में विभोर हो जाते हैं। भवभूति भी एक ओर चैतन्यज्योति स्वरूप निर्गुण निराकार ब्रह्म के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं[1]—तो दूसरी ओर शिव, गणेश एवं सूर्य की स्तुति करते हुए अपने को भगवान् श्रीराम का विनीत भक्त भी घोषित करते हैं।

प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमः कवीनाम्
यत्पावनं रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम्।
भक्तस्य तत्र समरंसत मेऽपिवाच-
स्तत्सु प्रसन्नमनसः कृतिनो भजन्ताम्[2] ॥

भगवान् श्रीराम के अनन्य भक्त

ज्ञानी भवभूति का भावविह्वल हृदय वाल्मीकि के पावनचरित भगवान् श्रीराम के सगुण रूप लीलाधाम में भाव-विभोर हो उठा है। ज्ञान का निर्गुण निराकार ब्रह्म भाव सगुण साकार भगवान् हो जाता है। तुलसी के 'विनु पग चले सुने विनु काना'—राम 'दशरथ अजिरविहारी' हो जाते हैं। उन्होंने अपने उपास्य प्रभु भगवान् श्रीराम के नामरूप लीलाधाम का भर पेट गायन किया है। उनके दो नाटकों के नायक भी मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ही हैं। कालिदास की तरह भवभूति भी अपने इष्ट को परब्रह्म मानते हुए उनके लीलाविग्रह के अनन्य उपासक थे। महावीरचरित में अलका तथा गुरु वशिष्ठ के मुंह से भगवान् श्रीराम के विषय में जो शब्द निसृत हुए हैं—निसन्देह वे भक्त भवभूति के भावविह्वल हृदय के उच्छ्वसित उद्गार हैं :—

---

१. म० च०— अथ स्वस्थाय देवाय नित्याय हतपाप्मने।
त्यक्तक्रमविभागाय चैतन्यज्योतिषे नमः ॥ १।१
मा० मा०— कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते!
धुर्यां लक्ष्मीमिह मयि भृशं धेहि देव! प्रसीद।
यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ! नम्रस्य तन्मे
भद्रं भद्रं वितर भगवन्भूयसे मंगलाय ॥ १।३
२. म० च०— प० १।७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होगी—यह सुतरां सिद्ध है, फिर भी कट्टरकर्मकाण्डी की तरह उनका दृष्टिकोण संकीर्ण एवं कलुषित नहीं था। उनके विचार अत्यन्त स्फीत, सुसंस्कृत, उदार एवं समन्वयवादी थे। वे ज्ञानक्षेत्र में शंकराचार्य की तरह अद्वैतवादी और भावक्षेत्र में भक्तिवादी थे। जो शंकराचार्य ज्ञानक्षेत्र में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं वही पुनः भावक्षेत्र में 'भजगोविन्दम्' का उपदेश करते हुए शिव की भक्ति में विभोर हो जाते हैं। भवभूति भी एक ओर चैतन्यज्योति स्वरूप निर्गुण निराकार ब्रह्म के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं[1]—तो दूसरी ओर शिव, गणेश एवं सूर्य की स्तुति करते हुए अपने को भगवान् श्रीराम का विनीत भक्त भी घोषित करते हैं।

प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमः कवीनाम्
यत्पावनं रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम्।
भक्तस्य तत्र समरंसत मेऽपिवाच-
स्तत्सु प्रसन्नमनसः कृतिनो भजन्ताम्[2] ॥

भगवान् श्रीराम के अनन्य भक्त

ज्ञानी भवभूति का भावविह्वल हृदय वाल्मीकि के पावनचरित भगवान् श्रीराम के सगुण रूप लीलाधाम में भाव-विभोर हो उठा है। ज्ञान का निर्गुण निराकार ब्रह्म भाव सगुण साकार भगवान् हो जाता है। तुलसी के 'विनु पग चले सुने विनु काना'—राम 'दशरथ अजिरविहारी' हो जाते हैं। उन्होंने अपने उपास्य प्रभु भगवान् श्रीराम के नामरूप लीलाधाम का भर पेट गायन किया है। उनके दो नाटकों के नायक भी मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ही हैं। कालिदास की तरह भवभूति भी अपने इष्ट को परब्रह्म मानते हुए उनके लीलाविग्रह के अनन्य उपासक थे। महावीरचरित में अलका तथा गुरु वशिष्ठ के मुंह से भगवान् श्रीराम के विषय में जो शब्द निसृत हुए हैं—निसन्देह वे भक्त भवभूति के भावविह्वल हृदय के उच्छ्वसित उद्गार हैं :—

---

१. म० च०— अथ स्वस्थाय देवाय नित्याय हतपाप्मने।
त्यक्तक्रमविभागाय चैतन्यज्योतिषे नमः॥ १।१
मा० मा०— कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते!
धुर्यां लक्ष्मीमिह मयि भृशं धेहि देव! प्रसीद।
यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ! नम्रस्य तन्मे
भद्रं भद्रं वितर भगवन्भूयसे मंगलाय॥ १।३

२. म० च०— प० १।७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इदं हि तत्त्वं पुरुषार्थभाजामयं हि साक्षात्पुरुषः पुराणः।
त्रिधा विभिन्ना प्रकृतिः किलैषा चातुर्भुवि स्वेन सतोऽवतीर्णाः[1] ॥

वशिष्ठ :—(स्वगतम्)

क्षमायाः स क्षेत्रं गुणमणिगणानामपि खनिः
प्रपन्नानां मूर्तः सुकृतपरिपाको जनिमताम्।
कृपाराशो रामो बहिरिह दृशोपास्यत इति
प्रमोदाद्वैतस्याप्युपरि परिवर्तामह इमे[2] ॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भवभूति की विशेष आस्था अपने उपास्य देवता पावन चरित भगवान् श्रीराम के सगुण नाम रूप लीलाधाम के गायन में निहित है। किन्तु प्रतिभा के वाम अवधूतों की तरह उत्पात मचाकर कभी किसी अन्य विग्रह के प्रति न तो उन्होंने अपनी अनास्था ही प्रकट की है और न कोई दुराग्रह का भाव ही। उन्होंने यथामति यथास्थान अन्य देवी देवताओं के प्रति भी समान भाव से भावसिक्त हृदय से अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। इनके सभी नाटक 'कालप्रियानाथ' भगवान् शंकर की यात्रा के अवसर पर प्रथमतः अभिनीत हुए थे—जिससे शिव के प्रति भी इनकी आस्था समान भाव से व्यक्त होती है। इस प्रकार भवभूति अत्यन्त शिष्ट, परमोदार एवं सौम्य प्रकृति के भक्त कवि सिद्ध होते हैं और परिणामतः तुलसी की तरह समन्वयवादी आचार्य भी कहे जा सकते हैं। फिर भी यदि कोई उन्हें अद्वैतवादी, वैष्णव या शैव कहने का भ्रम ही कर बैठता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

कला के क्षेत्र में भवभूति का क्रान्तिकारी व्यक्तित्व

भवभूति नाट्यकला के मर्मज्ञ कलाकार, रससिद्ध कवि एवं सुधी समालोचक थे। इनकी नाट्यकलाकृतियों में द्रष्टा एवं स्रष्टा की युगपत सहस्थिति सर्वत्र दिखाई पड़ती है। इन्होंने नाट्यकला को लक्षणग्रन्थों की रूढ़िबद्धता से मुक्त कर उसे एक नया परिवेश प्रदान किया। संस्कृत साहित्य की परम्परा में ऐसे दर्जनों नाटककार गिनाए जा सकते हैं, जिन्होंने लक्षणग्रन्थों को ही आदर्श मानकर नाटकों की रचनाएँ की हैं, उनके लिए शास्त्रीय नियमों का आद्यन्त निर्वाह ही नाट्यकला की सार्थकता एवं इयत्ता है। महानुभूति भवभूति इसके ज्वलन्त अपवाद हैं। इन्होंने शास्त्रीय नियमों की परवाह किये बिना हृदय के उच्छल संगीत एवं वेदनामयी अनुभूति को नाटकीय भावभूमि में अवतरित किया। महाकवि भास से लेकर भट्ट-नारायण तक की लम्बी नाट्यपरम्परा तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध इन्होंने

---

१. म० च०—७।२
२. वही, ७।३३

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उत्तररामचरित में करुण रस को अंगीरस के रूप में प्रतिष्ठित कर सदा के लिये अमर कर दिया। ये ऋषियों की उस उद्दीप्त परम्परा में आस्था रखनेवाले महाकवि थे जिनकी वाणी अर्थ का अनुसंधान किये बिना ही निसर्गतः निःसृत हुआ करती है और अर्थ अनायास ही उससे आबद्ध होते जाते हैं :—

'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।'[1]

आदिकवि वाल्मीकि की चिरनिर्वासिता सीता के मिथ्या परीवाद को कला के सुनहले पानी से धोकर पुनः जिस नाटकीय भावभूमि में राम से मिलन कराया है—वह भवभूति की लोकोत्तर नाट्य प्रतिभा का ज्वलन्त प्रमाण है। यह संस्कृत नाटकों की सुखान्त परम्परा का मात्र निर्वाह नहीं बल्कि वाल्मीकि की चिर प्रतिष्ठित परम्परा के ऊपर पुनः एक स्वस्थ नाटकीय परम्परा का नित्य नूतन निर्माण है। कला एवं भाव के क्षेत्र में भवभूति, कालिदास तथा वाल्मीकि से प्रभावित अवश्य हुए हैं, फिर भी पराजित नहीं। इनकी कल्पना एवं अनुभूति में पूर्वजों के अर्जित श्रमकण संचित अवश्य हैं, किन्तु कहीं भी उसमें वासीपन एवं विदेशीपन का बोध नहीं होता। अतीत के उज्ज्वल उपयोगी तत्त्वों में सज्ञान आस्था रखते हुए गंभीर आशा एवं विश्वास के साथ निरंतर गतिशील रहकर इन्होंने सर्वत्र अपनी प्रतिभा की पवित्र किरणें बिखेरी हैं। संस्कृति एवं संस्कार के मर्यादित परिवेश में, शील एवं स्वाध्याय के शीतल स्निग्ध प्रकाश में तपकर इन्होंने अपने महाप्राण व्यक्तित्व का सहज निर्माण किया था। आदिकवि वाल्मीकि तथा कालिदास के मूल भाव को वेदना का उच्छल संगीत प्रदान कर तथा सर्वत्र सुन्दरतर रूप में प्रस्तुत कर इन्होंने उसे अत्यधिक कमनीय एवं लोभनीय बना दिया है। सिंहनी का दूध यहाँ सोने के पात्र में सुरक्षित है।

महाकवि भवभूति की शैली एवं शील में मान एवं स्वाभिमान का, निष्ठा एवं आशा का गौरवपूर्ण सम्मिश्रण हुआ है। कलागत मूल्यों के प्रति इनकी निष्ठा अनन्य थी। जैसा कि "ये नाम केचिदिह....." आदि श्लोक से पता चलता है कि इनको अपने जीवन काल में कट्टर पंडित समाज की कटूक्तियों का प्रकाम गरलपान करना पड़ा था, किन्तु इससे भवभूति के भावुक नाटककार को चाहे जितना भी आघात एवं क्षोभ हुआ हो, किन्तु कलागत मूल्यों के प्रति इनकी गंभीर आस्था उत्तरोत्तर दृढ़तर ही होती गयी है। प्रस्तुत पंक्तियों में उनके गौरवपूर्ण व्यक्तित्व का, मान एवं स्वाभिमान का, अपरिमित निष्ठा एवं उज्ज्वल आशावाद का गुरुगम्भीर स्वर मुखर हुआ है। वर्त्तमान की कुहेलिका से विक्षुब्ध कलाकार भविष्य के मंगलमय प्रभात की किसी सुनहली आशा किरण से गौरवान्वित होता रहता है—अपनी

१. उ० च०—१।१०

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रतिभा के फूल को स्वयं सूंघकर आनन्दविभोर हो जाता है। अंग्रेजी साहित्य के सुप्रसिद्ध रोमांटिक कवि शेली भी वर्त्तमान से विक्षुब्ध होकर नये भविष्य की मधुर कल्पना से मुग्ध होकर मस्ती का गीत गाता है—"इफ वीन्टर कम्स, केन स्प्रींग वी फार विहाइन्ड"। उसे यह दृढ़ विश्वास है कि उनके साहित्यिक मूल्यों का समुचित आदर अगर आज नहीं तो कल अवश्य होगा, क्योंकि देशकाल के इस व्यापक आयाम में कोई समानधर्मा सुधी कलाकार अवश्य ही जन्म लेगा, जो उनकी कृतियों एवं कृतित्वों का समुचित सम्मान करेगा[1]। यह मात्र प्रतिभा एवं पाण्डित्य का मिथ्या उद्घोष नहीं, बल्कि एक विद्वान् कलाकार की सात्विक अनुभूति का, अटूट निष्ठा एवं गम्भीर आशावाद का उज्वल उद्गार है।

दाम्पत्य प्रणयभाव के आदर्श चित्रकार

भवभूति के वैयक्तिक तथा घरेलू जीवन के विषय में भी विद्वानों ने काफी अटकलबाजियां लगायी हैं। उनके नाटकों में दाम्पत्य प्रणयभाव के अत्यन्त सुकुमार एवं उदात्त चित्रों को मनोविज्ञान की भूमिका में रखकर कुछ विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि भवभूति का अपना दाम्पत्य जीवन अत्यन्त विषम, कटु एवं कलहग्रस्त होगा। क्योंकि मनोविज्ञान के अनुसार प्रायः कोई भी कलाकार उन आदर्शों की स्थापना काफी संवेग के साथ करते दिखाई देते हैं, जिनका उनके वैयक्तिक जीवन में प्रायः अभाव ही अभाव रहता है। अपनी कृतियों में वह कला के माध्यम से उस अभाव की पूर्त्तिकर आत्मतोष करता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे इच्छापूर्त्ति का सिद्धांत कहा जाता है। किन्तु इस विषय में तर्क ही किया जा सकता है, कुछ सप्रमाण इदमित्थं कहना अत्यन्त दुःसाहसपूर्ण व्यापार है। यद्यपि यह सत्य है कि तत्कालीन कट्टरपंथी पंडित समाज ने उन्हें तथा उनकी कृतियों को समुचित सम्मान नहीं दिया था, और तभी उन्हें भावी परम्परा पर संतोष एवं विश्वास भी करना पड़ा था—"उत्पत्स्यते मम कोऽपि समानधर्मा"। किन्तु इस आधार पर उनके वैयक्तिक एवं घरेलू जीवन का शुष्क एवं विषम मानचित्र खींचना कदापि संगत प्रतीत नहीं होता। भवभूति की कृतियों में जिस गम्भीर आशावाद एवं पवित्र आदर्शवाद का उदात्त अवदात स्वर लहराता नजर आता है उससे उनका जीवन सर्वथा शृंखलित, मर्यादित, प्रशान्त एवं सौहार्दपूर्ण ही प्रतीत होता है। मात्र इच्छापूर्त्ति के लिये किये गये कार्यों में इतनी निष्ठा एवं तन्मयता नहीं देखी जा सकती। साथ ही अगर भवभूति का दाम्पत्य जीवन सर्वथा विषम एवं विषण्ण ही

१. मा० मा०— ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रतिनैष यत्नः।
उत्पत्स्यते मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥ १।६

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

होता, तो नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण इतना उदार, उज्वल एवं सुप्रसन्न नहीं हो सकता था। नारी के प्रति गौस्वामी तुलसीदास जी की इतनी संकुचित, कलुषित एवं अनुदार दृष्टि के मूल में उनके अपने दाम्पत्य प्रणयभाव विसंवादी स्वर ही गूंज रहा है। विक्षुब्ध मानव आदर्श चित्रकार कभी नहीं हो सकता, अगर वह चित्र बनाने बैठेगा भी तो उसकी मानसिक नीरवता की अवसादपूर्ण रेखाएँ चित्र में अवश्य उभर आयेगी। अभिज्ञान शाकुन्तल में महाकवि कालिदास ने इसे ही कलाकार का "भावचिह्नम्[1]" कहा है। उत्तररामचरित में दाम्पत्यभाव के सुप्रसन्न, उज्वल एवं श्रद्धेय चित्र अभरे हैं, निश्चय ही वे कवि की अभावात्मक अनुभूति की ऊपज नहीं, वल्कि भावात्मक अनुभूति से छनकर निकले प्रतीत होते हैं। श्रद्धापूर्वक उनकी कृतियों के अध्ययन के बाद जो एक तपःपूत, संस्कृति विपुल, एवं संस्कारस्नात लोक सामने आता है, उसमें कवि के निस्संग मानस का अपवाद एवं नीरस अवकाश का व्यर्थ क्षण नहीं, वल्कि एक व्यापक मनोयोग के साथ जीवन एवं साहित्य में सानन्द विचरण की दिव्यनिष्ठा लीला विद्यमान है। वह उनके ऐहिक अभाव की पूर्त्ति का सहज उपाय नहीं, वल्कि चिरन्तन शान्ति एवं पवित्रता के मनोराज्य में आमुष्मिक आनन्द भाव की कलात्मक परिणति। भवभूति की कला में नारी गृहलक्ष्मी एवं देवी के पद पर समासीन है वह समस्त मातृमहिमा से मंडित एवं विश्ववन्दनीया है[2]।

भावात्मक अनुभूति की उज्ज्वल अभिव्यक्ति

नारी के प्रत्येक रूपों ने कवि के स्वाध्यायपूतमानस को आवर्जित अवश्य किया है फिर भी पराजित नहीं। शारीरिक सौन्दर्य की अपेक्षा उसके अनाविल शील एवं सद्गुणों ने ही कवि मानस को अधिक प्रभावित एवं उत्प्रेरित किया है। कालिदास के रूप की सुरा भवभूति की कला में शील की सुधा वन गयी है। वह उत्पत्ति से परिपूत है। जिस प्रकार तीर्थोदक एवं वह्नि अपनी स्वाभाविक पवित्रता से ही पूत एवं वन्द्य है उसी प्रकार भवभूति की नारी भी आजन्म शुद्धशीला एवं विश्ववन्दनीया है[3]। वह 'गेहे लक्ष्मी' है, पवित्र जीवनसंगिनी है और उसका प्रत्येक स्पर्श अमृततुल्या

---

१. द्रष्टव्य—अभि० शा० शा०—
राजा—निपुणोभवान् अस्त्यत्र ममापि भावचिह्नम्—पृ० ४९४

२. उ० च०—इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि वहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः,
किमस्या न प्रेयो ? यदि परमसह्यस्तु विरहः॥ १।३८
द्रष्टव्य—१।३९

३. उ० च०—उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरै-
तीर्थोदकं च वह्निश्च, नान्यतः शुद्धिमर्हतः॥ १।१३

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। उसका प्रेम भाग्य से ही किसी सुमानुष को प्राप्त होता है[1]। भगवती अरुन्धती को संबोधित कर ज्ञानी जनक का जो विनत भावोद्गार प्रकट हुआ है वह सामान्यतः नारी के प्रति भवभूति का अपना दृष्टिकोण है[2]। भवभूति की दृष्टि में विवाह केवल विलास का साधन नहीं बल्कि कर्तव्य पालन का एक स्वर्गीय उपाय हैं। वह त्याग और तपस्या के लिए है। 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' उसका उज्ज्वल आदर्श है। दम्पती के अन्तःकरण की स्नेहमय आनन्द-ग्रन्थि ही तो संतान होती है[3]। ऐसे पवित्र कलाकार के दाम्पत्य प्रणयचित्रों को अभावात्मक अनुभूति का नीरव-निष्करुण उच्छ्वास कहना अनुचित ही नहीं, जघन्य भी है। वस्तुतः भवभूति बड़ी ही निष्ठा और मर्यादा से जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति थे। धर्म, कर्म के प्रति उनकी गहन आस्था थी। इस विश्वास की धवलधारा में आपाद मस्तक निमज्जित होकर उन्होंने जो कुछ दिया निस्सन्देह वह साहित्य संसार की एक अक्षय निधि है।

भवभूति गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति थे, किन्तु उनकी गम्भीरता में श्मसान की नीरवता नहीं, बल्कि दण्डकारण्य के वन-पर्वतों की व्यापकता एवं विद्रूपता का नैसर्गिक सौन्दर्य विद्यमान है। इस व्यक्तित्व गाम्भीर्य के निर्माण में उनके निगमागम पाण्डित्य का पुण्य प्रभाव तो है ही, साथ ही जीवन और साहित्य के प्रति उनके नवीन दृष्टिकोण के कारण तत्कालीन कट्टरपंथी पण्डित समाज की कटूक्तियों तथा उपेक्षाओं का मनोवैज्ञानिक योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनके प्रकृति गाम्भीर्य का अमिट प्रभाव उनकी नाट्यकृतियों में स्पष्ट रूप से अंकित है मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति अपनी अन्तःप्रकृति के अनुसार ही किसी वस्तु को सोचता या समझता है और वह जिस रूप में उसे अनुभव करता है अन्त में उसी रूप में ढलता भी है। भवभूति का स्वभावगत गाम्भीर्य उसकी अभिव्यक्ति की प्रत्येक विधा में संस्कार रूप से विद्यमान है। उनके नाटकों में विदूषक जैसे विनोदी पात्र का नितान्त अभाव उनके व्यक्तित्व गाम्भीर्य के प्रबल परिचायक है। इसके अतिरिक्त

---

१. वही,— अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थ्यते॥ १।३९

२. वही,—जनकः (उपसृत्य) भगवत्यरुन्धति ! वैदेहः सीरध्वजोऽभिवादयते।
यथा पूतमन्यो निधिरपि पवित्रस्य महसः,
पतिस्ते पूर्वेषामपि खलु गुरूणां गुरुतमः।
त्रिलोकीमंगल्यामवनितललीनेन शिरसा,
जगद्वन्द्यां देवीमुषसमिव वन्दे भगवतीम्॥ ४।१०

३. उ० च०— अन्तःकरणतत्त्वस्य, दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते॥ ३।१७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दण्डकारण्य की प्रकृति के प्रसन्न मधुर दृश्यों की अपेक्षा उसके भीषण भयावह दृश्यों की ओर ही इनका ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ है। रस निष्पत्ति की दृष्टि से भी शृंगार और शांत रस की अपेक्षा करुण बीभत्स एवं वीररस की सजीव अवतारणा में इनकी चित्तवृति विशेष रमती नजर आती है। इसके अतिरिक्त इनकी सघन-गम्भीर अभिव्यक्ति शैली भी इनके प्रकृति गाम्भीर्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं। फिर भी इन विराट्, विद्रूप, भीषण और भयावह दृश्यावलियों के बीच यत्र-तत्र भवभूति के तपःपूत मानस की दिव्य सुधाधारा भी अविरामगति से प्रवाहित हुई है जो इनके कविकर्म को एक शाश्वत मूल्य तथा अक्षय सौन्दर्य प्रदान करती है। दण्डकारण्य में निदाघ वर्णन की विद्रूपता के बीच पुण्यसलिला गोदावरी की पवित्र धारा का प्रकृत वर्णन कितना स्वच्छ, कितना प्रसन्न और कैसा हृदयकारी है[1]? उ० च० के षष्ठ अंक में सांग्रामिक वातावरण के बीच जननान्तर प्रेम की पवित्र अभिव्यक्ति इनके प्रसन्न गंभीर व्यक्तित्व के उज्वल प्रमाण हैं[2]।

वस्तुतः महापुरुषों के व्यक्तित्व को किसी परिभाषा की सीमारेखा में बांधा नहीं जा सकता। वह सर्वथा लोकोत्तर और दिव्य होता है। भवभूति ने भगवान् श्रीराम के व्यक्तित्व निर्णय में जो निष्कर्ष निकाला है, वह कवि–व्यक्तित्व के साथ भी सोलहो आना सच मालूम होता है। महापुरुषों का हृदय वज्र से भी अधिक कठोर और फूल से अधिक सुकुमार होता है—इस रहस्य को सही-सही कौन समझ सकता है? :—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति?[3]॥

आर्थिक स्थिति का अनुमान तथा कल्हण के कथन की परीक्षा

भवभूति की आर्थिक स्थिति के विषय में भी कुछ सप्रमाण इदमित्थं नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके नाटकों में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता जिससे उनके आर्थिक जीवन पर कुछ प्रकाश पड़े। संभवतः आर्थिक दृष्टि से उनका जीवन न तो अधिक सम्पन्न ही था और न अधिक विपन्न ही। क्योंकि उनकी कृतियों में कहीं भी

---

१. उ० च० शम्बूक :—…पश्यतु महाभागः प्रशान्तगम्भीराणि श्वापदकुलशरण्यानि महारण्यानि।
इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरमुक्त-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुंज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः॥ २।२०

२. वही, ६।२२

३. उ० च०—२।७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भौतिक ऐश्वर्य का पार्थिव गन्ध नहीं अनुभव होता और साथ ही कहीं विपन्नता का नग्न दृश्य भी नहीं दिखायी पड़ता। यों काश्मीरी कवि कल्हण ने भवभूति को कान्यकुब्जाधीश्वर यशोवर्मा का दरबारी कवि कहा है[1]—फिर भी उनकी यह मान्यता कुछ संदेहास्पद प्रतीत होती है। भवभूति और कल्हण के बीच लगभग चार शताब्दियों का व्यवधान है, अतः निश्चित है कि भवभूति के विषय में उन्हें कोई प्रत्यक्ष जानकारी नहीं थी। हो सकता है कि किसी परम्परागत किंवदन्ती के आधार पर ही उन्होंने ऐसा लिख दिया अथवा बहुत संभव है कि यशोवर्मा के दरबारी कवि वाक्पतिराज द्वारा लिखित भवभूति के प्रशस्तिवाक्य को ही ध्यान में रखकर कल्हण ने भवभूति को भी यशोवर्मा के राजदरबार से संबद्ध घोषित कर दिया हो। क्योंकि भवभूति के नाटकों में कहीं भी राजकीय ऐश्वर्य तथा भौतिक वैभव का कोई चित्र नहीं मिलता। उनके नाटकों का प्रथम अभिनय भी किसी राज दरबार में न होकर भगवान् कालप्रियानाथ की यात्रा के सार्वजनिक उत्सव में हुआ था[2]। फिर भी यदि कल्हण की बात सही ही मानी जाय तो यही संभव प्रतीत होता है कि भवभूति अपने तीनों नाटकों को लिख चुकने के बहुत बाद कदाचित् वृद्धावस्था में ही यशोवर्मा के दरबार में दाखिल हुए होंगे।

जहाँ तक भवभूति की कृतियों का सम्बन्ध है भारतीय परम्परा उन्हें तीन नाटकों के अमर कलाकार के रूप में जानती है। किन्तु यत्र-तत्र उनके कुछ ऐसे श्लोक भी उपलब्ध होते हैं जो उनकी उपलब्ध कृतियों में नहीं मिलते। हो सकता है कि भवभूति ने इन तीन नाटकों के अतिरिक्त अन्यत्र भी अपनी काव्य प्रतिभा का विलास प्रस्तुत किया हो। भवभूति की उर्वर प्रतिभा एवं अपरिमित काव्यशक्ति को देख कर यह अधिक संभव भी प्रतीत होता है कि उन्होंने इन तीन नाटकों के अतिरिक्त कालिदास की तरह कुछ श्रव्यकाव्यों का भी प्रणयन अवश्य ही किया होगा, केवल तीन नाटकों को लिखकर उनकी अलोक सामान्य प्रतिभा थकने वाली या संतुष्ट होने वाली नहीं दीखती। शारंगधर पद्धति, श्रीधर के सदूक्तिकर्णामृत, जल्हण की सूक्ति-मुक्तावली तथा गदाधर के रसिक जीवन जैसे सूक्तिसंग्रहों में भवभति के ऐसे फूटकल कई श्लोक "काव्यप्रतिभास्फुलिंग" के रूप में बिखरे पड़े हैं जो उनकी उपलब्ध नाट्यकृतियों में नहीं मिलते। अवश्य ही उनका सम्बन्ध भवभूति की किसी अन्य कृतियों से है जो आज किसी कारण वश संस्कृत के अन्य ग्रन्थों की तरह कालकवलित हो चुकी हैं।

---

१. राजतरंगिणि—कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥ ४।१४४

२. उ० च०— अथ खलु भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रायामार्यमिश्रान्विज्ञापयामि।
—प्रस्तावना।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भवभूति के जो तीन नाटक उपलब्ध हैं—वे हैं—महावीरचरितम्, मालती-माधवम् और उत्तररामचरितम्। इनमें कालक्रमानुसार महावीरचरितम् कवि की प्रथम रचना है और उत्तरचरित अन्तिम। इन दोनों नाटकों में कवि ने वाल्मीकि के पावन चरित भगवान् श्रीराम के सम्पूर्ण जीवनवृत्त को नाटकीय भूमिका प्रदान की है। महावीरचरित में राम के जीवनवृत्त का पूर्वांश तथा उत्तरचरित में उत्तरांश प्रस्तुत किया गया है। मालतीमाधव शूद्रक की मृच्छकटिक की तरह एक प्रकरण है, जिनकी कथावस्तु कविकल्पना प्रसूत है। ये तीनों नाटक भवभूति प्रणीत हैं—इसमें विचिकित्सा का कोई अवकाश नहीं है। इनमें परस्पर श्लोकों, श्लोकांशों, पदांशों एवं गद्यखण्डों की आवृति तो हुई ही है साथ ही कल्पना, भाव एवं नाटकीय टेकनीक भी तीनों की मिलती जुलती एक जैसी है। इन तीनों नाटकों में कवि की उपलब्धि एवं सफलता भी कालक्रमानुसार ही आंकी जा सकती है। ये तीनों नाटक भवभूति की नाट्यप्रतिभा तथा काव्यकलाप्रौढ़ि के तीन मीलस्तम्भ हैं। महावीरचरित में भवभूति की नाट्यप्रतिभा किशोरावस्था में खिलती नजर आती है जो पुनः मालती-माधव में जवानी की सिन्दूर उड़ाती उत्तरचरित मे आकर चरमोत्कर्ष को प्राप्त करती है। यद्यपि महावीरचरित में भी उत्तरचरित के नाटककार की कला प्रकृति तथा व्यक्ति संस्कृति पूर्णरूपेण सुरक्षित है फिर भी उसकी अलोक सामान्य सिद्धि का चूड़ान्त परिपाक हमें उत्तरचरित में ही उपलब्ध होता है। उत्तररामचरितम् में आकर कवि शब्दब्रह्मविद् एवं परिणतप्रज्ञ को जाता है[1] :—

"शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणीमिमाम्"।

१. उ० च०—भरतवाक्य—७।२१

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय ३

वस्तु संविधान

कथा-वस्तु का सामान्य अर्थ

भारतीय नाट्य परम्परा में नाटक के आधिकारिक इतिवृत्त को संक्षेप में वस्तु कहते हैं। कथानक, कथावस्तु, वृत्त, इतिवृत्त आदि शब्द पर्याय रूप में ही व्यवहृत हुए हैं। यद्यपि अंग्रेजी साहित्य के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार 'फारेस्टर' ने कथा और वस्तु को क्रमशः प्लाट और थीम दो भिन्न नाम देकर क्रमशः उसे दो भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया है।[1] उनके अनुसार वस्तु (थीम) कथा (प्लाट) का पर्यवसित रूप है और कथा है वस्तु की विस्तृत कथन प्रक्रिया। फारेस्टर के अनुसार 'राम ने निर्वासिता सीता को पुनः प्राप्त किया' यह समस्त उ० च० की वस्तु है और 'प्रजानुरंजन के लिए राम ने सीता को निर्वासित किया तथा अनेकानेक विपत्तियों के बाद पुनः वाल्मीकि की अनन्य कृपा से सीता को प्राप्त किया' यह उ० च० की कथा कही जायगी। किन्तु भारतीय नाट्य शास्त्रियों ने कथा और वस्तु में इस तरह का कोई भेद नहीं स्वीकार किया है, बल्कि भारतीय आचार्यों ने समस्त नाटकीय अधिकारिक वृत्त को समन्वित रूप में कथानक, वस्तु, कथावस्तु, इतिवृत्त आदि शब्दों से अभिहित किया है। यों दोनों की अर्थ प्रकृति में कोई मौलिक विभेद नहीं है, फिर भी अर्थ बोध की प्रक्रिया में दोनों की स्वरूपगत भिन्नता स्वतः स्पष्ट एवं संवेद्य है। यह बात भिन्न है कि काव्य नाटक में कथातत्त्व का ही मूल्य एवं महत्त्व होता है। कथातत्त्व की प्रधानता के कारण ही साहित्य में काव्य एवं नाटक का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व एवं पृथक् व्यक्तित्व माना जाता है। कोई भी सचेता वस्तु बोध के लिए काव्य या नाटक नहीं पढ़ता, उसकी समस्त जिज्ञासा एवं उत्सुकता का मूल संरम्भ कथा कहने तथा सुनने की कला में निहित है, जिसके द्वारा कवि या नाटककार अपने अंतस् को अभिव्यंजित करता है।

कथावस्तु का महत्त्व

अतएव कथातत्व नाटक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंश है। कथातत्त्व की रमणीयता, व्यापकता तथा गतिशीलता पर ही नाटक का महत्त्व, माधुर्य एवं सौन्दर्य अवलम्बित रहता है। यद्यपि भारतीय नाट्य शास्त्र में रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है, वस्तु, नेता आदि विभिन्न नाटकीय तत्त्वों का सूक्ष्म उद्देश्य

---

१. आस्पेक्स ऑफ दि नोवेल्स–इ० एम० फारेस्टर–पृष्ठ ९३, पेलिकन बुक–१९६२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी इसी रस के दिव्योन्मेष में सन्निहित है[1]—"रस प्राणों हि नाट्य विधिः।" फिर भी रस का आधारभूत तत्त्व कथानक ही होता है। दार्शनिक दृष्टिकोण से जिस प्रकार आत्मा पार्थिव शरीर को छोड़कर पृथक् रूप से प्रतिभासित नहीं हो सकती, उसी प्रकार कथातत्त्व के विना पृथक् रूप से रस की भी अनुभूति नहीं हो सकती। कथानक के अन्तराल से ही रस का अमृत निष्यन्द होता है, आनन्द का दिव्य आलोक प्रस्फुटित होता है जिसके पावन परस से सहृदयों का तन, मन, प्राण पुलकित होता रहता है। अतः ऐसा माना जाता है कि नाटक में कथानक का कलेवर जितना ही व्यापक, गतिशील एवं स्वाभाविक होगा, आनन्द की उपलब्धि उतनी ही स्वस्थ, स्थायी एवं सर्वसुलभ होगी। कथानक के कंकाल में कवि अपनी अन्तश्चेतना की समस्त उपलब्धियों का संधान करता है तथा अपनी चिरन्तन कल्पना कला के द्वारा उसमें जीवन का संचार करता है। इस जीवन रस की दिव्य अनुभूति ही काव्य में आनन्दानुभूति मानी जाती है।

वस्तु और रस में सामंजस्य

नाटक की चिरंतन सौन्दर्य एवं अक्षय माधुर्य प्रदान करने के लिए कथावस्तु एवं रस संविधान में अन्तः सामंजस्य होना नितान्त आवश्यक माना गया है। भारतीय नाट्य शास्त्रियों को न तो रसातिरेक के द्वारा कथावस्तु का विच्छिन्न होना ही सह्य है और न तो वस्तु या अलंकार के समुत्कर्ष द्वारा रसानुभूति का सर्वथा तिरोभाव ही ग्राह्य है। धनंजय ने इसीलिए दोनों तत्त्वों के अन्तःसामंजस्य एवं मधुर समन्वय में ही नाट्य कला का चरम उत्कर्ष स्वीकार किया है।

न चाति रसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्
रसं वा न तिरोदध्यात् वस्त्वलंकारलक्षणैः[2] ॥

संस्कृत नाटकों में कथावस्तु को रसनिर्भर बनाने के लिए आचार्यों ने बार-बार जोर दिया है। आनन्दवर्धन का स्पष्ट आदेश है कि इतिवृत्त के अनुरोध से यदि कहीं रसप्रतिकूल रचना उपस्थित भी हो जाय, तो नाटककार उसे मध्य में ही छोड़कर कल्पना द्वारा अन्य सरस कथा का उन्नयन करे[3]। क्योंकि काव्य में केवल इतिवृत्त के निर्वाह से ही कविकर्म का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता—"नहि कवेरिति-वृत्तमात्रनिर्वाहेण किंचित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः[4]।" अतः ध्वनिकार ने

---

१. ना० शा०—षष्ठाध्याय।
२. दश०—३।१२
३. ध्वन्या०—इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वा ननुगुणांस्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥ आनन्दवर्धन, ३।६७ का०
४. वही,—तृतीय उ०—पृष्ठ ३१२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कवियों को हमेशा रसपरतन्त्र होने की नेक सलाह दी है "प्रबन्धमुपनिबध्नता कविना सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्[1]।"

औचित्य और औदात्य का महत्त्व—भरत तथा आनन्दवर्धन का मत

नाटकीय कथावस्तु को रसपेशल बनाने के लिए भारतीय आचार्यों ने दो महत्त्वपूर्ण साधनों का संधान किया है—औचित्य और औदात्य। इस औचित्य के सम्यक् निर्वाह के लिए नाटक में प्रख्यात कथावस्तु को विशेष महत्त्व दिया जाता है।[2] 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' की युक्तिमता के लिए भरतमुनि ने औचित्य को प्रधान साधन माना है। उनका कथन है कि नाटकीय कथावस्तु के साथ भाषा-भाव, छन्द और क्रिया के अन्तः सामंजस्य से ही अभीष्ट फल की सिद्धि होती है :—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं हि पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥[3]

आनन्दवर्धन ने भी औचित्य को ही रसाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति का मूल कारण माना है। उनका स्पष्ट कथन है कि अनौचित्य से बढ़कर रसभंग का कोई दूसरा कारण नहीं है और औचित्य से बढ़कर रसाभिव्यक्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं है।[4]। अतः नाटकीय कथावस्तु के विन्यास में भी नाटककार औचित्य की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता। कालिदास भवभूति आदि महान् नाटककारों के नाटकों की सफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि इन्होंने अपनी नाट्य कृतियों में सर्वत्र ही औचित्य का निर्वाह किया है।

कथावस्तु का मांगलिक स्वरूप

जहाँ तक संस्कृत नाटकों की रचना के प्रयोजन का संबंध है वह केवल दर्शकों एवं पाठकों के मनोरंजन के लिए ही नहीं होता, बल्कि जीवन के सामान्य अस्तित्व एवं स्तर को उदात्त एवं अनुकरणीय बनाने की मंगल भावना से भी उत्प्रेरित होता है। नाटक में इसी औदात्य की रक्षा एवं निर्वाह के लिए नाटकीय कथानक में नायक अथवा रस के विरोधी तत्त्वों को सर्वथा त्याज्य माना जाता है अथवा उसकी अन्यथा प्रकल्पना कर दी जाती है—

---

१. ध्वन्या०—तृतीय उद्योत, पृष्ठ ३११

२. वही,—प्रबन्धप्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्तव्यतयोपन्यस्तम्।—आनन्दवर्धन, तृतीय उद्योत, पृष्ठ ३०२

३. ना० शा०—१४।६८

४. ध्वन्या०—अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा॥
आनन्दवर्धन, तृतीय उद्योत–पृ० ३०२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यत्तत्रानुचितं किंचित् नायकस्य रसस्य वा,
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्॥[1]

यही कारण है कि शाकुन्तल में कालिदास ने महाभारत के पतित दुष्यन्त को तथा उत्तरचरित में भवभूति ने पति प्राणा सीता को अकारण निर्वासित करने वाले वाल्मीकि के राम को अपनी कल्पना के गंगाजल से धोकर सर्वथा निर्दोष, भव्य एवं आदर्श व्यक्तित्व प्रदान किया है। संस्कृत नाटकों में कथावस्तु का महत्त्व अत्यन्त ही महान् और महनीय है। उसमें कुरूपता एवं कृपणता की उपलब्धि नहीं होती। वह भूमा का मंगलमय राज्य है जिसका भव्य आदर्श समस्त जाति जीवन के आध्यात्मिक अभ्युत्थान तथा उसके मांगलिक संविधान में निहित है।[2] यद्यपि इसमें कृपणता एवं कुरूपता का, करुणा एवं दैन्य का, पतन एवं पराजय का, उच्छृङ्खल उद्दाम काम भावनाओं का भी मासंल चित्रण प्रकाम रूप से उपलब्ध होता है, फिर भी अन्त में यह हमें बरसाती नदियों से बहाकर प्रशान्त महासागर में पहुँचा देता है, जागतिक भोग की वीथियों से ले जाकर हमें योग यज्ञ की पवित्र वेदी पर प्रतिष्ठित कर देता है। संस्कृत नाटकों की कथवास्तु आचार्यों की पुरुषार्थ-वादी प्रतिभा की चिन्मय ज्योति से सदा देदीप्यमान है।

जीवन विकास के अनुरूप ही नाटकीय कथावस्तु का सुनिश्चित प्रारम्भ, मध्य और अवसान होता है। इसका प्रारम्भ अत्यन्त भव्य, उत्सवपूर्ण और प्रभविष्णु होता है और उत्तरोत्तर विकास क्रम में द्वन्द्व, संघर्ष एवं जटिलता का समावेश होता जाता है किन्तु अन्त में उसका मंगलमय अवसान दिखाया जाता है। संस्कृत नाटकों की यह मांगलिक और सुखान्त प्रकृति ऐकान्तिक एवं अवास्तविक नहीं, बल्कि यह सुख-दुख का एक अनमिल घोल है जिसमें हर्ष, विषाद, दुःख तथा दैन्य का पारस्परिक संघर्ष मिश्रित रहता है। यह ग्रीष्म की ऊष्मा और शरद् की सुषमा की सहस्थिति है। विपत्ति के व्यूह से निरंतर संघर्ष करता हुआ मानव अन्त में सफलता के सोम शिखर पर समासीन होता है। यही हमारी काव्यकला का गन्तव्य है, समस्त जाति जीवन का मन्तव्य है। काव्य में केवल वही यथार्थ एवं वरेण्य नहीं जो हमारी आँखों के आगे जीवन जगत में चतुर्दिक संघटित हो रहा है, बल्कि वह भी वास्तविक एवं वरेण्य ही है जो हमारी कल्पना एवं भावना के संसार में भी संघटित हो सकता है। सच पूछिये तो जीवन जगत का यह संभावित पक्ष ही साहित्य में अधिक काम्य एवं बहुचर्चित रहा है।

---

१. दश०—धनंजय, ३।२२

२. ना० शा—धर्म्यं यशस्य मायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतत् भविष्यति॥—१।११५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कथावस्तु की मूल प्रकृति

जहाँ तक भारतीय नाटकों में कथावस्तु की मूल प्रकृति का सम्बन्ध है वह तीन प्रकार की मानी गयी है—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र।[1] इनमें इतिहास प्रसिद्ध कथावस्तु को प्रख्यात कहते हैं और कविकल्पित को उत्पाद्य। और जिसमें प्रख्यात तथा उत्पाद्य दोनों का मधुर सम्मिश्रण रहता है उसे मिश्र इतिवृत्त कहते हैं। यूनानी समालोचक अरस्तू ने भी नाटकीय कथावस्तु की इन तीन प्रकृतियों का उल्लेख किया है—दन्त कथामूलक, कल्पनामूलक और इतिहास मूलक।[2] इनमें दन्तकथा जो हमारी मिश्र कथावस्तु के अनुरूप है—इसे अरस्तू ने नाटकीय कथावस्तु के लिए सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है। इसका कारण कदाचित् यही है कि दन्तकथा में सत्य और कल्पना का मधुर सम्मिश्रण रहता है। इनमें सत्य अपनी विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता के कारण तथा कल्पनातत्त्व अपनी रमणीयता एवं संभाव्यता के कारण नाटकीय कथा की श्रीवृद्धि करते हैं। संस्कृत के अधिकांश नाटकों की कथावस्तु मिश्र प्रकृति की ही है। यों प्रख्यात एवं उत्पाद्य कथाओं का भी यत्र-तत्र विनियोग हुआ है, किन्तु मिश्र इतिवृत्त को ही आचार्यों ने अधिक काम्य एवं वरेण्य माना है।

दृश्य और सूच्य का विवेचन

नाटक एक रंगमंचीय विज्ञान है, अतः नाटककार को सदा रंगमंच की आवश्यकता एवं अनुरोध के अनुसार दृश्यों एवं घटनाओं का संयोजन करना पड़ता है। आधिकारिक इतिवृत्त के पूरे आयाम को प्रदर्शित करने का न तो यहाँ अवकाश है और न आवश्यकता ही—इसकी एक कलात्मक परिसीमा है। रंगमंच पर केवल वे ही दृश्य एवं कथासूत्र प्रदर्शित किये जाते हैं जो भव्य और उदात्त होते हैं तथा जो नाटकीय कथा के विकास में कोई गति प्रदान करने वाले होते हैं। किन्तु वे दृश्य जिसके प्रदर्शन में समय विशेष लगता है तथा जिसका प्रभाव दर्शकों के दिल-दिमाग पर बुरा अथवा विपरीत पड़ सकता है उसका प्रदर्शन रंगमंच पर वर्जित है। इन वर्जित दृश्यों में, देशविप्लव, राज्यभ्रंश, युद्ध, मृत्यु, विवाह, स्नान, भोजन, सुरत-केलि आदि दृश्यों की गणना की गयी है।[3] इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी कथासूत्र

---

१. दश०—प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदा त्रैधापि तत्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम्॥
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः।
धनंजय—प्रथम प्रकाश, १५ वीं कारिका।

२. अरस्तू का काव्यशास्त्र—डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ६९

३. सा० द०—दूराह्वानं वधौ युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गो मृत्युरतं यथा॥ इत्यादि, विश्वनाथ
षष्ठ परिच्छेद ७, कारिका।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हैं जो वस्तु विकास के लिए आवश्यक होते हुए भी कलात्मक अनुपयुक्तता के कारण रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किये जा सकते। इनमें व्यवहारिक कठिनाइयों के अतिरिक्त कुछ नैतिक विपत्तियाँ भी हैं, जिससे प्राचीन ऋषियों ने इन दृश्यों को रंगमंच के लिए अनुपयुक्त समझकर प्रत्याख्यान किया है। इस आधार पर कथावस्तु के पुनः दो भेद किये जाते हैं—दृश्य और सूच्य।[1] दृश्य कथा भाग मंच पर विधिवत अभिनीत किया जाता है और सूच्य कथांशों की सूचना कुछ नाट्य रूढ़ियों के द्वारा दे दी जाती है। ये रूढ़ियाँ 'अर्थापक्षेपक' कही जाती हैं। इसके भी पाँच प्रकार हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य और अंकावतार।[2] किन्तु नाटकीय प्रयोग एवं परम्परा की दृष्टि से इनमें विष्कम्भक और प्रवेशक ही अधिक व्यवहारिक और महत्त्वपूर्ण हैं।

पंचकत्रय का मूल उद्देश्य तथा महत्व

इसके अतिरिक्त नाटकीय वस्तु शिल्प को समझने के लिए प्राचीन आचार्यों ने अनेक महत्त्वपूर्ण विधियों का संधान किया है। कथावस्तु का समुचित संगठन उसकी शुद्धता तथा रसनिर्भरता नाट्य शिल्प का सर्वस्व माना जाता है। अनावश्यक रूप से लदी हुई, बेडौल तथा गतिहीन कथावस्तु सफल नाट्यकृति के लिए घातक है। कथावस्तु के आरंभ, विकास और उद्देश्यपूर्ण उपसंहार को लक्ष्य में रखकर घटनाओं, पात्रों तथा रसों की सृष्टि करना नाटककार का एक अपेक्षित एवं महत्वपूर्ण दायित्व माना जाता है। अतएव नाटकीय कथावस्तु को संतुलित तथा गतिशील बनाने के लिए नाट्य शास्त्रियों ने तीन मापदण्डों का आविष्कार किया है—अवस्थापंचक, अर्थप्रकृति पंचक और संधिपंचक।

इनमें अवस्थापंचक का अभिप्राय नाटक में निबद्ध नायक के व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर विकास करना है। नाटक में अन्यान्य चरित्रों का विकास भी इसी उद्देश्य से किया जाता है कि उसकी भूमिका में प्रधान नायक का व्यक्तित्व शतदल की भाँति पूर्ण रूपेण उन्मीलित हो सके। अतः आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति

---

१. दश०—द्वैधाविभागः कर्त्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत्किंचिद् दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥ १।५६
नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥ १।५७

२. वही,—व्यर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पंचभिः प्रतिपादयेत्।
विष्कम्भचूलिकांकास्यांकावतारप्रवेशकैः ॥ धनंजय—१।५८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और फलागम[1]—इन पंचावस्थाओं का मूल स्वारस्य नायक के व्यक्तित्व विकास में ही सन्निहित है।

जहाँ तक अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध है वे नाटकीय इतिवृत्त के बाह्य रूप की सूचिका हैं—इनसे वस्तु का अंग विन्यास द्योतित होता है। नाटकीय वृत्तविकास की प्रथम बाह्य अवस्था बीज है जो वटबीज की तरह अंकुरित होकर निरंतर फल की ओर अग्रसर होता है[2]। वास्तव में ये पंच अवस्थायें तथा पंच अर्थ प्रकृतियाँ क्रमशः नाटकीय कथावस्तु के आन्तरिक एवं बाह्य रूपों को संघटित एवं संतुलित करने के कलात्मक उपाय हैं। यद्यपि यह कोई आवश्यक नहीं कि नाटककार उपर्युक्त रीति से ही वस्तु को विभाजित कर नाटक में संघटित कर दे, फिर भी कथावस्तु के वेग एवं विकास को समझने के लिए इनकी आवश्यकता असंदिग्ध है।

नाटकीय कथावस्तु में संधिपंचक की योजना का मूल अभिप्राय नाटक में बिखरी हुई समस्त अर्थराशि को अंगांगिभाव से परस्पर सम्बद्ध बनाना है। नाटकीय कथावस्तु के विकास में वे सजीव एवं रमणीय मोड़ जो अपनी मार्मिकता तथा नूतनता के कारण पाठकों को सहज ही आवर्जित कर देता है—इन्हीं पंचसन्धियों के परिणाम हैं। नाट्य शास्त्रकारों का कथन है कि अवस्थापंचक और अर्थप्रकृति पंचक का क्रमशः परस्पर सम्बंध ही संधिपंचक कहलाता है—

अर्थप्रकृतयः पंच पंचावस्था समन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंचसंधयः ॥[3]

ये संधियाँ क्रमशः—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण नामक पाँच प्रकार की हैं—जिन्हें संधि पंचक कहते हैं।

समालोचकों के विभिन्न मत तथा डॉ० कीथ के विचारों की समीक्षा

नाटकीय कथावस्तु में इन पंचकत्रय के विनियोग के विषय में काफी मतभेद है। कुछ विद्वान् इसे नाटकीय कथावस्तु के लिए आवश्यक मानते हैं और कुछ इसे अनावश्यक भी घोषित करते हैं। डॉ० ए० बी० कीथ ने अर्थ प्रकृतियों की कल्पना को सर्वथा अनावश्यक ही स्वीकार किया है। इसी प्रकार पंचावस्थाओं तथा पंच अर्थप्रकृतियों के मेल से पंच संधियों की निर्माण योजना को भी दोषपूर्ण

---

१. दश०—अवस्थाः पंच कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशा नियताप्तिफलागमाः ॥ १।१९

२. वही,—बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः।
अर्थप्रकृतयः पंच ता एताः परिकीर्तिता ॥ १।१८

३. वही,—१।२२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तथा अवैज्ञानिक घोषित किया है। जहाँ तक सन्धियों का सम्बन्ध है उनका कथन है कि ये नाटकीय कथावस्तु के लिए आवश्यक हैं क्योंकि इनमें नाटकीय संघर्ष पर जोर दिया गया है[1]।

वस्तुतः कथावस्तु के ये विभाजन प्रकार वस्तु गठन की शुद्धता एवं स्वाभाविकता के लिए अपनाये गये प्राचीन मापदण्ड हैं। इन्हें वस्तु संविधान का सर्वथा अपरिहार्य एवं सार्वभौम सत्य नहीं माना जा सकता—क्योंकि ये विभाजन प्रकार किसी लक्ष्य ग्रन्थ के आधार पर ही लक्षण ग्रन्थों में अनुशासित किये गये हैं। अतएव इन्हें आवश्यकता से अधिक खींचने पर अवश्य ही वस्तु विकास में कृत्रिमता का समावेश संभव हो सकता है। आँख मूँदकर सिर्फ नियम पालन के लिए सभी अर्थ प्रकृतियों एवं सन्ध्यंगों का एकत्र विनियोग निश्चय ही नाटकीय कथावस्तु के स्वाभाविक विकास के लिए घातक है[2]। इतिहास साक्षी है कि जिन नाटककारों ने सिर्फ नियम पालन के लिए शास्त्रों का अन्धानुसरण किया है उनके नाटक दो कौड़ी के सिद्ध हुए हैं। रत्नावली, वेणीसंहार आदि नाटक आज लक्षण ग्रन्थों के उदाहरण रूप में ही जी रहे हैं। जिस लोक रुचि का वरदान पाकर कोई नाट्य कृति धन्य होती है वह वरदान इन कृतियों को सुलभ नहीं हो सका। कालिदास भवभूति, विशाखदत्त आदि सुप्रसिद्ध नाटककारों की कृतियों की शाश्वत लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण कदाचित् यह भी है कि इन्होंने लक्षण ग्रन्थों को सामने रखकर नाटकों का निबन्ध नहीं किया है। फिर भी यह दूसरी बात है कि इन अमर कलाकारों ने नाट्यशास्त्रों की न तो कभी उपेक्षा ही की और न अपेक्षा ही। इन महापुरुषों की अन्तर्दृष्टि ही इतनी पूत है—कि कोई भी आवश्यक नियम इनकी आँखों से ओझल नहीं हो सका। फिर भी जो समालोचक इन नाटककारों की कृतियों में सभी नाट्य नियमों को हू-ब-हू घटाने का प्रयास करते हैं निश्चय ही वे गतानुगतिक हैं—क्योंकि आज तक कोई भी दो समालोचक किसी एक निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच सके हैं। इस प्रकार के भ्रम की संभावना विशेष कर स्वच्छन्दतावादी नाटकों में अधिक है। कालिदास, भवभूति आदि महान् नाटककारों की नाट्य कृतियों में इस पंचकत्रय को इदमित्थं रूप में निश्चित करने तथा घटाने का प्रयास इसीलिए किसी भी टीकाकार ने नहीं किया है। जो स्थल विशेष अत्यधिक स्पष्ट हैं वहाँ टीकाकारों ने पंचकत्रय की कुछ विधियों का निर्देश कर छुट्टी पा लिया है। अतएव नाटकों में वस्तु संविधान की दृष्टि से इस पंचकत्रय को

---

१. संस्कृत ड्रामा—डॉ० ए० बी कीथ

२. ध्वन्या०— सन्धिसन्ध्यंगघटनं रसाभिव्यक्तिपेक्षया।
न तु केवलया, शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥—आनन्दवर्धन—३।६८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आवश्यक माना जा सकता है फिर भी अपरिहार्य नहीं। वस्तु संविधान की इस शास्त्रीय पृष्ठभूमि में अब उ० च० की कथावस्तु की समीक्षा अपेक्षित है।

उत्तररामचरित का वस्तु संविधान

भवभूति का उत्तररामचरितम् सात अंकों का एक उत्कृष्ट नाटक है। इसके नायक मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम हैं और नायिका जगज्जननी श्रीजानकी जी। इसका अंगीरस करुण है। इस नाटक की कथावस्तु का मूलाधार वाल्मीकि रामायण का उत्तरकाण्ड है जिसमें राम और सीता के उत्तरचरित की करुण कथा वर्णित है। भवभूति ने राम कथा के इस करुण अंश को उ० च० में पूरे संवेग के साथ नाटकीय भूमिका प्रदान की है। अयोध्या के राज प्रसाद में राम राज्याभिषेक के बाद सीता निर्वासन से इस नाटक का प्रारम्भ होता है और महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में गंगा के पुनीत तट पर दोनों के पुनर्मिलन के साथ इसकी समाप्ति होती है। यह एक समस्यामूलक नाटक है। इसकी दो प्रमुख समस्याएँ हैं :—

(क) सीता जैसी सती साध्वी पत्नी को मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने अकारण क्यों निर्वासित किया ?

(ख) और फिर परित्याग की सारी स्थितियों के रहते हुए ही दोनों का पुनर्मिलन कैसे संभव हो सकता ?

इन्हीं समस्याओं के निदान और समाधान में उ० च० की पूरी कथा समर्पित है। उ० च० की कथावस्तु का जहाँ तक सम्बन्ध है उसका सार संक्षेप इस प्रकार है।

सार-संक्षेप

प्रथम अंक में राम राज्याभिषेक के बाद जनक के चले जाने पर सीता उदास और उन्मन हो जाती हैं। राम उन्हें सान्त्वना देते हैं। सीता के मनोविनोद के लिए वे सीता और लक्ष्मण के साथ उन चित्रों को देखते हैं जिनमें उनके विगत जीवन की करुण कथा चित्र रूप में अंकित है। यहीं पर सीता भगवती भागीरथी में एक बार पुनः अवगाहन की अभिलाषा प्रकट करती है। इसी बीच दुर्मुख नामक गुप्तचर सीता के 'रक्षोगृह स्थितिमूलक' लोकापवाद की सूचना राम को देता है। इस दुःसंवाद से राम को मर्मान्तिक पीड़ा होती है। उनके मानस में कर्त्तव्य और प्रेम का भीषण संघर्ष होता है। किन्तु लोकाराधन व्रत को परमधर्म मानकर वे सीता परित्याग के लिए लक्ष्मण को आदेश दे देते हैं। इधर सीता को भागीरथी-अवगाहन की इच्छा थी ही, अतः इसी व्याज से सीता को निर्वासित कर दिया जाता है।

द्वितीय अंक की कथावस्तु का प्रारंभ बारह वर्ष के बाद शुरू होता है। यहाँ तापसी आत्रेयी और वासन्ती के संवाद से यह विदित होता है कि राम ने अश्वमेध

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यज्ञ प्रारम्भ कर दिया है और महर्षि वाल्मीकि किसी देवता के द्वारा सौंपे गये दो कुशाग्र बुद्धि वाले बालकों को विधिवत उपनीतकर वेदाध्ययन करा रहे हैं। आत्रेयी के संवाद से यह भी सूचना मिलती है कि सीता निर्वासन से दुःखी होकर वशिष्ठ अरुन्धती कौशल्या आदि स्वजन-गुरुजन ऋष्यशृङ्ग के द्वादश वार्षिक सत्र से लौटने पर वाल्मीकि के आश्रम में ही निवास करेंगे। राम प्रजाहित के लिए दण्डकारण्य आकर शूद्रतपस्वी शम्बूक का वध करते हैं और इसके बाद वे पंचवटी प्रवेश करते हैं।

तृतीय अंक में तमसा और मुरला—दो नदियों के संवाद से यह सूचित होता है कि पति परित्यक्ता सीता अपने जीवन का अन्त करने के लिए गंगा में कूद पड़ी थी, वहीं लव और कुश का जन्म हुआ। गंगा ने सीता की रक्षा कर दोनों बच्चों को परमकारुणिक महर्षि वाल्मीकि के संरक्षण में सौंप दिया है। आज उन बच्चों की बारहवीं वर्षगाँठ है इसलिए भगवती भागीरथी ने उन्हें आदेश दिया है कि वे आज अपने कुल के उपास्यदेवता भगवान् सूर्य की उपासना करें। उन्हें भागीरथी का वरदान है कि उन्हें पृथ्वी पर कोई भी नहीं देख सकता।

इसके बाद सीता छाया के रूप में प्रकट होती हैं। इधर राम भी पंचवटी में प्रवेश करते हैं किन्तु वे छाया सीता को देख नहीं सकते। पंचवटी में राम वासन्ती के साथ पूर्वानुभूत प्रदेशों को देखकर सीता की स्मृति में व्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाते हैं। सीता उन्हें अपने कर स्पर्श से संजीवित करती है। इधर वासन्ती बातचीत के प्रसंग में अपने व्यंग्य वचन से राम को विद्ध कर देती है और राम अधीर होकर मुक्त कंठ से करुण क्रंदन करते हैं। सीता के क्षुब्ध मानस पर राम के इस अनुताप का बड़ा ही प्रशमनकारी प्रभाव पड़ता है और अन्त में राम के प्रति उनके हृदय का कालुष्य मिट जाता है।

चतुर्थ अंक का नाम "कौशल्या जनक योग" है। महर्षि ऋष्यश्रृंग के द्वादश वार्षिक सत्र से लौटकर राम के स्वजन गुरुजन महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में ठहरे हुए हैं। इधर सीता के पिता राजर्षि जनक—जो अब वैखानस हो गये हैं—वे भी वहाँ पहुँच जाते हैं और सीता अपवाद से दुःखी होते हैं। अरुन्धती के माध्यम से जनक और कौशल्या परस्पर एक दूसरे को सान्त्वना प्रदान करती हैं। इस समय अन्य बालकों के साथ लव का वहाँ प्रवेश होता है। उसकी मुखाकृति में राम और सीता का सौन्दर्य प्रतिबिम्ब देखकर जनक और कौशल्या विचलित हो उठते हैं। उसी समय अन्य ब्रह्मचारी बटुओं के द्वारा राम के यज्ञाश्व की सूचना पाकर लव वहाँ से चला जाता है। इधर अश्व रक्षकों की सामन्तशाही घोषणा सुनकर लव क्रुद्ध हो जाता है और यज्ञाश्व को पकड़ लेता है।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पंचम अंक का नाम 'कुमार विक्रम' है। युद्ध के वातावरण में लव और चन्द्रकेतु में दर्पयुक्त संवाद होता है। लव ने अपने जृम्भकास्त्र के प्रयोग से सभी को विस्मय विमुग्ध कर दिया है। युद्ध विराम के बाद दोनों का जनन्तर प्रेम भाव भी अज्ञात रूप में उमड़ पड़ता है। षष्ठ अंक का नाम "कुमार प्रत्यभिज्ञान' है। इसमें विद्याधर दम्पती के द्वारा लव और चन्द्रकेतु के भयंकर युद्ध का वर्णन संवाद के रूप में उपस्थित किया गया है। सहसा राम के आने पर युद्ध रुक जाता है। लव और कुश को देखकर राम के हृदय में पुत्र प्रेम की प्रच्छन्न धारा उमड़ पड़ती है किन्तु उन्हें यह मालूम नहीं हो पाता कि ये उन्हीं की संतान हैं।

उ० च० का सप्तम अंक 'सम्मेलन' अंक है। इसमें महर्षि वाल्मीकि के अलौकिक तपःतेज से राम अपने सभी स्वजन गुरुजन तथा प्रजावर्ग के साथ आश्रम में उपस्थित होते हैं। वाल्मीकि की दिव्य प्रेरणा से गर्भांक नाटक का अभिनय प्रारम्भ होता है। निर्वासिता सीता गंगा में कूद पड़ती है। वहीं पुनः एक एक बच्चे को गोद में लेकर गंगा और पृथ्वी सीता के साथ मंच पर प्रकट होती हैं। पृथ्वी राम की कठोरता की भर्त्सना करती है और गङ्गा उसका कारण बताती है। दोनों सीता को आदेश देती हैं कि तुम इन बच्चों का तब तक पालन करो जब तक ये वाल्मीकि के आश्रम में रहने योग्य नहीं हो जाँय। राम इस दृश्य को वास्तविक समझकर शोकावेग से मूर्च्छित हो जाते हैं। इसी बीच अरुन्धती सीता को लेकर मंच पर प्रकट होती है। सीता अपने करस्पर्श से राम को उज्जीवित करती हैं। सभी उपस्थित गुरुजन तथा प्रजावर्ग के सामने वाल्मीकि राम को लव और कुश को समर्पित करते हैं। और अरुन्धती के आदेश से राम अन्त में सीता को ग्रहण करते हैं। नाटकीय कथावस्तु का करुणाद्भूत दृश्य प्रसन्न और सुखमय हो जाता है। यहीं नाटक की समाप्ति होती है। संक्षेप में उ० च० की कथावस्तु यही है।

कथा-स्रोत

जहाँ तक उ० च० की कथावस्तु के मूलस्रोत का सम्बन्ध है निश्चय ही वह वाल्मीकि रामायण का उत्तरकाण्ड है जिसमें सीता-निर्वासन की करुण कहानी वर्णित है। भवभूति वाल्मीकि की काव्यसम्पदा के ऋणी हैं। उ० च० की नान्दी[1]

---

१. उ० च०—इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे।
विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम् ॥ १।१

(प्रस्तुत पद में पूर्व कवियों से महाकवि वाल्मीकि का ही आशय ग्रहण किया जाता है। यहाँ आदर के अर्थ में बहुवचन का प्रयोग हुआ है। यह प्रायः सभी टीकाकारों ने स्वीकार किया है।)

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तथा भरत वाक्य[1] के अतिरिक्त कई भिन्न प्रसंगों में भी भवभूति ने अत्यन्त विनम्र भाव से प्राचेतस वाल्मीकि तथा उनकी रामकथा के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। म० च० के आमुख में भवभूति ने वाल्मीकि तथा उनकी रामकथा के प्रति जो निसर्ग-निश्छल उद्गार प्रकट किया है उससे कवि का पावनचरित भगवान श्रीराम के प्रति सहज अनुराग एवं भक्तिभाव का स्वर फूटता प्रतीत होता है[2]। भवभूति ने अपनी दो नाट्य कृतियों में वाल्मीकि रामायण के पूरे इतिवृत्त को नाटकीय भूमिका प्रदान की है। इनमें विश्वामित्र के यज्ञ में प्रवेश से लेकर लंकाविजय के बाद अयोध्या में राम राज्याभिषेक तक की कथावस्तु म० च० में वर्णित है और शेष सीता निर्वासन की करुणकथा उ० च० के सात अंकों में निबद्ध है। अतः निश्चय ही उ० च० की कथावस्तु का मूल स्रोत वाल्मीकि रामायण का उत्तर काण्ड है—इसमें किसी प्रकार की विचिकित्सा का स्थान नहीं है।

पद्मपुराण और उत्तरामचरित की कथा की समीक्षा

यों पद्मपुराण के पाताल खण्ड में भी राम के उत्तर चरित की करुण कथा उपलब्ध होती है जो भवभूति के उ० च० की कथावस्तु से अधिक मिलती-जुलती भी प्रतीत होती है। कदाचित् इसी आधार पर डॉ० वेलवल्कर प्रभृति विद्वानों ने पद्मपुराण के पाताल खण्ड की राम कथा को भवभूति के उ० च० की कथावस्तु का मूल स्रोत घोषित किया है[3]। किन्तु डॉ० वेलवल्कर के इस मत को सहसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि भारतीय इतिहास में पुराणों की कोई निश्चित परम्परा नहीं हैं—उनके समय को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है। उनमें समय समय पर प्रक्षेप भी होते रहे हैं। अतः निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि पद्मपुराण के पाताल खण्ड की रचना भवभूति के पूर्व हो चुकी थी, या बाद में प्रक्षिप्त की गयी है। बहुत संभव है कि भवभूति के उ० च० की कथा को ही किसी कवि ने पद्मपुराण के पाताल खण्ड में अनुबद्ध कर दिया है किन्तु यदि पद्मपुराण के पाताल खण्ड की रामकथा भवभूति के पूर्व की रचना सिद्ध हो—तो कोई आश्चर्य

---

१. वही,—पाप्मभ्यश्च पुनाति वर्धयति च श्रेयांसि सेवं कथा,
मांगल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गंगेव च।
तामेतां परिभावयन्त्यभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणीमिमाम्॥ ७।२१

२. म० म०—प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमः कवीनाम्,
तत्पावनं रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम्।
भक्तस्य तत्र समरसत मेऽपि वाच-
स्तत्सुप्रसन्नमनसः कृतिनो भजन्ताम्॥ १।७

३. उ० च० की भूमिका—डॉ० वेलवल्कर, पृष्ठ ५६–५८, हारवर्ड युनिवरसिटी प्रेस, १९१५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

नहीं कि भवभूति ने पद्मपुराण की राम कथा से भी कुछ कल्पना बीज लेकर अपने उ० च० की राम कथा को समृद्ध किया हो। अस्तु, सत्य चाहे जो भी हो किन्तु वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड की रामकथा को ही अभीतक इदमित्थंरूप से भवभूति के उ० च० की कथा का मूल स्रोत माना जाता है।

अवान्तर स्रोत

भवभूति का अध्ययन अपार था और प्रतिभा बहुमुखी थी। अतः वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त कुछ भिन्न स्रोतों से भी उन्होंने काव्य बीज को लेकर उ० च० की कथावस्तु को उपबृंहित किया है। इन गौण स्रोतों में महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल तथा रघुवंशम् का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनकी कुछ बहुमूल्य कल्पनाओं तथा दृश्यों का दिव्य संस्कार उ० च० में सुरक्षित है। उ० च० के प्रथम अंक में चित्र दर्शन का बीज कालिदास के रघुवंशम् के निम्नांकित पद्य में ढूँढा जा सकता है—

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषो सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचित्यमानानि सुखान्यभूवन्[1] ॥

वस्तुतः उ० च० का चित्र दर्शन कालिदास के प्रस्तुत श्लोक का ही विस्तृत नाटकीय रूप है। जहाँ तक नाटकीय कथावस्तु के शैली शिल्प का संबंध है वह भी कालिदास के नाट्य शिल्प से प्रभावित एवं अनुरंजित प्रतीत होता है। कालिदास की शकुन्तला तथा भवभूति की सीता—दोनों का चरित्र एक ही रूप में विकसित होता दिखाई देता है। दोनों ही देवियों का अकारण पति द्वारा प्रत्याख्यान होता है। और दोनों ही अपने पति से परित्यक्त होकर तपस्विनी की तरह माँ की गोद में ही जीवन बिताती हैं। दोनों को परित्यक्तावस्था में ही पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है जो पुनः दोनों ही जगह वियुक्त दम्पती को मिलाने में सहायक भी सिद्ध होता है। दोनों ही देवियों को ऋषि आश्रम में ही अपने पति से पुनर्मिलन होता है—शाकुन्तल में अगर महर्षि मारीच का आश्रम है तो उ० च० में भगवान् वाल्मीकि का। इसी प्रकार उ० च० की छाया सीता के ऊपर कालिदास की सानुमती की छाया देखी जा सकती है। यद्यपि कोई भी कवि या नाटककार अपनी परम्परा का ऋणी होता ही है और इस दृष्टि से भवभूति भी इस नियम के अपवाद नहीं हो सकते, फिर भी इनका वैशिष्ठ्य इस तथ्य में निहित है कि इन्होंने इन समस्त बाह्य तत्त्वों को अपने उदार उदर में इस तरह पचा लिया है कि वे भवभूति की अपनी काव्यसम्पत्ति हो गयी है, उसमें कहीं भी वासीपन या विदेशीपन का बोध नहीं होता।

---

१. रघु०, १४-२५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कथा में परिवर्तन और परिवर्द्धन के उद्देश्य—यद्यपि यह निश्चित है कि भवभूति के उ० च० की कथावस्तु का मूल स्रोत वाल्मीकि रामायण ही है फिर भी भवभूति ने मूलकथा को नाटकीय परिवेश प्रदान करने के लिए कुछ आवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किया है। यह नाटककार के कलात्मक दायित्व की परिसीमा है, जो इन्हें कथावस्तु में कुछ परिवर्त्तन एवं परिवर्द्धन के लिए विवश करती है। उ० च० में भवभूति का मूल उद्देश्य राम और सीता के पावन चरित में लगे मिथ्या दोष को परिमार्जित कर उन्हें एक आदर्श व्यक्तित्व प्रदान करना है—इसलिए नाट्य शिल्प के अनुरोध से उन्होंने वाल्मीकि की रामकथा में कुछ आवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन किया है—वे निम्नलिखित हैं—

(क) वाल्मीकि के राम वंश मर्यादा की रक्षा के लिए सीता का परित्याग करते हैं[1] जो निश्चय ही राम के लोक वेद वंदित व्यक्तित्व को कुछ संकीर्ण और ह्रस्व बना देता है किन्तु भवभूति के राम लोक-मर्यादा की रक्षा के लिए सीता को निर्वासित कर अपनी लोकव्रत के कठोर दायित्व का निर्वाह करते हैं।[2]

(ख) वाल्मीकि के उत्तरकाण्ड की कथा दुखान्त है—सारी सभा के बीच सीता पृथ्वी के विवर में प्रवेश कर जाती है और राम हाथ मलते रह जाते हैं।[3] किन्तु भवभूति ने उ० च० की कथा को शास्त्र एवं परम्परा के अनुरोध से सुखान्त चित्रित किया है। हो सकता है—इसमें भवभूति के भक्त हृदय का भी कुछ हाथ रहा हो।

(ग) शम्बूक वध की कथा यद्यपि रामायण में भी मिलती है, किन्तु दूसरे प्रसंग में और वहाँ इस प्रसंग का कोई कलात्मक महत्त्व नहीं है। भव-

---

१. वा० रा०—कीर्त्यर्थं तु समारम्भः सर्वेषां सुमहात्मनाम्।
अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः॥
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्।
तस्माद् भवन्तः पश्यन्तु पतितं शोकसागरे॥ उत्तरकाण्ड ४५, सर्ग १४।१५

२. उ० च०—स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा॥ १।१६

३. वा० रा०—सर्वान् समागतान् दृष्ट्वा सीता काषायवासिनी।
अब्रवीत् प्रांजलि र्वाक्यमधोदृष्टिरवांमुखी ॥ १४
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हसि॥ १६
सीता प्रवेशनं दृष्ट्वा तेषामासीत् समागमः।
तन्मुहूर्त्तमिवात्यर्थं सभं संमोहितं जगत्॥ २७—उत्तरकाण्ड—९७ सर्ग।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भूति ने उ० च० के द्वितीय अंक में शम्बूक वध की कथा को एक नाटकीय मूल्य प्रदान किया है। राम को अयोध्या से पंचवटी पहुँचाने में शम्बूक वध की कथा एक महत्त्वपूर्ण कड़ी बन जाती है। इसके अतिरिक्त भी इसका एक कलात्मक महत्त्व है। रामायण में शूद्र तपस्वी शम्बूक के वध से वाल्मीकि के राम का व्यक्तित्व कुछ संकीर्ण एवं मलिन दिखाई पड़ता है। तपस्या जैसे पुण्यकार्य के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था सर्वथा अवांछनीय एवं अप्रत्याशित घटना घटित होती है। किन्तु उ० च० में भवभूति ने राम के हाथ से शम्बूक का वध नहीं बल्कि उद्धार दिखाकर राम के उदात्त शील की रक्षा की है। यहाँ शम्बूक अपनी तपस्या के फलस्वरूप दिव्य देह धारण कर वैराज नामक लोक का अधिकारी हो जाता है।[1]

(घ) प्रथम अंक में 'चित्रदर्शन' की कल्पना नाटककार भवभूति के उर्वर-मस्तिष्क की उपज है। वाल्मीकि की रामकथा में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि कालिदास के रघुवंशम् में चित्रदर्शन के कल्पना-बीज को पाया जा सकता है।[2] किन्तु वहाँ उसका कोई नाटकीय मूल्य नहीं है। भवभूति की अपूर्व नाट्य कला ने कालिदास के चित्र दृश्य को एक नवीन परिवेश में उपस्थित कर नाटकीय मूल्य प्रदान किया है।

कालिदास की यह चित्र कल्पना मौलिक एवं नवीन होते हुए भी अत्यन्त संक्षिप्त एवं स्थूल है तथा वृत्तविकास की दृष्टि से वहाँ इसका कोई पृथक् महत्त्व नहीं है। किन्तु भवभूति ने इस कल्पना बीज को अपने नाटकीय इतिवृत्त का एक महत्त्वपूर्ण अंश बना दिया है। यहाँ राम के पूर्व चरित को उत्तर चरित के साथ समन्वित कर सीता निर्वासन जैसी महत्वपूर्ण घटना को नाटकीय संवेग एवं कालिक औचित्य प्रदान कर भवभूति ने अपने अद्भुत नाट्य कौशल का परिचय दिया है।

(ङ) तृतीय अंक में छाया सीता की कल्पना तथा उसका नाटकीय विनियोग भवभूति की मौलिक प्रतिभा की दिव्य देन है। इसका उल्लेख वाल्मीकि रामायण में कहीं नहीं मिलता। उ० च० के समस्त नाटकीय उत्कर्ष एवं कलात्मक सौंदर्य की मूलभित्ति छाया सीता की मौलिक कल्पना ही है। छाया सीता की कल्पना के द्वारा भवभूति ने सीता के हृदय में सदियों

---

१. उ० च०—यत्रानन्दाश्च मोदाश्च यत्र पुण्याश्च संपदः।
वैराजा नाम ते लोकास्तैजसाः सन्तु ते शिवाः॥ २।१२

२. रघु०—तयोर्यथा प्रार्थितमिन्द्रियार्थानासुदुर्षां सचिवेषु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु सचित्यमानानि सुखान्यभूवन्॥ १४।२५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

से गड़े हुए शंका शल्य को निकाल बाहर फेंकने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। छाया सीता की कल्पना, इस प्रकार, जितना नाटकीय है उतना ही मनोवैज्ञानिक और काव्यमय भी।

(च) चतुर्थ अंक में कौशल्या, अरुन्धती, वशिष्ठ, तथा जनक आदि गुरुजनों को वाल्मीकि के आश्रम में एकत्रित करना भी कवि का अपना कौशल है। इसका भी उल्लेख किसी अन्य रामकथा में नहीं मिलता। प्रथम अंक में इन गुरुजनों की अनुपस्थिति सीता निर्वासन का एक महत्त्वपूर्ण कारण थी। अतएव सीता के पुनर्मिलन में भी इन गुरुजनों की उपस्थिति अनिवार्य है। अतएव भवभूति ने चतुर्थ अंक में समस्त गुरुजनों को एकत्रित कर नाटकीय कथावस्तु के विकास में औचित्य एवं औदात्य का समावेश किया है।

(छ) रामायण की रामकथा में यज्ञाश्व के प्रसंग में राम के साथ लव-कुश का युद्ध वर्णित है और उसमें राम की पराजय भी दिखाई गयी है, किन्तु नाटकीय दृष्टि से यह अनौचित्यपूर्ण है। क्योंकि इससे नायक के धीरोदात्तत्व का खण्डन हो जाता है। भवभूति ने बड़ी निपुणता से यज्ञाश्व के प्रसंग में इस युद्ध को लव और चन्द्रकेतु के बीच दिखाकर राम के उदात्त व्यक्तित्व की रक्षा कर ली है। वस्तु विकास की दृष्टि से भी इसका एक नाटकीय मूल्य है। युद्ध के प्रसंग में ही राम रंगमंच पर उपस्थित होते हैं।

(ज) उ० च० के सप्तम अंक में अभिनीत गर्भांक नाटक कवि की अलोक सामान्य प्रतिभा का चिर नूतन प्रयोग है। इसका भी उल्लेख कहीं किसी रामकथा में नहीं मिलता। यह गर्भांक नाटक वस्तु संविधान की दृष्टि से जितना महत्त्वपूर्ण एवं नाटकीय है मनोविज्ञान की दृष्टि से उतना ही रमणीय एवं औचित्यपूर्ण भी। नाटक के प्रथम अंक में यदि कवि ने 'चित्रवीथी' दृश्य से राम के पूर्व चरित को प्रदर्शित किया है तो यहाँ गर्भांक नाटक के द्वारा उनके रामचरित को करुणाद्भुत रस में डुबोकर चित्रित किया है। सप्तम का यह गर्भांक नाटक उ० च० की समस्त नाटकीय कथावस्तु का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार नाटक के तृतीय अंक का छाया चित्र सप्तम अंक में जीवन का कठोर सत्य बनकर दर्शकों को अभिभूत कर देता है। तृतीय अंक का छायाचित्र यदि वहाँ स्वप्न था तो यहाँ जागरण, यदि वहाँ कल्पना की कोई प्रच्छन्न रेखा थी तो यहाँ उभरा हुआ मनोहर दृश्य। इसके अतिरिक्त नाटक के प्रथम अंक में जो लोक मत कभी सीता के निर्वासन का प्रबल कारण था—

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यहाँ उसी लोक की सहानुभूति अर्जित कर सीता और राम का रंगमंच पर पुनर्मिलन दिखाया गया है। निःसन्देह सप्तम अंक का यह गर्भांक दृश्य भवभूति की नाटकीय चेतना की महत्तम उपलब्धि है।

वस्तु से अधिक भाव तत्त्व की प्रधानता

इस प्रकार गौण मुख्य स्रोतों से कथातत्त्व को लेकर भवभूति ने उ० च० की कथावस्तु को उपबृंहित किया है और अपनी चिरंतन कल्पना से उन्हें सर्वथा नूतन परिवेश प्रदान कर नाटकीय भूमिका प्रदान की है। किन्तु भवभूति के नाटककार का वास्तविक सौन्दर्य एवं कलात्मक उत्कर्ष इन बाह्य तत्त्वों को आत्मसात करने तथा उसके उपस्थितिकरण में निहित है। सच पूछा जाय तो यहाँ इतिवृत्त का कोई विशेष महत्त्व नहीं है—यहाँ जो सर्वाधिक मूल्यवान् तत्त्व है वह है भवभूति का अक्षय भावकोष जिसकी विवृत्ति में नाटकीय इतिवृत्त की सहज निर्मिति हुई है। इसीलिए कुल आलोचकों ने उ०च० में इतिवृत्त की प्रतनुता तथा व्यापार शैथिल्य की आलोचना भी की है किन्तु भवभूति ने अपने नाटकीय इतिवृत्त के लिए रामकथा के जिस सुकुमार एवं समस्यामूलक अंश को चुना है—उसके लिए वृत्त का संकोच सर्वथा प्रत्याशित ही प्रतीत होता है। फिर भी उ० च० का भावजगत् इतना समृद्ध एवं शक्तिशाली है कि वह अपने गम्भीर प्रवाह में पाठकों को भलीभाँति निमज्जित करा देता है। उ० च० में पाठकों को कथातत्त्व की प्रतनुता एवं शिथिलता का थोड़ा भी आभास नहीं होता। फिर भी उ० च० की कथावस्तु के विकास में कुल ऐसे भी अनाटकीय तत्त्वों का समावेश हुआ है जिसका समाधान किसी अन्य प्रकार से ही किया जा सकता है। पंचम और षष्ठ अंक का युद्ध-दृश्य ऐसी ही घटना है। यहाँ भवभूति के नाटककार की अपेक्षा उनका कवि हृदय अत्यधिक प्रबल एवं अनियन्त्रित प्रतीत होता है।

वस्तु संविधान का नाटकीय वैशिष्ठ्य

भारतीय नाट्य साहित्य में भवभूति के कल्पान्त स्थायी यश का गौरव स्तम्भ उनका उ० च० नाटक ही है। इसमें मानवमन की गहन अनुभूतियों का जैसा नाटकीय चित्र प्रस्तुत किया गया है, शायद ही वैसा कहीं अन्यत्र उपलब्ध हो। रामकथा के छोटे से अंश को भवभूति ने नाटकीय रंगमंच पर इस प्रकार उछालकर प्रदर्शित किया है कि वह समस्त संस्कृत नाट्य साहित्य की एक सनातन सम्पत्ति हो जाती है। भारतीय नाट्य साहित्य के इतिहास में कदाचित् पहली बार ही राम के समग्र व्यक्तित्व एवं शील को इतनी निष्ठा और सहानुभूति के साथ कर्त्तव्य एवं प्रेम की कठोर कसौटी पर रखकर देखा-परखा गया है।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan

भवभूति का उ० च० वस्तु एवं भाव दोनों ही दृष्टि से एक विशिष्ट रचना है। यों सामान्यतः संस्कृत के प्रायः सभी नाटक भावप्रधान ही देखे जाते हैं। किन्तु जहाँ अन्य नाटकों के भाव उसके वृत्त के पोषक होते हैं वहाँ उ० च० का इतिवृत्त भी उसके भाव की रक्षा एवं पुष्टि में योगदान देते हैं। उ० च० में भवभूति के नाटकीय आविष्कारों का प्रधान क्षेत्र राम का स्थूल इतिवृत्त नहीं, बल्कि उनका सूक्ष्म एवं गहन मनोजगत है जहाँ सीता निर्वासन से सम्बद्ध कई समस्याएँ एक ही साथ उठ खड़ी होती हैं और इन्हीं समस्याओं के मौलिक निदान तथा औचित्यपूर्ण समाधान में उ० च० के वस्तु संविधान का नाटकीय उत्कर्ष प्रतिफलित हुआ है।

सीता निर्वासन का नाटकीय मूल्यांकन

सीता निर्वासन का औचित्य निर्धारण उ० च० की प्रथम एवं प्रमुख समस्या है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम अपनी प्राणप्रिया सीता को—जो अपने जीवन के समस्त सौख्यों को राम के चरणों में समर्पित कर चुकी है—उसे जिस झटके से आँख मूँदकर निर्वासित कर देते हैं—वह किसी भी सहृदय के शिए अरुन्तुद हो सकता है। राम का उदार व्यक्तित्व, सीता के प्रति उनका अनन्य अनुराग, सीता का संकटमय अतीत तथा उनकी कठोर गर्भावस्था आदि की पृष्ठभूमि में सीता का निर्वासन जो केवल मिथ्या परिवाद के कारण संघटित हुआ, अत्यन्त कठोर और असंगत तो लगता ही है, रामोचित भी प्रतीत नहीं होता। इसके पूर्व राम ने लंका में सीता को अग्नि में तपाकर उसके सतीत्व की परीक्षा ले ली थी, फिर लोकापवाद के भय से सिर्फ वंश मर्यादा की रक्षा के लिए उस निरपराधिनी सती साध्वी पत्नी को जो निर्वासन दण्ड दिया निश्चय ही वह राम के उदात्त व्यक्तित्व एवं अनाविल शील के लिए एक समस्यामूलक प्रश्नवाचक चिह्न बन गया है जिसके औचित्यपूर्ण समाधान के लिए भवभूति ने उ० च० के प्रथम अंक में अपने अद्भुत नाट्य कौशल का विनियोग किया है। यद्यपि नायक के शील एवं चारित्र्य की रक्षा के लिए भारतीय नाट्य-परम्परा में चिर काल से ही ऐसा प्रयोग होता आया है। कालिदास ने शाकुन्तल में दुष्यन्त के दूषित शील की रक्षा के लिए दुर्वासा शाप जैसे अति-मानुषिक प्रसंग का सहारा लिया है, किन्तु उ० च० में भवभूति ने राम की इस चारित्रिक समस्या को मूलतः एक मानवीय समस्या का रूप दिया है और इसके समाधान में उन्होंने जो नाटकीय वातावरण तैयार किया है—वह भी सर्वथा लौकिक एवं मानवीय ही है। इस प्रकार उ० च० का वस्तुसंविधान नाट्यकला की दृष्टि से अत्यन्त मानवीय और विचारोत्तेजक है।

सीता निर्वासन उ० च० की प्रमुख समस्या है, अतः निर्वासन की नाटकीय पृष्ठभूमि तैयार करना नाटककार का प्रथम लक्ष्य है। इस नाटक की प्रस्तावना

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में ही प्रेक्षकों को उन सभी बातों की सूचना मिल जाती है—जिनका वस्तु संविधान की दृष्टि से नाटकीय महत्व है।

(क) राम अभी-अभी राजा बने हैं।

(ख) उनके राज्याभिषेक में आमन्त्रित जनक आदि ऋषि, महर्षि तथा उनके लंकायुद्ध के सहयोगी मित्रगण सभी विदा किये जा चुके हैं[1]।

(ग) ऋष्यश्रृंग के द्वादश वार्षिक सत्र में भाग लेने के लिए वशिष्ठ, अरुन्धती तथा राम की माताएँ सभी अयोध्या से प्रस्थान कर चुकी हैं[2]।

(घ) इधर सीता के सम्बन्ध में "रक्षोगृहस्थितिमूलक" लोकापवाद भी जनता में काफी फैल चुका है। सूत्रधार का कहना है कि अगर यह किंवदन्ती महाराज के कानों तक पहुँच जाय तो निश्चय ही अनर्थ हो जायगा[3]।

सीता निर्वासन के पूर्व अष्टावक्र के द्वारा भेजा हुआ गुरु वशिष्ठ का संदेश राम के कर्त्तव्यभार को और भी गुरुतर बना देता है[4]। गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर राम लोकधर्म की रक्षा के लिए कोई भी बड़ा से बड़ा त्याग करने के लिए कृतसंकल्प हो जाते हैं :—

स्नेहं दयां च, सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा[5]॥

यहाँ दर्शकों को यह सूचना मिल जाती है कि राम प्रजानुरंजन के लिए कोई भी छोटा या बड़ा निर्णय ले सकते हैं—क्योंकि एक ओर गुरु वशिष्ठ का कठोर अनुशासन है 'युक्तः प्रजानामनुरंजने स्यास्तस्याद्यशो यत् परमं धनं वः', और दूसरी ओर राम अपने कर्त्तव्य निर्धारण में एकाकी और बिल्कुल नये हैं।

सीता निर्वासन की इस पृष्ठभूमि में नाटकीय संवेग भरने के लिए भवभूति ने अद्भुत नाट्य कौशल का विनियोग किया है। राम यदि सीता के प्रति पहले से ही तटस्थ एवं उदासीन होते तो उनका सीता परित्याग कदाचित् उतना शोकपर्यवसायी नहीं होता और न तो इससे राम के चरित्र का अभीष्ट उत्कर्ष ही सिद्ध होता।

---

१. उ० च०—नटः—भाव! प्रेषिता हि स्वगृहान्महाराजेन लंकासमरसुहृदो महात्मानः प्लवंगम-राक्षसाः समाजनोपस्थायिनश्च नानादिगन्तपावना ब्रह्मर्षयो राजर्षयश्च। प्रस्तावना, पृ० २०।

२. वही,—वशिष्ठाधिष्ठितादेव्यो गता रामस्य मातरः।
अरुन्धतीं पुरस्कृत्य यज्ञे जामातुराश्रमम्॥ १।३

३. सूत्रधारः—यदि पुनरियं किंवदन्ती महाराजं प्रति स्यन्देत ततः कष्टं स्यात्।
उ० च० की प्रस्तावना, पृ० २८

४. उ० च०—जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धास्त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम्।
युक्तः प्रजानामनुरंजने स्यास्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः॥ १।११

५. वही,—१।१२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अतः कुशल नाटककार ने सीता निर्वासन को समुचित वेग प्रदान करने के लिए तथा राम के कर्त्तव्यानुशासन को अत्यधिक प्राणवन्त बनाने के लिए चित्र दर्शन की मधुर कल्पना द्वारा राम और सीता के निगूढ निर्भर प्रणयभाव को अत्यन्त मार्मिक ढंग से अभिव्यंजित किया है[1]।

यहाँ राम और सीता के काव्यमय अतीत के जिन पृष्ठों को खोला गया है उसका प्रासंगिक वृत्त प्रवाह से अत्यन्त घना सम्बन्ध है। प्रारम्भ में ही लक्ष्मण के द्वारा 'अग्नि शुद्धि तक का वृतान्त' उपस्थित कर नाटककार ने सीता निर्वासन की गूढ व्यंजना की है जिससे सीता के प्रति राम के हृदय में गम्भीर व्यथा का भाव उमड़ पड़ता है। राम की दृष्टि में सीता आजन्म शुद्धा है, वह अग्नि और तीर्थोदक के समान स्वतः पवित्र है, उसकी शुद्धि के लिए किसी अन्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं है[2]। राम का यह उद्गार अग्नि की तरह शुद्ध और तीर्थोदक के समान शीतल और पवित्र हैं। यहाँ दर्शकों की यह सारी शंका मिट जाती है कि सीता के प्रति राम के हृदय में लोकापवाद की शंका पहले से विद्यमान थी।

अद्भुत नाट्य कौशल—चित्रदर्शन

चित्र में जैसे-जैसे अतीत जीवन के चित्र उभरते जाते हैं राम का प्रणय भाव अत्यधिक तीव्र एवं प्रगाढ़ होता जाता है। यहाँ ध्यातव्य है कि नाटककार ने जितनी तन्मयता से सीता के प्रति राम के निगूढ निर्भर दाम्पत्य प्रेम को अन्मीलित एवं अभिव्यंजित किया है उतना राम के प्रति सीता का नहीं। वास्तव में यहाँ राम के शील एवं चारित्र्य का उत्कर्ष दिखाना ही नाटककार को अभिप्रेत है। राम के प्रति सीता के गूढ प्रणयभाव की व्यंजना तृतीय अंक में अच्छी तरह निष्पन्न हुई है। चित्रदर्शन की अद्भुत कल्पना में राम और सीता का अतीत वियोग वर्तमान बनकर प्रदीप्त हो उठा है। यद्यपि आसन्न वियोग की दारुण सम्भावना से अभी तक दोनों अपरिचित ही हैं किन्तु उसकी काली छाया से दोनों अज्ञात रूप में भीत एवं त्रस्त नजर आते हैं। चित्र में सूर्पणखा वृतान्त को देखकर सीता अपने पति-वियोग की विभीषिका से त्रस्त होकर सहसा चिल्ला उठती है 'आर्य एतावत्ते दर्शनम्'[3] इससे यह भलीभाँति ध्वनित हो जाता है कि चित्रदर्शन काल तक ही

१. वही,—किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत् ॥ १।२७

२. रामः—उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः ?
तीर्थोदकं च वह्निश्च, नान्यतः शुद्धिमर्हतः ॥ १।१३

३. सीता—(हा आर्यपुत्र ! एतावत्ते दर्शनम् ?), पृ० ७५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सीता को राम का दर्शन हो रहा है। राम भी इसी प्रकार सूर्पणखा वृत्तान्त को देखकर वियोग की दारुण आशंका से द्रवित हो जाते हैं। वे कहते हैं कि उस समय रावण से बदला लेने की भावना से सीता-वियोग को जैसे-तैसे सह लिया था, किन्तु आज इसे स्मरण कर ही वियोग का दुःख असह्य हो रहा है, क्योंकि आज इसका कोई प्रतीकार भी तो नहीं है[1]। यहाँ यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि राम का यह सद्यः संभावित विप्रयोग निश्चय ही अतिदारुण और असह्य होगा। इस प्रकार राम और सीता साथ के सामाजिकों के मन को भी चित्र दर्शन के प्रसंग में अत्यन्त अशान्त स्थिति में पहुँचाकर उन्हें भावी वियोग के दुःसह आघात को सहने के लिए तैयार कर दिया जाता है। चित्र दर्शन का यह प्रसंग जितना मधुर है उतना ही करुण भी। इसका आरम्भ और अन्त अपवाद एवं वियोग के आँसू से आर्द्र एवं पंकिल है। "यावत् आर्यायाः हुताशनशुद्धिः" लक्ष्मण के इस लघु विस्तारी वाक्य से इसका प्रारम्भ होता है और "प्रत्यावृत्तः स पुनरिव मे जानकी विप्रयोगः" राम के इस वाक्य से इसकी समाप्ति होती है। लक्ष्मण के वाक्य में यदि सीता के "रक्षोगृह-स्थितिमूलक" लोकापवाद का गूढ दंश है तो राम के वाक्य में उस अपवाद का भयंकर परिणाम प्रत्यक्ष हो जाता है। निस्सन्देह उ० च० का यह चित्र दृश्य भवभूति के अपूर्व नाट्य कौशल का महत्त्वपूर्ण अवदान है।

चित्र दृश्य के बाद कथा में पुनः एक नाटकीय मोड़ उपस्थित होता है। सीता पुनः भागीरथी अवगाहन की इच्छा प्रकट करती है और चित्र दर्शन से थक कर वहीं राम के बाहु को उपधान बनाकर सो जाती है। इस समय सीता के गात्र स्पर्श से पुलकित होकर राम का शुद्ध सात्त्विक प्रणयभाव उमड़ पड़ता है। जो दोनों के सद्यः सम्भावित वियोग को अत्यधिक निष्करुण बना देता है। उस समय राम के निश्छल हृदय से जो पवित्र उद्गार निकले हैं निस्सन्देह वे वेद वाक्य की तरह पवित्र और नमस्य प्रतीत होते हैं[2] किन्तु वे सद्यः सम्भावित सीता निर्वासन जैसे नृशंस कार्य के सर्वथा विरोधी एवं विसंवादी स्वर हैं। भवभूति की नाट्य कला की

---

१. राम—वत्स ! तत्कालं प्रियजनविप्रयोगजन्या,
तीव्रोऽपि प्रतिकृतिवांछया विमोढः।
दुःखाग्निर्मनसि पुनर्विपच्यमानो,
हृन्मर्मव्रण इव वेदनां तनोति॥ उ० च०, १।३०

२. रामः—इदं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः।
किमस्या न प्रेयो ? यदि परमसह्यस्तु विरहः॥ १।३८

× × × ×

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यह अन्यतम विशेषता है कि परस्पर दो विरोधी भावों की अवतारणा कर वे नाटकीय कार्य व्यापार को अत्यधिक तीव्र एवं सघन बना देते हैं। यह तीव्रता वहाँ और मूर्त्त रूप धारण कर लेती है जब राम सीता की प्रत्येक वस्तु को प्रिय कहकर केवल उसके वियोग को असह्य कह रहे हैं और ठीक इसी समय प्रतिहारी "उपस्थितः" कहकर इस दुःसह विरह की समीपता एवं अवश्यंभाविता को संसूचित कर देती है। दुर्मुख जिसका नाम भी उसके कार्य के समान ही अमंगलवाची है, उसके प्रवेश के बाद ही कथा, व्यथा में परिणत हो जाती है। इसके पूर्व की सारी आशंकाएँ यहाँ मूर्त्त रूप धारण कर राम को सीता निर्वासन के लिए सहसा विवश कर देती है और पुनः भागीरथी अवगाहन के व्याज से सीता सद्यः निर्वासित कर दी जाती है। प्रथम अंक के वस्तु संविधान के द्वारा नाटकार ने सीता निर्वासन को कर्त्तव्य एवं परिस्थिति का आवश्यक परिणाम सिद्ध कर राम के उदात्त व्यक्तित्व की रक्षा कर ली है। राम के अनाविल शील में अविमृश्यकारिता दोष के परिमार्जन करने में नाटककार ने पूरी सफलता पायी है।

प्रथम अंक के नामकरण का औचित्य

भवभूति ने यद्यपि उ० च० के प्रथक अंक का नामकरण "चित्र दर्शन" किया है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह विस्पष्ट हो जाता है कि इस अंक का प्रधान कार्य सीता निर्वासन ही है, अतः इस दृष्टि से इसका वास्तविक नाम "सीता निर्वासन" ही संगत प्रतीत होता है। फिर भी वस्तु संविधान की नाटकीय दृष्टि से चित्र दर्शन का प्रसंग अत्यन्त कलात्मक एवं महत्त्वपूर्ण है। अतः गुण एवं करण की दृष्टि से इस अंक का नाम "चित्र दर्शन" ही रखा गया है। यहाँ राम के मन-मानस में कर्त्तव्य एवं प्रेम का अन्तर्द्वन्द्व खुलकर प्रकट हुआ है—साथ ही आगे के अंकों में भी होने वाली प्रमुख घटनाओं तथा कथांशों का बीजारोपण भी इसी अंक में हो जाता है। चित्र दर्शन के समय राम का भगवती भागीरथी के प्रति "सात्त्वमम्बस्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्याना भव[1]" तथा पृथ्वी के प्रति "सुश्लाघ्यां दुहितरमवेक्षस्व जानकीम्"[2] यह वचन निर्वासन काल में सीता की सुरक्षा की सूचना देता है जिसका निर्वाह द्वितीय और सप्तम अंक में किया गया

रामः—(सस्नेहमङ्गमस्याः परामृशन्)

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थ्यते ॥ १।३९

१. उ० च०—प्रथमांक, पृ० ६५
२. वही,—प्रथम अंक, पृ० ११८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। इसी प्रकार चित्र दर्शन काल में ही जृम्भकास्त्रों के विषय में राम सीता को कहते हैं—"सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति"[1]। आगे षष्ठ अंक में लवकुश के द्वारा इन जृम्भकास्त्रों का अलौकिक प्रयोग देखकर राम के हृदय में जो जिज्ञासा भाव उत्पन्न होता है—वह सप्तम में निश्चय की स्थिति धारण कर लेता है। सीता के प्रति अष्टावक्र द्वारा भेजे गये वशिष्ठ के संदेश से राम और सीता के पुनर्मिलन की सूचना मिल जाती है जिसका निगमन सप्तम अंक में होता है। नाटक की प्रस्तावना में नट के मुँह से "सर्वथा ऋषयो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति"[2] व्यक्त कराकर नाटककार ने कथावस्तु के निर्वाह में वशिष्ठ, वाल्मीकि, गंगा, पृथ्वी आदि देवताओं तथा ऋषियों के महत्त्वपूर्ण योगदान को भी संकेतित किया है और साथ ही कथा की सुखान्त प्रकृति को भी अभिव्यंजित किया है। इस प्रकार उ० च० का यह प्रथम अंक जो उ० च० के समस्त नाटकीय वस्तु संविधान को चित्रमय समास शैली में अभिव्यक्त करता है—भवभूति की नाटच प्रतिभा का ज्वलन्त प्रमाण है।

द्वितीय अंक की कथावस्तु में कालिक व्यवधान तथा नाटकीय प्रयोगों की समीक्षा

प्रथम एवं द्वितीय अंक की कथावस्तु में बारह वर्षों का सुदीर्घ कालिक व्यवधान उपस्थित हो जाता है जो नाटकीय कार्य व्यापार की अन्विति में कुछ बाधक सा प्रतीत होता है। काल के इस विस्तृत आयाम में निश्चय ही वियुक्त नायक एवं नायिका के जीवन में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए होंगे जो नाटकीय कथावस्तु के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। भवभूति अगर चाहते तो उन्हें मजे से मंच पर उतार सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसका एक कारण है। नाटकीय नियमों के अनुसार सभी प्रकार की घटनाओं को मंच पर प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। इसकी एक कलात्मक परिसीमा है। वे दृश्य तथा घटनाएँ जो कथावस्तु के विकास में महत्त्वपूर्ण नहीं हैं तथा जो नाटकीय कार्यव्यापार में बाधक सिद्ध हो सकती हैं उन दृश्यों को भारतीय रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किया जाता है। वे दृश्य सूच्य ही होते हैं उनकी सूचना अर्थोपक्षेपकों के माध्यम से दे दी जाती है[3]। इन अर्थोपक्षेपकों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे उपाय हैं जिनके द्वारा उन सूच्य कथांशों को मंच पर प्रदर्शित किये बिना भी उसके वांछित प्रभाव की सिद्धि की

१. उ० च०—पृष्ठ ५०
२. वही, की प्रस्तावना—पृष्ठ २८
३. दश०—नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसाभावनिरन्तरः॥ १।५७॥
अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पंचभिः प्रतिपादयेत्।
विष्कम्भचूलिकांकास्यांकावतारप्रवेशकैः॥ १।५८॥

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जा सकती है। निसन्देह यह अर्थोपक्षेपकों से बिल्कुल भिन्न एवं चिरनूतन प्रयोग है। यह नाटककार की प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति पर आधारित है। भवभूति ने इसका सर्वप्रथम समर्थ विनियोग नाटक के प्रथम अंक में चित्र दर्शन की अलौकिक कल्पना द्वारा प्रदर्शित किया है वहाँ राम के उत्तर चरित में पूर्व चरित को जोड़कर एक समन्वित कार्य व्यापार के व्यापक प्रभाव की सृष्टि की गई है।

द्वितीय अंक में विष्कंभक का महत्त्व

द्वितीय अंक में इस सुदीर्घ कालिक व्यवधान की चेतना को नष्ट करने के लिए नाटककार ने विष्कम्भक का बड़ा ही कौशलपूर्ण विनियोग किया है।—द्वितीय अंक का यह विष्कम्भक वस्तु विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सीता परित्याग कुशलव जन्म आदि आगत तथा शम्बूक वध के प्रसंग में श्रीराम का पंचवटी प्रवेश आदि कुछ अनागत कथांशों की सूचना भवभूति ने यहाँ विष्कम्भक के माध्यम से ही दी है। इसके अतिरिक्त चतुर नाटककार ने यहाँ आत्रेयी और वासन्ती इन दो देवियों के संवाद द्वारा कुछ ऐसे संकेत चित्रों की मौलिक उद्भावना भी की है जो काल की इस भयंकर खाई को पाटने में पूर्ण समर्थ हैं :—

(क) लव और कुश की बारहवीं वर्ष गाँठ मनायी जा रही है[1]।

(ख) ऋष्य शृंग का द्वादश वार्षिक सत्र समाप्त हो चुका है। और उन्होंने वशिष्ठ आदि गुरुजनों को सादर विदा भी कर दिया है[2]।

(ग) राम ने अश्वमेध यज्ञ पूरा कर लिया है और मेध्यअश्व की रक्षा में लक्ष्मणपुत्र चन्द्रकेतु को नियुक्त कर दिया है[3]।

(घ) शम्बूक का वध करने के लिए राम अयोध्या से दण्डकारण्य आ चुके हैं[4]।

(ङ) अब लोक जीवन में सीता नामशेषा हो चुकी है—इत्यादि[5]।

---

१. तमसा—अथ खल्वायुष्मतोः कुशलवयोर्द्वादशस्य जन्मवत्सरस्य सङ्ख्यामंगलग्रन्थिरभिवर्तते। तृतीय अंक, पृष्ठ २०५।

२. आत्रेयी—संप्रति परिसमाप्तं द्वादशवार्षिकं सत्रम्। ऋष्यशृंगेण च संपूज्य विसर्जिता गुरवः—द्वितीय अंक, पृष्ठ १४९।

३. आत्रेयी—विसृष्टश्च वामदेवानुमन्त्रितो मेध्याश्वः। प्रवलृप्ताश्च तस्य यथाशास्त्रं रक्षितारः। तेषामधिष्ठाता लक्ष्मणमात्मजश्चन्द्रकेतुर्दत्तदिव्यास्त्रसंप्रदायश्चतुरंगसाधनान्वितोऽनुप्रहितः। द्वितीय अंक, १५३

४. वही,—शम्बूको नाम वृषलः, पृथिव्यां तप्यते तपः।
शीर्षच्छेद्यः स ते राम! तं हत्वा जीवय द्विजम्॥
इत्युपश्रुत्य कृपाणपाणिः पुष्पकमधिरूह्य सर्वा दिशो विदिशश्च शूद्रतापसान्वेषणाय जगत्पत्तिः संचारं समारब्धवान्। पृष्ठ १५४

५. आत्रेयी—हा वत्से जानकि!
स एष ते वल्लभबन्धुवर्गैः, प्रासंगिकीनां विषयः कथानाम्।
त्वां नामशेषामपि दृश्यमानः, प्रत्यक्षदृष्टामिव नः करोति॥ २।६

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ये उपर्युक्त नाटकीय संकेत काल के व्यापक व्यवधान को नष्ट कर वस्तु विकास तथा नाटकीय कार्यव्यापार की प्रभावान्विति में पूरा योगदान देते हैं। बारह वर्ष के इस सुदीर्घ कालिक व्यवधान को मिटाने के लिए भवभूति ने कुछ प्राकृतिक परिवर्त्तनों का नाटकीय संकेत किया है—राम जब शूद्रक का वध करने के लिए दण्डकारण्य आते हैं तो उन्हें उस चिरपरिचित भूभाग का ज्ञान वहाँ के पहाड़ों को देखकर ही हो पाता है क्योंकि अन्य परिवर्त्तन शील वस्तुओं में काफी परिवर्त्तन हो चुका है। पंचवटी में पहले जहाँ नदियों की धाराएँ वहती थीं, वहाँ अब बड़े-बड़े रेतीले मैदान निकल आए हैं[1]। जिस मोर के बच्चे को पहले सीता ताली बजा-बजाकर नचाया करती थी वह अब बड़ा होकर अपनी मयूरी के साथ क्रीड़ा करने लगा है[2]। जो गजशावक अपने छोटे सूँड़ से सीता के कानों से लवली पल्लव निकाल लिया करता था, वह अब इतना बड़ा हो गया है कि बड़े-बड़े गजराजों को भी पछाड़ देता है[3]। प्रकृति में ही नहीं मनुष्यों में भी प्रभूत परिवर्त्तन हो चुके हैं। जनक ने राजपाट छोड़कर वानप्रस्थ ग्रहण कर लिया है[4] महर्षि वशिष्ठ भगवती अरुन्धती के अनुरोध से ऋष्य शृंग के यज्ञ से लौटकर अयोध्या नहीं जायेंगे वे वाल्मीकि के आश्रम में ही निवास करेंगे[5]। इत्यादि।

किन्तु इस परिवर्तन के बीच भी कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जो पूर्ववत् हैं उनमें कोई परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता—पर्वत जैसे के तैसे खड़े हैं—हरिण सीता को अब

---

१. रामः—अहो ! अनवस्थितो भूतसन्निवेशः। तथाहि—
पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां,
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं,
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥ २।२७ ॥

२. रामः—भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः,
प्रचलितचटुलभ्रूताण्डवैर्मण्डयन्त्या।
करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमानं,
सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि ॥ ३।१९ ॥

३. रामः—येनोद्गच्छद्विसकिसलयस्निग्धदन्तांकुरेण,
व्याकृष्टस्ते सुतनु ! लवलीपल्लवः कर्णमूलात्।
सोऽयं पुत्रस्तव मदमुचां वारणानां विजेता,
यत्कल्याणं वयसि तरुणे भाजनं तस्य जातः ॥ ३।१५ ॥

४. दण्डायनः—यद्देव्याः सीतायास्तादृशं दैवदुर्विपाकमुपश्रुत्य वैखानसः संवृतः तस्य, कतिपय-संवत्सरश्चन्द्रद्वीपतपोवने तपस्तप्यमानस्य। चतुर्थ अंक, पृ० ३०६।

५. आत्रेयी—भगवत्यरुन्धत्यनुरोधात भगवतो वसिष्ठस्यापि श्रद्धा 'वाल्मीकिवनं गत्वा वत्स्याम' इति। द्वितीय अंक, पृष्ठ १४९।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी याद करते हैं। वशिष्ठ और अरुन्धती रघुकुल के कल्याण कार्य में पूर्ववत् तत्पर हैं। राम के हृदय में सीता की स्मृति ज्यों की त्यों है[1]। इन संकेतों के द्वारा भवभूति ने काल की इस सुदीर्घ खाई को पाटने में अभूतपूर्व सफलता पायी है। उत्तर चरित को पढ़ते समय अथवा अभिनीत होते देखकर कोई भी प्रेक्षक नाटकीय व्यापार की प्रभावान्विति में किसी भी तरह की बाधा महसूस नहीं करता। यद्यपि नाट्य-शास्त्र के अनुशासन के अनुसार कथावस्तु में इतने लम्बे कालिक व्यवधान की व्यवस्था नहीं है। फिर भी भवभूति का यह अपूर्व नाटकीय कौशल ही है जो काल के इतने बड़े व्यवधान को कुछ संकेत चिह्नों के द्वारा भली भाँति पाट देता है।

शम्बूक वध का नाटकीय महत्व

शम्बूक वध उ० च० के द्वितीय अंक की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इससे एक ही साथ कई नाटकीय उद्देश्यों की सिद्धि होती है। सीता निर्वासन के बाद नाटककार के आगे दोनों का पुनर्मिलन कराना दूसरी प्रमुख समस्या है। अतएव द्वितीय अंक से ही नाटककार दोनों के पुनर्मिलन की तैयारी में संलग्न हो जाता है। शम्बूक वध के प्रसंग में राम का पंचवटी प्रवेश इसी मिलन बिन्दु की ओर भवभूति के नाटकीय कौशल का प्रथम चरण है। इसका दूसरा उद्देश्य राम के संकुचित व्यक्तित्व को उदार तथा उदात्त सिद्ध करना भी है। शूद्र तपस्वी शम्बूक का वध करने के कारण वाल्मीकि के राम का चरित्र कुछ संकीर्ण और मलिन दिखाई देता है क्योंकि किसी भी पुण्यकार्य के लिए प्राण दण्ड की व्यवस्था सर्वथा अनुचित ही नहीं अप्रत्याशित भी प्रतीत होती है। किन्तु भवभूति के राम अपने स्वार्थवश शम्बूक का वध करने पंचवटी नहीं आते, बल्कि ब्राह्मण पुत्र की रक्षा के साथ शम्बूक का उद्धार करना भी उनका पवित्र उद्देश्य है यहाँ शम्बूक की मृत्यु नहीं होती है, बल्कि वह दिव्य देह धारण कर वैराज नामक लोक की प्राप्ति करता है[2]। अतएव भवभूति ने यहाँ एक अलौकिक उपाय के द्वारा अपने चरितनायक के चरित्र की रक्षा की है।

पंचवटी का महत्त्व तथा अंक का नामकरण

इसके अतिरिक्त सीता के प्रति राम के सात्विक प्रेम की अभिव्यक्ति कराना भी इस प्रसंग का एक तीसरा नाटकीय उद्देश्य है। राम पंचवटी आकर सीता को

---

१. रामः—सम्प्रति हि—

चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः,
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः।
व्रणो रूढ़ग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः,
पुराभूतः शोको विकलयति मां नूतन इव॥ २।२६

२. उ० च०, २।१२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भुला नहीं पाते। वे राजा और पति दोनों ही रूपों में सर्वथा लोकोत्तर हैं—उनका चरित्र वज्र से भी अधिक कठोर है और फूल से भी अधिक सुकुमार है[1]। पंचवटी के चिरपरिचित पावन प्रदेश में उनका पत्नी प्रेम सहसा प्रज्वलित हो उठता है[2]। वे इस पत्नी प्रेम को अयोध्या में अपनी प्रजा के बीच प्रकट भी नहीं कर सकते थे, क्योंकि वहाँ उनका लोकाराधन व्रत उनके पत्नी प्रेम को पहले ही अरण्य रोदन बना चुका है। यहाँ राम अपने पत्नी प्रेम को पंचवटी की स्निग्ध शान्त छाया में मुक्तभाव से व्यक्त करते हैं। अतएव पंचवटी के इन्हीं नाटकीय मूल्यों के कारण नाटककार ने इस अंक का नाम ही 'पंचवटी प्रवेश' रख दिया है। जो नाटकीय दृष्टिकोण से भी समीचीन है।

राम और सीता का पुनर्मिलन

तृतीय अंक की कथावस्तु का नाटकीय महत्त्व उसके भावात्मक उत्कर्ष में निहित है। नाटक के प्रथम अंक में सीता निर्वासन को कर्त्तव्य एवं परिस्थिति का अवश्यंभावी परिणाम सिद्ध कर लेने के बाद नाटककार के आगे जो दूसरी प्रमुख समस्या उठ खड़ी होती है वह राम और सीता के लोकवेद-वन्दित शील एवं चरित्र की रक्षा करते हुए पुनः दोनों का सहज स्वाभाविक मिलन कराना है। बारह वर्ष के बिछुड़े भटके दो हृदयों को पुनः जोड़ना कोई सरल काम नहीं है। यों किसी अतिप्राकृत उपाय के द्वारा भी दोनों का मिलन दिखाया जा सकता था, किन्तु तब उस मिलन की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती और उसका रूप भी विकृत एवं कृत्रिम प्रतीत होतां जो निश्चय ही सहृदयों के लिए अरुन्तुद और अग्राह्य होता। इसलिए द्वितीय अंक से ही नाटककार दोनों के स्वाभाविक मिलन की तैयारी में दत्तचित हो जाता है और सप्तम अंक तक निरंतर गतिशील दिखाई देता है। राम और सीता के पुनर्मिलन को न्यायसंगत तथा औचित्यपूर्ण बनाना ही उ० च० के वस्तुसंविधान का एक मात्र लक्ष्य है।

छाया मिलन का नाटकीय महत्त्व

निर्वासन के बाद सीता दो बार राम से मिलती है, पहली बार तृतीय अंक में

---

१. उ० च०—वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोतराणां चेतांसि कोऽनु विज्ञातुमर्हसि॥ २।७

२. रामः—(सकरुणम्)
यस्यां ते दिवसास्तया सह मया नीता यथा स्वे गृहे,
यत्सम्बन्धकथाभिरेव सततं दीर्घाभिरास्थीयत।
एकः सम्प्रति नाशितप्रियतमस्तामेव रामः कथं,
पापः पंचवटीं विलोकयतु वा गच्छत्वसम्भाव्य वा॥ २।२८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और दूसरी बार सप्तम अंक में। किन्तु दोनों की प्रकृति और परिणाम में एक रूपता होते हुए भी स्वरूपगत भिन्नता सहृदय हृदय संवेद्य है। यदि प्रथम मिलन छायामूलक, एकांगी और व्यथापूर्ण है तो दूसरा बिल्कुल प्रत्यक्ष वास्तविक और उल्लासपूर्ण। फिर भी यह छाया मिलन सप्तम अंक के वास्तविक मिलन की अपेक्षा कहीं अधिक नाटकीय और भावपूर्ण है। तृतीय अंक में छायामिलन का नाटकीय मूल्य युगों से बिछुड़े-भटके दो हृदयों की भावात्मक एकता में संनिहित है। इसी छायामिलन का स्वाभाविक विकास तथा मंगलमय परिणाम सप्तम अंक का वास्तविक मिलन है। तृतीय अंक में छायामिलन के द्वारा भवभूति ने सीता के हृदय में सदियों से गड़े शंकाशल्य को निकाल बाहर फेंकने में अभूतपूर्व सफलता पाई है। सप्तम अंक के मिलन दृश्य की भावभूमि तृतीय अंक में ही पूर्ण रूपेण तैयार हो जाती है जो निरन्तर विकसित होती हुई सप्तम अंक के वास्तविक मिलन में प्रतिफलित होती है। तृतीय अंक के इस छाया मिलन के बिना सप्तम अंक का वास्तविक मिलन बिल्कुल अनाटकीय, अन्यायपूर्ण एवं नकली सिद्ध होता। भवभूति ने इसीलिए तृतीय अंक में सीता की चित्त शुद्धि को सामने रखकर कई भावात्मक प्रयोग किए हैं। यद्यपि यह सही है कि चित शुद्धि की इस भावात्मक प्रक्रिया में नाटकीय कथावस्तु की बाह्य क्रियाशीलता स्थगित हो गई है, किन्तु यहाँ कथावस्तु की आन्तरिक गतिशीलता ही प्रमुख है। तृतीय अंक में प्रारंभ से अंत तक कथा के एक बिन्दु पर खड़े रहकर भी राम और सीता अपने पुनर्मिलन की दिशा में एक लम्बी मंजिल तय कर लेते हैं। निसंदेह तृतीय अंक की कथावस्तु की गतिशीलता का यह ज्वलन्त प्रमाण है। हाँ, भवभूति ने जो राम और सीता की आँखों से इतने आँसू बहवाये हैं, वे भी व्यर्थ नहीं हैं। सच पूछा जाय तो इन्हीं आँसुओं से राम और सीता के उस मिलन वृक्ष की जड़ें सींचीं गई हैं जिसकी सुखद छाया में अन्त में दर्शकों को चरम विश्राम मिलता है।

सीता की चित्तशुद्धि

मानव मन की अतल गहराई में भवभूति के नाटककार की सहज सुलभ पैठ है। वह इसे अच्छी तरह जानता है कि मिलन के पूर्व दोनों की चित्त शुद्धि अत्यावश्यक है, क्योंकि जबतक चित्त की शुद्धि नहीं होती तब तक उसमें अन्य हृदय की सहज संक्रान्ति संभव नहीं हो सकती। अतएव तृतीय अंक में नाटककार ने सर्वप्रथम सीता के चित्त को सामने रखकर अपने समस्त नाट्य कौशल का भावात्मक विनियोग किया है। राजा राम के पक्ष में सीता निर्वासन का औचित्य चाहे जो भी हो किन्तु आजन्म शुद्धा सीता के अनाविल शील तथा राजर्षि जनक के पवित्र रक्त के प्रति यह एक जघन्य अपवाद और घनघोर अन्याय के सिवा और

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कुछ नहीं था। यहाँ, यद्यपि भवभूति की सीता कालिदास की सीता की तरह 'राजा' राम के विरुद्ध खुली बगावत नहीं करती[1], फिर भी उनके तटस्थ संभाषण तथा निरपेक्ष मौन में उनके आन्तरिक क्षोभ, मानसिक ग्लानि और वेदना की गहराई का सहज अनुमान लगाया जा सकता है[2]।

सीता के वियोग में राम कितने दुःखी और संतप्त हैं—इसका दर्शन कराने के लिए नाटककार ने पंचवटी की चिरपरिचित भावभूमि को ग्रहण किया है। यह पंचवटी राम और सीता के पूर्ववन्य जीवन की क्रीड़ाभूमि रही है। यहाँ के सभी पेड़, पर्वत, पशु-पक्षी, नदी-निर्झर, राम और सीता के अन्तरंग सखा सहचर हैं[3]। एक ओर वह राम और सीता की अतीत स्मृतियों को जगाकर उनके हृदय के घाव को दुःखा देती है और दूसरी और राम के विरहोद्गारों में प्राण रस का अमृत संचारकर उसे सहला भी देती है। आन्तरिक संघर्ष की इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में राम और सीता का विक्षुब्ध हृदय स्वच्छ और निर्मल हो जाता है, दो प्रतिकूल दिशाओं में बहने वाली जीवन धाराएँ भावना के संगम तीर्थ में मिलकर एक हो जाती हैं।

सीता के पुत्री कृत गज शावक

पंचवटी के पावन परिवेश में वियोगिनी सीता के मातृ-हृदय पर जो नाटककार ने प्रथम मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया है वह है—सीता के पुत्रीकृत गज शावक के ऊपर किसी अन्य दुर्दान्त गजराज के आक्रमण की सूचना[4]। अपने पुत्रीकृत गज-शावक को विपद्ग्रस्त सुनकर सीता का मातृ-हृदय व्याकुल हो उठता है और अपने पुत्र-जो नारी का एक मात्र अवलम्ब होता है—का स्मरण कर चिल्ला उठती है 'आर्य पुत्र ! परित्रायस्व, परित्रायस्व मम पुत्रकम्'। कवि ने इस चित्र के द्वारा

---

१. रघु०—वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥ १४।६१ ॥

२. सीता—दिष्ट्या अपरिहीनधर्मः खलु राजा ॥ उ० च० पृष्ठ २१५
(इस छोटे से वाक्य में सीता के विक्षुब्ध हृदय का चिरसंचित परिताप, ग्लानि, क्षोभ आदि भाव एक ही बार प्रकट हो गए हैं। यहाँ अभिव्यक्ति की संवृत्ति में ही भावों की पूर्ण विवृत्ति हुई है।)

३. उ० च०, ३।८

४. वही,-(नेपथ्ये)—सीतादेव्या स्वकरकलितैः सल्लकीपल्लवाग्रै-
रग्रे लोलः करिकलभको यः पुरा वर्धितोऽभूत्।
सीता—(किं तस्य ?)—पुनर्नेपथ्ये—
वध्वा सार्धं पयसि विहरन् सोऽयमन्येन दर्पा-
दुद्दामेन द्विरदपतिना सन्निपत्याभियुक्तः ॥ ३।६ ॥

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सीता के मातृत्व को जगाया है, उसके आँचल के दूध को हिलकोर दिया है। यह गज शावक सीता की सन्तति का उज्ज्वल प्रतीक है। वस्तुतः मातृत्व और पितृत्व बाह्यतः पृथक् होते हुए भी सन्तान सूत्र से ग्रथित होकर अभिन्न हो जाते है[1]। अतएव भवभूति ने यहाँ गज शावक की कल्पना के द्वारा एक ही साथ दोनों भावों की मार्मिक अभिव्यंजना की है। सीता के क्षुब्ध मानस में संकटापन्न गजशावक के प्रति जो मातृसुलभ करुणा जगाई है—उसका राम और सीता के विश्लेषित मन पर बड़ा ही प्रशमनकारी प्रभाव पड़ता है। गज शावक के प्रति सीता का उमड़ा हुआ स्नेह अन्ततः लव-कुश के प्रगाढ़ प्रेम में परिणत हो जाता है। सीता के मातृ हृदय के इस द्रवीकरण का कलात्मक उत्कर्ष वहाँ मूर्त्त रूप धारण कर लेता है—जब अनायास ही लव-कुश का स्मरण कर सीता की छाती दूध से भर जाती है और राम के सान्निध्य से वह संसारिणी हो जाती है[2]। राम यहाँ केवल पति ही नहीं, बल्कि दो बच्चों के पिता भी हैं। अतः अपने बच्चों को पिता के द्वारा चुमे जाने की विवश कल्पना तथा अज्ञात अतृप्त कामना से भाव विभोर होकर सीता पति की ओर कुछ खींचती दिखाई देती है[3]। राम और सीता के पुनर्मिलन की पृष्ठभूमि में भवभूति के अद्भुत नाट्य कौशल का यह प्रथम विनियोग है।

विश्लेषित मन की संश्लेषण क्रिया अत्यन्त जटिल होती है। इसलिए भवभूति ने सीता के हृत्कमल की उलझी निष्पन्द पंखुड़ियों को अत्यन्त सावधानी एवं तल्लीनता से धीरे-धीरे खोलने का प्रयास किया है। सीता की चित्त शुद्धि के लिए नाटककार का दूसरा नाटकीय प्रयोग वहाँ शुरू होता है जहाँ सीता नेपथ्य से राम की अमृतवाणी सुनती है। उस चिरपरिचित गुरु गम्भीर ध्वनि को सुनकर सीता का पत्नी हृदय अत्यन्त चंचल और उत्कंठित हो जाता है[4]। किन्तु तमसा के मुँह से

---

१. तमसा—किमत्रोच्यते ? प्रसवः खलु प्रकृष्टपर्यन्तः स्नेहस्य। परं चैतदन्योन्यसंश्लेषणं पित्रोः।
अन्तःकरणतत्त्वस्य, दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते ॥ ३।१७ ॥

२. सीता—भगवति तमसे ! अयं तावदीदृशो जातः। तौ पुनर्न जानाम्येतावता कालेन कुशलवौ कीदृशौ संवृत्ताविति ?
सीता—भगवति तमसे ! एतेनापत्यसंस्मरणेनोच्छ्वसितप्रस्तुतस्तनी इदानीं वत्सयोः पितुः सन्निधानेन क्षणमात्रं संसारिणी संवृत्तास्मि। उ० च०, पृ० २३७

३. सीता—किंवा मया प्रसूतया ? येनैतादृशं मम पुत्रकयोरीषद्विरलधवलदशनकुड्मलोज्ज्वल-मनुबद्धमुग्धकाकलीविहसितं निरत्योज्ज्वलं मुखपुण्डरीकयुगलं न परिचुम्बितमार्यपुत्रेण।
उ० च०, तृतीय अंक, पृष्ठ २३७

४. तमसा—(सस्मितास्मम्।) अयि वत्से !
अपरिस्फुटनिक्वाणे, कुतस्त्येऽपि त्वमीदृशी।
स्तनयित्नोर्मयूरीव, चकितोत्कण्ठितं स्थिता ॥ ३।७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यह सुनकर कि शम्बूक वध प्रसंग में राम पंचवटी आये हैं, सीता अत्यन्त तटस्थ भाव से राजा राम की कर्त्तव्यपरायणता की प्रशंसा करती है 'दिष्ट्या अपरिहीन-धर्मः स राजा'। सीता के इस वाक्य में एक करारा व्यंग्य है। यहाँ सीता का आन्तरिक अनुताप, मानसिक ग्लानि तथा निरपेक्ष व्यक्तित्व एक ही बार मुखर हो उठता है। फिर भी उनकी यह मानसिक स्थिति अधिक देर तक टिक नहीं पाती। उनकी सदियों प्यासी आखें राम के पीले कृशगात को देखकर सहसा सहम जाती हैं, उसकी कुशल पत्नी दृष्टि शीघ्र ही पति की मानसिक वेदना को समझ जाती है[1] और तमसा का आश्रय लेकर मूर्च्छित हो जाती है। राम की यह विपत्ति सीता के लिए सर्वथा अप्रत्यासित ही थी, इसलिए 'हा कथमेतत्' कहकर वह अपना विवश आश्चर्य भाव व्यक्त करती है।

किन्तु दूसरे ही क्षण जब 'हा प्रिये जानकि!' कहकर राम अचेत हो जाते हैं तो सीता का चिरसंचित धैर्य टूट जाता है और राम को संजीवित करने के लिए वह तमसा से अधीर निवेदन करती है—'जीवय आर्य पुत्रम्'। फिर तमसा के कहने पर सीता दौड़कर राम के शीतल ललाट का पुण्य स्पर्श करती है[2]। यहाँ सीता के मन का घना अन्धकार कुछ पतला और साफ हो जाता है। भवभूति ने सीता के इस मनोभाव को 'इति ससम्भ्रमं निष्क्रान्ता' इस अभिनय निर्देश से अभिव्यंजित किया है। किन्तु ठीक दूसरे ही क्षण राम सचेत होकर जब सीता को पाने की अभिलाषा व्यक्त करते हैं तो सीता के हृदय का पुराना घाव पुनः हरा हो जाता है और 'राजा राम' के कोप से आशंकित होकर वहाँ से चलने के लिए उद्यत हो जाती है[3]। किन्तु वहाँ से हटना चाहकर भी वह हट नहीं पाती। राम के करुण क्रन्दन से सीता का पत्नी हृदय छलछला उठता है और अपने को अभागिन कहकर पश्चात्ताप करने लगती है। जो सीता एक क्षण पूर्व राम को 'राजा' कहकर वहाँ से अलग हो जाना चाहती थी, वही सीता राम को पुनः 'दुर्लभ दर्शन' तथा 'आर्यपुत्र'

---

१. सीता—दिष्टया कथं प्रभातचन्द्रमण्डलापाण्डरपरिक्षामदुर्बलेनाकारेण निजसौम्य-गम्भीरानुभावमात्रप्रत्याभिज्ञेय आर्यपुत्र एव भवति? भगवति तमसे! धारय माम्। उ० च०, तृतीय अंक, पृष्ठ २१८

२. तमसा— त्वमेव ननु कल्याणि! संजीवय जगत्पतिम्।
प्रियस्पर्शा हि पाणिस्ते, तत्रेष निरतो जनः॥ ३।१०
(सीता को यहाँ कल्याणी कहा गया है। यह अत्यन्त भावपूर्ण एवं मनोवैज्ञानिक है। कल्याणी स्त्री उसे ही कहते हैं जिसके सौभाग्य से पति जीवित रहे।)

३. सीता—भगवति तमसे! अपसरावस्तावत्। मां प्रेक्ष्यानभ्यनुज्ञातेन सन्निधानेन राजाधिकं कोपिष्यति। उ० च०, तृतीय अंक, पृ० २२४

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आदि विशेषणों से सम्बोधित कर अपने को कठोर घोषित करती है[1]। यहाँ सीता की चित्त शुद्धि के लिए किये गये मनोवैज्ञानिक प्रयोग की दूसरी नाटकीय प्रक्रिया पूरी हो जाती है।

वासन्ती के उपालम्भ का नाटकीय महत्त्व

किन्तु इतना होने के बाद भी सीता के अवसादपूर्ण मानस का मैल सर्वतोभावेन धुल नहीं पाया है। अभी उसके मन में मिथ्या कलंक का वह चारित्रिक दंश विद्यमान ही है जो उसके व्यक्तित्व को पृथक् अस्तित्व प्रदान करता है। इसलिए भवभूति ने सीता को राममय जीविता बनाने के लिए पुनः एक तीसरा सर्वसमर्थ नाटकीय प्रयोग किया है जो राम के प्रति वासन्ती के कठोर संवाद से प्रारम्भ होता है। वासन्ती जब सीता का पक्ष लेकर राम के अनैतिक आचरण की निन्दा करने लगती है[2] तो सीता के लिए वह असह्य हो जाता है। राम कितने संतप्त हैं—सीता का पत्नीहृदय इसे भलीभाँति जान चुका है "अहमेवैतस्य हृदयं जानामि ममाप्येषः।" कोई भी भारतीय नारी अपने आर्यपुत्र को किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा इस तरह अपमानित होते नहीं देख सकती। अतः सीता अपनी सारी व्यथा को भूलकर यहाँ पति का पक्ष ग्रहण कर लेती है और वासन्ती को दारुण और कठोर कहने लगती है[3]। सीता के इस भावात्मक परिवर्त्तन में उसके पत्नी हृदय का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। सीता अपनी समस्त पीड़ाओं को भूलकर राम के दुःखों से मिलकर एक हो जाती है। अतः राम जब पुनः मूर्च्छित होते हैं तो इस बार सीता उनकी रक्षा के लिए वासन्ती से विना कुछ कहे ही स्वयं दौड़ पड़ती है और अपने शीतल कर स्पर्श से राम को संजीवित करती है। सीता ने इसके पूर्व भी मूर्च्छित राम को अपने कर स्पर्श से संजीवित किया था, किन्तु दोनों बार की स्पर्शानुभूति में काफी वैषम्य है। पहली बार सीता की अनुभूति तटस्थ और निरपेक्ष थी, वह राम को सचेत करने के लिए वासन्ती से आग्रह करती है और राम के पुनः उज्जीवित होने

---

१. सीता—आर्य पुत्र! असदृशं खल्वेतदस्य वृतान्तस्य। भगवति! किमिति वज्रमयी जन्मान्तरेष्वपि पुनरप्यसम्भावितदुर्लभदर्शनस्य मामेव मन्दभागिनीमुद्दिश्यैवं वत्सलस्यैवंवादिन आर्यपुत्रस्योपरि निरनुक्रोशा भविष्यामि? अहमेवैतस्य हृदयं जानामि, ममाप्येषः। उ० च०, तृतीय अंक, २२५

२. वासन्ती—त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं,
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमंगे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां,
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण॥ ३।२६

३. सीता—सखि वासन्ती! त्वमेव दारुणा कठोरा च। यैवं प्रलयन्तं प्रलापयसि।
उ० च०, तृतीय अंक, पृ० २५६

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पर वहाँ से हट जाना चाहती है। किन्तु इस बार राम को संजीवित करने के लिए वह स्वयं दौड़ पड़ती है और राम को जीवित देखकर अत्यधिक प्रसन्न होती है 'जाने पुनः प्रत्यागतमिव जीवितं त्रैलोक्यस्य।'[1] भवभूति के कुशल नाटककार ने सीता की इस आनन्दानुभूति और भावात्मक उत्कर्ष को अपने अभिनय निर्देश में 'किंचित् सहर्षम्' के संकेत से अभिव्यञ्जित किया है। इसके बाद ही सीता जब यह जान लेती है कि राम पुनः द्वितीय विवाह नहीं करेंगे तब उनके हृदय का सारा आक्रोश श्रद्धा और विश्वास में परिणत हो जाता है, उनके हृदय में परित्यागशल्य सदा के लिए निकल जाता है और श्रद्धावसिक्त हृदय से अपने आर्यपुत्र को बार-बार प्रणाम निवेदित कर वह धन्य हो जाती है 'नमो नमोऽपूर्वपुण्यजनितदर्शनाभ्यामार्यपुत्रचरण-कमलाभ्याम्।'

सीता का हृदय परिवर्तन

इस प्रकार जब सीता का मनोभाव उन्नीत होकर राममय हो जाता है तब वह हृदय की 'तद्भावभावितस्थिति' में अपने पृथक् अस्तित्व को पूर्णतया खोकर राम रूप में परिणत हो जाती है। सीता के मानसिक विकास एवं हृदय परिवर्तन की यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भवभूति की अलौकिक नाट्य प्रतिभा का उज्ज्वल प्रमाण है। यहाँ नाटककार ने अपने अद्भुत नाट्य कौशल से सर्वप्रथम उन्मन सीता के सुषुप्त मनोभावों को जगाया है, उनके हृदय में युगों से गड़े शंकाशल्य को धीरे-धीरे हिलाया है और अंत में विविध भावों के आन्तरिक संघर्षण द्वारा उस शंकाशल्य को उखाड़ बाहर किया है। इस प्रकार सीता के हृदय परिवर्तन की कई अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। वह एक कुंठित पाषाण प्रतिमा से करुणामयी नारी, नारी से पत्नी, पत्नी से जननी और जननी से एक आदर्श संसारिणी के रूप में परिणत हो जाती है।

तृतीय अंक की कथावस्तु का मूल्यांकन

सीता के इस भावात्मक परिवर्त्तन के द्वारा उ० च० की नाटकीय समस्या का एक सीमा तक समाधान हो जाता है और इसके बाद नाटककार आगे के अंकों में राम और सीता के मंगलमय मिलन की बाह्य भूमि के निर्माण में संलग्न हो जाता है। नाटकीय कथावस्तु के विकास एवं वैशिष्ट्य की दृष्टि से उ० च० का यह तृतीय अंक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण और महनीय है। अगर इसे नाटक से निकाल दिया जाय तो सप्तम अंक में राम और सीता का पुनर्मिलन अस्वाभाविक ही नहीं अन्याय पूर्ण भी हो जायगा। इस प्रकार विद्वानों की दृष्टि

१. सीता—(सोच्छ्वासास्रम्) आर्यपुत्र! इदानीमसि त्वम्। अहो, उत्खातितमिदानीं मे परित्यागशल्यमार्यपुत्रेण। उ० च० तृतीय अङ्क, पृष्ठ २८८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में उ० च० के तृतीय अंक का नाटकीय मूल्य वही है जो कालिदास के शाकुन्तल के चतुर्थ अंक का।

यद्यपि कुछ विद्वानों का कहना है कि इसमें नाटकीय व्यापार का एकदम अभाव है। कथा जहाँ से प्रारम्भ होती है वहीं अंततक वरतती रह जाती है, अतः वस्तु विकास तथा नाटकीय व्यापार की दृष्टि से इस अंक का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। यहाँ बाह्य घटना का घात प्रतिघात भले ही गौण दिखाई पड़े किन्तु भावों की आन्तरिक क्रियाशीलता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती रहती है। राम और सीता की कहानी का पार्थिव शरीर यहाँ भले ही स्थिर एवं जड़ीभूत दिखाई दे, किन्तु इसकी आत्मा में एक ऐसी अमोघ शक्ति है जो सीता की कुंठित पाषाण प्रतिमा को एक सफल संसारिणी के रूप में परिणत कर देती है। यहाँ नाटकीय व्यापार अन्तःसलिला सरस्वती की तरह भीतर ही भीतर प्रवाहित होता रहता है। अंक के प्रारम्भ से अन्त तक कथा के एक बिन्दु पर खड़े रहकर भी राम और सीता अपने भावी मिलन की दिशा में एक बहुत बड़ी दूरी तय कर लेते हैं। निश्चय ही यह इतिवृत्त की गतिशीलता का ज्वलन्त प्रमाण है। जहाँ तक इस अंक में आँसुओं की बाढ़ तथा मूर्च्छा दशा के चित्रण का प्रश्न है वह भी व्यर्थ नहीं है। सच पूछा जाय तो इन्हीं आंसुओं से राम और सीता के पुनर्मिलन वृक्ष की जड़ें सींची गई हैं जिसकी सुखद छाया में दर्शकों को चरम विश्रान्ति मिलती है। अतः वस्तु विन्यास एवं नाटकीय व्यापार की दृष्टि से उ० च० का यह तृतीय अंक भवभूति की समृद्ध नाट्य चेतना एवं अलोक सामान्य प्रतिभा का उज्ज्वल निदर्शन है इसे मुक्तकंठ से स्वीकार किया जा सकता है।

चतुर्थ अंक की कथावस्तु का महत्त्व तथा सीता निर्वासन का सामाजिक समाधान

चतुर्थ अंक का वस्तु संविधान भी तृतीय अंक की भाँति भवभूति के अद्भुत नाट्य शिल्प का उज्ज्वल प्रतीक है। वस्तु विकास की दृष्टि से इस अंक की कथावस्तु का सम्बन्ध द्वितीय अंक की कथावस्तु से है। द्वितीय अंक में आत्रेयी और वासंती के संवाद में हमें अरुन्धती, वशिष्ठ तथा कौशल्या आदि गुरुजनों का ऋष्यशृङ्ग के आश्रम से लौटकर वाल्मीकि के आश्रम में ठहरना, राम के मेध्य अश्व की रक्षा में चन्द्रकेतु की नियुक्ति आदि बातों की सूचना दी गयी थी। यहाँ उन सभी प्रसंगों का नाटकीय विस्तार दृष्टिगोचर होता है। इन गुरुजनों को वाल्मीकि के आश्रम में एकत्रित करने का एक नाटकीय महत्त्व है। नाटक के प्रथम अंक में सीता निर्वासन के समय इन गुरुजनों की अनुपस्थिति भी एक

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

महत्त्वपूर्ण घटना थी। अतः सीता के भावी मिलन के लिए इन महापुरुषों की सहानुभूति और सहयोग की नाटकीय अपेक्षा सुतरां सिद्ध हो जाती है। राम की आन्तरिक व्यथा की विवृत्ति तृतीय अंक में भलीभाँति हो चुकी है, यहाँ उनके स्वजनों एवं गुरुजनों की सामूहिक सहानुभूति को अर्जित कर राम और सीता के भावी मिलन मार्ग को प्रशस्त बनाया गया है। सीता निर्वासन मूलतः अपने आप में एक सामाजिक समस्या है। अतः इसके समाधान को भी सामाजिक मूल्य प्रदान करने के लिए नाटककार ने तत्कालीन समाज के प्रतिष्ठित गुरुजनों को वहाँ एकत्रित कर उनकी सामूहिक सहानुभूति अर्जित की है। नाटक के सप्तम अंक में सीता के पक्ष में जो संगृहीत लोकमत दिखाई देता है उसकी पवित्र एवं नाटकीय बुनियाद भी यहाँ ही दे दी जाती है।

तृतीय अंक में राम की व्याकुलता एवं पश्चात्ताप से सीता तथा उनकी सखियों का मन कुछ हल्का और प्रसन्न हो जाता है। किन्तु अब वस्तु विन्यास की दृष्टि से राम की माता कौशल्या तथा सीता के पिता जनक जी के मनोभावों की अनिवार्य अभिव्यक्ति के लिए समुचित स्थान की एक नाटकीय अपेक्षा हो जाती है। भवभूति ने इसकी पूर्ति चतुर्थ अंक में की है। सीता के वियोग में राजा जनक राजपाट को छोड़कर वैखानस हो गये हैं। वे सीता के शोक से ऐसे संतप्त दिखाई देते हैं कि मानों कोई सूखा महावृक्ष खड़ा हो और उसके अन्दर अग्नि की ज्वाला धधक रही हो :—

हृदि नित्यानुषक्तेन सीताशोकेन तप्यते।
अन्तः प्रसृप्तदहनो जरन्निव वनस्पतिः॥ ४।२

उन्हें अपने पवित्र रक्त के अपमान पर क्रोध होता है और वे तत्क्षण उस लोक तथा लोकपाल राम को नष्ट कर देने के लिए उद्यत हो जाते हैं—जिन्होंने कभी सीता को कलंकित कर निर्वासित किया था। किन्तु भगवती अरुन्धती के समझाने पर वे शान्त हो जाते हैं। उधर माता कौशल्या अपनी पुत्रवधू की दुर्भाग्यपूर्ण विपत्ति से तथा अपने प्यारे पुत्र राम की अविमृश्य-कारिता से इस प्रकार दग्ध हो चुकी हैं कि जनक जी भी उन्हें सहसा पहचान नहीं पाते[1]। वह जनक से मिलने में ग्लानि का अनुभव करती है किन्तु अरुन्धती की आज्ञा से वह जनक के सामने आती है। कौशल्या और जनक के इस कल्पित

---

१. उ० च०—जनकः (निरूप्य) हा हा, कथमियं महाराजस्य दशरथस्य धर्मदाराः प्रियसखी मे कौशल्या? क एतां प्रत्येति सैवेयमिति नाम?
य एव मे जनः पूर्वमासीन्मूर्तो महोत्सवः।
क्षते क्षारमिवासह्यं जातं तस्यैव दर्शनम्॥ ४।७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मिलन की नाटकीय आवश्यकता को कवि ने काफी गम्भीरता के साथ चित्रित कर राम और सीता के पुनर्मिलन की सम्भावना को कुछ न्याय संगत बना दिया हैं। यहाँ प्रेक्षकों की यह शंका मिट जाती है कि सीता निर्वासन में इन गुरुजनों का भी कुछ हाथ था और साथ ही यह धारणा बँध जाती है कि अगर ये गुरुजन राजधानी में उपस्थित रहे होते तो सीता निर्वासन जैसी नृशंस घटना कभी नहीं घट पाती। अब इन गुरुजनों के सहयोग से कदाचित् दोनों का पुनर्मिलन भी सम्भव हो सकेगा, यह विश्वास भी दर्शकों को होने लगता है। दुखी कौशल्या को समझाते हुए भगवती अरुन्धती के तपःपूत वाक्य से प्रेक्षकों को यह निश्चय हो जाता है कि अवश्य ही राम और सीता का पुनर्मिलन होगा। क्योंकि अरुन्धती कहती हैं कि महारानी क्या तुम्हें यह याद नहीं कि ऋष्यश्रृंग के आश्रम में तुम्हारे कुलगुरु वशिष्ठ ने यह कहा था कि जो होना था वह तो हो ही चुका परन्तु इसका परिणाम शुभ होगा।[1] अतएव ब्रह्म वर्चस्वी ब्राह्मणों के कथन में संदेह नहीं होना चाहिए क्योंकि इनकी वाणी में कल्याण करने वाली लक्ष्मी का सहज वास होता है और ये कभी मिथ्या नहीं बोलते[2]।

राम और सीता के मिलन में लोकमत

भगवती अरुन्धती के इस महावाक्य से प्रेक्षकों को विश्वास हो जाता है कि राम और सीता का पुनर्मिलन अवश्य ही संघटित होगा। उ० च० के सप्तम अंक में भगवती अरुन्धती के तपःपूत वाक्य को प्रमाण मानकर राम चिर दुखिनी सीता को पुनः ग्रहण कर धन्य होते हैं। अतएव नाटकीय कथावस्तु की इसी मनोवैज्ञानिक भावभूमि को तैयार करने के लिए कवि ने गुरुजनों को वाल्मीकि के आश्रम में एकत्रित किया है। चतुर्थ अंक की कथावस्तु के इसी नाटकीय महत्त्व के कारण भवभूति ने इस अंक का नामकरण भी 'कौशल्या जनक योग' किया है।

चतुर्थ अंक के प्रसंगों का मनोवैज्ञानिक विवेचन

इसके अतिरिक्त चतुर्थ अंक की कथावस्तु का एक मनोवैज्ञानिक महत्व भी है। तृतीय अंक के गम्भीर, कारुण्यमय तथा तनावपूर्ण वातावरण में सुधी प्रेक्षक कुछ थक से जाते हैं, अतः उनकी रुचि कायम रखने के लिए यहाँ कुछ प्रसन्न,

---

१. अरुन्धती—अन्यच्च किं न स्मरसि? यदवोचदृष्यश्रृंगाश्रमे युष्माकं कुलगुरुः—"भवितव्यं तथैत्युपजातमेव। किंतु कल्याणोदर्कं भविष्यतीति।"

२ अरुन्धती—आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां,
ये व्याहारास्तेषु मा संशयो भूत।
भद्रा श्वेषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता,
नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति॥ ४।१८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मधुर वातावरण की आवश्यकता हो जाती है। भवभूति ने चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में कुछ ऐसे ही प्रसन्न मधुर वातावरण का चित्र उपस्थित कर अपने नाट्य-कौशल का परिचय दिया है। सौधातिकी और दाण्डायन की आलोचनात्मक वार्ताएँ तथा ऋषि कुमारों द्वारा अश्व का स्वरूप वर्णन आदि कुछ ऐसे ही मधुर प्रसंग हैं[1] जो एक निर्दुष्ट हास्य का वातावरण उपस्थित कर हमें मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। यहाँ सामाजिकों के मनोविनोद के साथ-साथ कथावस्तु का विकास भी द्रुत गति से आगे की ओर गतिशील दिखाई देता है।

नाटकीय कथावस्तु के विकास में उत्सुकता एवं कुतूहलवृत्ति के संपोषण के लिए नाटककार ने कुमार लव को इसी अंक में अवतरित किया है। उनमें बालसुलभ स्वाभाविकता, क्षत्रियोचित स्वाभिमान और आश्रमोचित तेज और आत्म-विश्वास आदि दिव्य गुणों का अपूर्व सम्मिश्रण है[2]। उनकी दिव्य आकृति में राम और सीता की मुखच्छवि का प्रतिबिम्ब देखकर जनक और कौशल्या सहसा उत्कण्ठित हो जाती हैं और उनका परिचय प्राप्त करने के लिए अधीर एवं व्यग्र हो जाती हैं। किन्तु चतुर नाटककार ने इस भेद को अन्त तक निरावृत रखने में काफी कौशल का प्रदर्शन किया है। जो निसन्देह नाट्यकला की दृष्टि से एक स्वस्थ एवं स्तुत्य प्रयोग है। इसके पूर्व लव-कुश की चर्चा द्वितीय अंक में आ चुकी थी, अतः वस्तु-विकास की दृष्टि से उनकी उपस्थिति यहाँ मंच पर आवश्यक थी। इसलिए नाटककार ने चतुर्थ अंक की कथावस्तु में लव और कुश को मंच पर अवतरित किया है। इस प्रकार चतुर्थ अंक की कथावस्तु नाटकीय संविधान की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त एवं महत्त्वपूर्ण है।

उ० च० के चतुर्थ अंक के अन्तिम श्लोक में युद्ध दृश्य का नाटकीय संकेत दिया गया था। भवभूति ने कथांश के इसी छोर को पकड़कर नाटकीयता से अधिक कवित्व के दुराग्रह से उसे पंचम और षष्ठ अंक के पूरे आयाम में विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटकीय रंगमंच पर युद्ध का

---

१. बटवः—अये, श्रूयताम्—पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं, तच्च धूनोत्यजस्रं,
दीर्घग्रीवः स भवति, खुरास्तस्य चत्वार एव।
शष्पाण्यत्ति, प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रान्,
किं व्याख्यानैर्व्रजति स पुनर्दूरमेह्येहि यामः॥ ४।२६॥

२. जनकः—चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो,
भरपर्यस्तोकपवित्रलांछनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम्।
मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधो वातश्च मांजिष्ठकं,
पार्ष्णौ कार्मुकपक्षसूत्रवलयं दण्डोपरः पैप्पलः॥ ४।२०॥

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रदर्शन वर्जित है,[1] अतः कुशल नाटककार ने इसे पात्रों के संदृप्त संवाद से तथा नेपथ्य, विष्कम्भक आदि कुछ प्राचीन नाट्य रूढ़ियों के द्वारा उपस्थित कर अपने अद्भुत काव्यकौशल का प्रदर्शन किया है। यहाँ भवभूति की वश्या सरस्वती युद्ध की समस्त विभीषिकाओं को रूपायित करने में पूर्ण समर्थ है।

पंचम और षष्ठ अंक की कथावस्तु का नाटकीय महत्त्व

पंचम और षष्ठ अंक की कथावस्तु में युद्ध वर्णन का नाटकीय महत्त्व जृम्भकास्त्र के प्रदर्शन में निहित है। नाटक के पंचम अंक तक जृम्भकास्त्र का वर्णन तीन बार हो चुका है। प्रथम अंक में चित्रदर्शन के समय इसका इतिहास प्राप्त होता है कि ये कृशाश्व से विश्वामित्र तथा उनसे श्रीरामचन्द्रजी को प्राप्त हुए थे। वहीं पर रामचन्द्रजी के आशीर्वचन से प्रेक्षकों को यह भी सूचना मिलती है कि ये जृम्भकास्त्र पुनः सीता की सन्तति को प्राप्त होंगे[2]। इसके बाद द्वितीय अंक में पुनः आत्रेयी और वासन्ती के संवाद से कुमार लव कुश के पास जृम्भकास्त्र की स्थिति का संकेत मिलता है। पंचम अंक में आकर वे उपर्युक्त नाटकीय संकेत सत्य बनकर प्रतिफलित हो जाते हैं। यहाँ युद्ध दृश्य में कुमार लव द्वारा जृम्भकास्त्रों के अद्भुत प्रयोग को देखकर सुमन्त्र का मन विस्मय विमुग्ध हो जाता है[3]। षष्ठ अंक में आकर यही जृम्भकास्त्र पुनः लव कुश के प्रत्यभिज्ञान का कारण भी बनता है। यहाँ लव कुश के द्वारा जृम्भकास्त्रों के अद्भुत प्रयोग को देखकर श्रीरामचन्द्र के उपचेतन मानस में वात्सल्य का कमल खिल जाता है और साथ ही सीता के पार्थिव सतीत्व के विषय में भी आशा एवं विश्वास की एक सुनहली रेखा खिंच जाती है। नाटकीय दृष्टिकोण से यह अत्यन्त आवश्यक है कि राम सीता के विषय में अत्यधिक काल तक ऐकान्तिक रूप से निराश न हों। भारतीय नाट्य कला के अनुसार बिछुड़े हुए नायक को नायिका के अस्तित्व की सूचना देना अत्यन्त अनिवार्य माना गया है। महाकवि भास ने 'स्वप्नवासवदत्तम्' में ब्रह्मचारी के मुँह से महारानी वासवदत्ता की उदयन की जीवन दशा की सूचना दिलायी है। अभिज्ञान शाकुन्तल में

---

१. युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नांके प्रवेशकैः संविधेयानि ॥ ना० शा० १८।१९
दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
.....वर्जितो नाति विस्तरः ॥ शा० द०, षष्ठ परिच्छेद, छठी कारिका।

२. रामः—सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति। उ० च० प्रथम अंक, पृष्ठ ५०

३. आश्चर्यमाश्चर्यम्। पातालोदरकुञ्जपुञ्जिततमः श्यामैर्नभो जृम्भकै-
रुत्तप्तस्फुरदारकूटकपिलज्योतिर्ज्वलद्दीप्तिभिः।
कल्पाक्षेपकठोरभैरवमरुद्व्यस्तैरभिस्तीर्यते
लीनाम्भोदतडित्कडारकुहरैर्विन्ध्याद्रिकूटैरिव ॥ ५।१४ ॥

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

महाकवि कालिदास ने भी सानुमति के द्वारा महाराज दुष्यन्त के मनस्ताप की सूचना शकुन्तला को मारीचाश्रम में सुनाई है। इसी प्रकार उ० च० में भी भवभूति ने जृम्भकास्त्रों के प्रदर्शन द्वारा राम के मानस में लवकुश के प्रति वात्सल्य का भाव पैदा कर नाटकीय कथावस्तु की सुखान्त प्रकृति के साथ-साथ प्रेक्षकों की कुतूहलवृत्ति का भी कलात्मक संपोषण किया है।

नाटकीय संवाद एवं चरित्र-चित्रण

नाटकीय संवाद एवं चरित्रचित्रण की दृष्टि से भी पञ्चम अङ्क की कथावस्तु का अध्ययन अपना एक विशिष्ट महत्त्व रखता है। सामान्यतः जिन संवादों में चरित्र-चित्रण की क्षमता, व्यापार प्रसार की योग्यता तथा रसपरिपाक की दृष्टि से भावोद्बोधन की तीव्रता जितनी अधिक होती है, वह उतना ही अधिक नाटकीय और महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पञ्चम अङ्क में इस दृष्टि से कुमार लव और चन्द्रकेतु के वीरोचित संदृप्त संवाद विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। कुमार लव के तपःपूत चरित्र में आश्रमोचित तेज एवं क्षत्रियोचित शौर्य का सम्यक् परिस्फुटन हुआ है। जहाँ तक नायक राम के चरित्र का प्रश्न है उसमें अबतक दो बातें पूर्णतः स्पष्ट हो जाती हैं कि राम राजा के रूप में भले ही प्रजाप्रिय एवं कर्तव्यपरायण सिद्ध हों, किन्तु पति के रूप में उनके शील की आलोचना यत्र तत्र सर्वत्र सुनी जाती है। जनपद से लेकर ऋषियों के शान्त पावन आश्रम तक उनके सीता परित्याग का कौचर्य प्रसिद्ध हो चुका है। उ० च० के द्वितीय अङ्क में वासन्ती के उपालम्भपूर्ण संवादों में तथा चतुर्थ अङ्क में कौशल्या एवं जनक के सात्त्विक क्रोध में सीतापति राम के दुःशील की निन्दा प्रतिध्वनित होती है। उ० च० के तृतीय अङ्क में उनके पति रूप की पूर्ण अभिव्यञ्जना हुई है, किन्तु वहाँ नाटककार ने रङ्गमञ्च पर उनके पति रूप को सीता के वियोग में शोक विह्वल एवं भावविमूर्च्छित चित्रित कर सामाजिकों की सहानुभूति अर्जित कर ली है। किन्तु पञ्चम अङ्क में कुमार लव के मुँह से मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चारित्रिक दोष की लम्बी ऐतिहासिक तालिका कुछ अस्वाभाविक एवं अनाटकीय प्रतीत होती है।[1] यद्यपि कुमार लव की ऐतिहासिक आलोचना में भी वही सात्त्विक दंश विद्यमान है जो इसके पूर्व गुरुजनों की नैतिक प्रतिक्रिया में थी, किन्तु पात्र भेद के कारण वही भाव यहाँ कुछ

१. लवः—को हि रघुपतेश्चरितं महिमानं च न जानाति? यदि नाम किंचिदस्ति वक्तव्यम्। अथवा शान्तम्।

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते,
सुन्दस्त्रीमथनेऽप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीणि कुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने,
यद्रा कोशलमिन्द्रसूनु निधने तत्राप्यभिज्ञो जनः॥ उ० च० ५।३४

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अस्वाभाविक एवं अरुन्तुद प्रतीत होता है। यद्यपि इसके समाधान में विभिन्न टीकाकारों ने विभिन्न प्रकार की युक्तियाँ भी दी हैं,[1] फिर भी राम के प्रति कुमार लव का आक्षेप इतना उग्र और प्रत्यक्ष है कि उसे किसी भी तरह औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता। क्षेमेन्द्र ने अपनी 'औचित्य-विचारचर्चा' में कुमार लव की उक्तियों का अनौचित्य घोषित कर तीव्र आलोचना की है।[2] भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटकीय कथावस्तु में ऐसे प्रसङ्ग जिनसे प्रधान नायक के शील एवं चारित्र्य का हनन होता है, या रसपरिपाक में बाधक सिद्ध होता हो, उसे या तो छोड़ देना चाहिए अथवा उसकी अन्यथा प्रकल्पना कर देनी चाहिये।[3] भवभूति ने महावीरचरित में वालिवध के प्रसंग में राम के शील की रक्षा में ऐतिहासिक सत्य की अन्यथा प्रकल्पना की है। किन्तु उ० च० में वे मर्यादापुरुषोत्तम राम को अन्ततः नहीं बचा पाये। लगता है कि सीता परित्याग के अनौचित्य से विक्षुब्ध होकर कवि कुमार लव के मुँह से अपने विक्षुब्ध मन का भाव व्यक्त कराया है। निसन्देह उ० च० की कथावस्तु का यह अंश नाटकीय संविधान की दृष्टि से अनौचित्यपूर्ण ही है।

युद्ध दृश्य का मनोवैज्ञानिक महत्त्व

उपर्युक्त विवेचन के अतिरिक्त पञ्चम अङ्क की कथावस्तु में युद्ध दृश्य का एक मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी आँका जा सकता है। जिस प्रकार तृतीय अङ्क के गम्भीर करुण दृश्य के बाद सहृदयों की भाव विश्रान्ति के लिए चतुर्थ अङ्क का विनोदपूर्ण वातावरण उपयुक्त सिद्ध होता है उसी प्रकार षष्ठ अङ्क में उद्बुद्ध होने वाली करुणा की सम्यक् चर्वणा के लिए पञ्चम अङ्क में वाक्युद्ध की गम्भीर पृष्ठभूमि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त के उन्मन मन को मसल कर युद्धोन्मुख बनाने के लिए मनोविज्ञान के इसी सत्य का नाटकीय विनियोग किया है।[4] अतः पञ्चम अङ्क का युद्ध दृश्य षष्ठ अङ्क के कारुण्य भाव को नवीन रूप प्रदान करने में भूमिका का काम करता है। इसके बाद सप्तम

---

१. इस प्रसंग में कान्तानाथशास्त्री तेलंग महोदय की उ० च० की टीका विशेष द्रष्टव्य है।

२. 'अत्राप्रधानस्य रामसूनोः कुमारलवस्य·····वीररसोद्दीपनाय···प्रधाननायकगतस्य वीररसस्य···वालिव्यापादनादिजनविहितापवादप्रतिपादनेन स्ववचसा कविना विनाशः कृतः इत्यनुचितमेतत्।' औ० वि० चर्चा—क्षेमेन्द्र।

३. यत्स्यादनुचितं किंचित् नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्॥ सा० द०—षष्ठ परि० १२ का०

४. मातलि—ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।
तेजस्वी संक्षोभात् प्रायः प्रतिपद्यते तेजः॥
कालिदास, अ० शा०—६।३६

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अङ्क के 'सम्मेलन अङ्क' की भूमिका भी यहीं से तीव्रता के साथ निर्मित होती दिखाई देती है।

पञ्चम अङ्क का नामकरण

भवभूति ने उ० च० के पञ्चम अङ्क की कथावस्तु का नामकरण 'कुमारविक्रम' किया है। टीकाकारों ने अधिकतर 'कुमारयोः विक्रमो यत्रेति कुमारविक्रमः' इस बहुव्रीहिसमास द्वारा उक्त नामकरण की सार्थकता सिद्ध की है। किन्तु वास्तव में यहाँ केवल कुमार लव के तेजोदृप्त पराक्रम का ही ऐकान्तिक प्रदर्शन हुआ है, चन्द्रकेतु तो केवल सुमन्त्र के साथ गला मिलाकर कुमार लव के अलौकिक शौर्य की भूरि भूरि प्रशंसा करता रहता है। हाँ—कुमार लव को देखकर चन्द्रकेतु के हृदय में रह-रहकर जो जननान्तर स्नेह की रमणीय तरंगे उठती रहती हैं निसन्देह वे नाट्यकला एवं काव्यकला की दृष्टि से सर्वथा अनुपमेय हैं।[1] अतएव इस दृष्टि से यहाँ 'कुमारस्य (लवस्य) विक्रमो यत्र स कुमारविक्रमो नामांकः'—यही समास समीचीन प्रतीत होता है और इसी व्युत्पत्ति के अनुसार इस अङ्क के नामकरण की सार्थकता भी सिद्ध होती है।

षष्ठ अंक की कथावस्तु

षष्ठ अंक की कथावस्तु का प्रारम्भ भी युद्ध दृश्य से ही होता है किन्तु शास्त्र एवं परम्परा के अनुरोध से नाटककार ने इसे यहाँ भी रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं कर विष्कम्भक में विद्याधर दम्पति के दर्पस्फीत संवादों द्वारा चित्रित किया है। यहाँ इस लम्बे एवं आडम्बर पूर्ण युद्ध दृश्य वर्णन का कोई विशेष नाटकीय महत्त्व नहीं दिखाई देता बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति ने अपनी कवित्वशक्ति का अलौकिक चमत्कार प्रदर्शित करने के मोह से यहाँ अवसर निकालकर अपने शस्त्र एवं शास्त्रगत पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। निसन्देह, कथावस्तु के विकास में युद्ध दृश्य का यह लम्बा वर्णन ऊपर से जोड़ा हुआ, लादा हुआ प्रतीत होता है, इससे नाटकीय कथानक का स्वाभाविक विकास कुछ अवरुद्ध हो जाता है। अतएव नाट्यकला की दृष्टि से युद्ध का लम्बा वर्णन यहाँ कदाचित् अनावश्यक एवं अवांछनीय ही है।

प्रत्यभिज्ञान दृश्य की उपयोगिता

षष्ठ अंक की कथावस्तु का नाटकीय संविधान "प्रत्यभिज्ञान दृश्य" के लिए किया गया है। राम को लव कुश से प्रत्यक्ष कराकर उनकी सीता भावना को संदीपित करना इसका नाटकीय उद्देश्य है। इसके पूर्व तृतीय अंक में सीता की राम भावना का चरमोत्कर्ष दिखाया जा सका है। यहाँ अब राम की सीता

१. उ० च० ५।१५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भावना को प्रवृद्ध कर सप्तम अंक में दोनों के भावी मिलन को संतुलित एवं स्वाभाविक रूप प्रदान करना नाटककार का कलात्मक लक्ष्य है। नाटकीय कथावस्तु के स्वाभाविक विकास के लिए यह आवश्यक भी है कि राम सीता के विषय में ऐकान्तिक रूप से निराश न हों। इसलिए भवभूति के कुशल नाटककार ने लव-कुश को नाटकीय रंगमंच पर उपस्थित कर राम के मानस में सहसा वात्सल्य का कमल खिलाया है और इससे उनकी सीता भावना को प्रज्वलित कर दोनों के पुनर्मिलन को मंगलमय और औचित्यपूर्ण बनाया है। लव और कुश में रघुवंश की दीप्ति तथा उनकी मुखाकृति में सीता की मुखच्छवि का प्रतिबिम्ब देखकर राम का चिर रिक्त हृदय पुत्र स्नेह के किसी अज्ञात अनाम, पुलक भार से सहसा भर जाता है[1]। इससे राम के अवचेतन मन में सीता के पार्थिव अस्तित्व की धुंधली आशा रेखा सहसा खिंच जाती है, किन्तु कुशल नाटककार ने अपनी अद्भुत कल्पना कला के द्वारा इस तथ्य को रहस्यपूर्ण रखकर प्रेक्षकों की जिज्ञासा और कुतूहलवृत्ति का कलात्मक संपोषण किया है। इस रहस्य का वास्तविक प्रस्फुटन नाटक के अन्तिम दृश्य में होता है जहाँ राम की सीता भावना चरमोत्कर्ष तक पहुँच जाती है। भारतीय नाट्य परम्परा में कदाचित् नाटकीय कथावस्तु के विकास को चरमलक्ष्य तक पहुँचाने एवं दर्शकों की कुतूहलवृत्ति के संपोषण के लिए कथा के अंत में "प्रत्यभिज्ञान दृश्य" की योजना एक सनातन नियम सी प्रतीत होती है। महाकवि कालिदास ने भी अ० शा० के सप्तम अंक में ऐसे ही प्रत्यभिज्ञान दृश्य की योजना कल्पित की है जहाँ महाराज दुष्यन्त की सूखी सूनी गोद बालक सर्वदमन के पवित्र पदरज से पूत और धन्य हुई है[2]।

स्वगत भाषण की आलोचना

नाटकीय कथावस्तु में स्वगत भाषण की परम्परा अतिप्राचीन है। किन्तु इसका जैसा प्रयोग वैविध्य एवं प्रभाववैचित्र्य पाश्चात्य नाटकों में देखा जाता है

१. रामः –तत्किमयमेकपद एव मे दुःखविश्रामं ददात्युपस्नेहयति च कुतोऽपि निमितादगत-
रात्मानम् ? अथवा 'स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्ष' इति विप्रतिषिद्धमेतत्।
व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसित हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥ उ० च० ६।१२

२. राजा—आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै–
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदंगरजसा मलिनी भवन्ति॥—कालिदास, अ० शा०-७।१७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वैसा भारतीय नाट्य परम्परा में नहीं। मानव हृदय की गहराई को मापने का, अन्तःकरण की विभिन्न धाराओं से क्षणभर में परिचय प्राप्त करने का तथा जीवन की विषमताओं को सुलझाने का अनुपम साधन स्वगत भाषण ही है। उ० च० के षष्ठ अंक की कथावस्तु में भवभूति ने राम की सीता भावना को संधुक्षित करने के लिए स्वगत भाषण की योजना की है किन्तु यह इतना लम्बा और कृत्रिम हो गया है कि कथावस्तु के स्वाभाविक विकास में कुछ बाधक सा प्रतीत होने लगता है। सामान्यतः नाटक का विधान यह है कि पात्र अपना परिचय अपने व्यापारों से ही कराये न कि केवल वाणी से। दर्शक समाज भी नाट्यशाला में श्रवण का उपयोग उतना ही करना चाहता है जितना स्वाभाविक और अनिवार्य होता है। जिस विषय का चाक्षुष प्रत्यक्ष संभव है उसे केवल श्रवणेन्द्रिय द्वारा सूचित पाकर वह संतुष्ट नहीं होता। जब नाटककार किसी ज्ञातव्य विषय की सूचना क्रमशः संवाद और अभिनय के द्वारा प्रस्तुत करता है तो उसकी प्रक्रिया स्वाभाविक होने के कारण सामाजिकों को रस की ओर ले जाती है, किन्तु वही घटना जब लम्बे स्वगत भाषण के द्वारा सहसा प्रकट करने की चेष्टा की जाती है तब नाटककार वर्णनात्मक शैली का अनुसरण करने लगता है और नाट्यकला से दूर हटकर वह उपन्यासकला की सीमा में जा पहुँचता है। अतएव नाट्यकला की दृष्टि से आज स्वगत भाषण की जगह चुस्त एवं क्रियाशील संवाद की योजना ही अधिक काम्य एवं रम्य मानी जाती है। उपर्युक्त दृष्टिकोण से यहाँ राम का विस्तृत स्वगत भाषण नाटकीय कम है और काव्यात्मक अधिक। यद्यपि इसमें भाव गाम्भीर्य तथा अनुभूति की तीव्रता पर्याप्त मात्रा में है जिससे सहृदयों की रसानुभूति में विशेष बाधा नहीं होती फिर भी ऐसे विस्तृत प्रसंग नाट्यकला की दृष्टि से अनावश्यक एवं अवांछनीय ही सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार अंक के अन्त में बालक लव और कुश के समक्ष सीता देवी के शारीरिक गठन, अंगलावण्य तथा मौग्ध्य भाव का रोमान्टिक वर्णन मर्यादा पुरुषोत्तम राम के मुँह से अच्छा नहीं लगता[1]। संस्कृति एवं संस्कार के धनी, मर्यादावादी नाटककार भवभूति की अतिप्रगल्भ प्रतिभा का सहसा उद्दाम एवं अमर्यादित रूप देखकर निश्चय ही यहाँ सहृदयों के मन में विरसता का भाव उत्पन्न हो जाता है। अगर इसे भी राम के स्वगत भाषण का ही एक अंश मान लिया

१. रामः— तदा किंचिल्किंचित्कृतपदमहोभिः कतिपयै-
स्तदेतद्विस्तारि स्तनमुकुलमासीन्मृगदृशः।
वयःस्नेहाकूतव्यतिकरघनो यत्र मदनः,
प्रगल्भव्यापारः स्फुरति हृदि मुग्धश्च वपुषि॥
उ० च० ६।३५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जाता तो किसी तरह इसका औचित्य निर्धारण संभव था अन्यथा भवभूति के वस्तु संविधान का यह एक नाटकीय दोष ही गिना जायगा।

भवभूति चतुर्थ अंक से ही राम तथा उनके स्वजन गुरुजन एवं लव कुश सभी को परस्पर मिलाने का नाटकीय प्रयास करते आ रहे थे। षष्ठ अंक में आकर उनका यह प्रयास बहुत कुछ सफल दिखायी देता है। इसके पूर्व के अंकों में फैले हुए कथा जाल भी यहाँ एकत्रित होते दिखाई देते हैं।

भवभूति ने षष्ठ अंक का नाम 'कुमारप्रत्यभिज्ञान' रखा है। किन्तु यहाँ प्रत्यभिज्ञान शब्द का कोई पारिभाषिक अर्थ अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि किसी ज्ञात वस्तु का पुनर्ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। यहाँ राम को जीवन में पहली बार ही लव कुश का साक्षात्कार हो रहा है, अतः प्रत्यभिज्ञान शब्द के शास्त्रीय अर्थ की संगति यहाँ नहीं बैठती। इस प्रत्यभिज्ञान शब्द का शैव दर्शन के 'प्रत्यभिज्ञान' से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यहाँ प्रत्यभिज्ञान शब्द का सीधा सादा अर्थ 'परिचय' ही करना चाहिये—यही अर्थ यहाँ कदाचित् नाटककार को भी अभिप्रेत प्रतीत होता है।

सप्तम अङ्क की कथावस्तु का नाटकीय मूल्य

उ० च० का सप्तम अंक महानुभूति भवभूति की प्रौढनाट्य प्रतिभा की दिव्य देन है। यह महर्षि वाल्मीकि की अलौकिक काव्य प्रतिभा से आगे एक नूतन अध्याय का नाटकीय संविधान है। वाल्मीकि की काव्य प्रतिभा सीता को रसातल प्रवेश कराकर सन्तुष्ट हो जाती है किन्तु भवभूति ने चिर वियोगिनी सीता को राम से मिलाकर अपनी अलौकिक नाट्य प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। यह कोई शास्त्र एवं परम्परा का मात्र अनुवर्तन नहीं बल्कि कला के अनन्त राज्य में सत्यम् एवं सुन्दरम् का नित्य नूतन अनुसन्धान है।

गर्भाङ्क नाटक की सार्थकता

यह सम्मेलन अंक है। यहाँ सदियों से बिछुड़े दो दग्ध हृदयों का पुनर्मिलन कराया गया है। यद्यपि उ० च० के तृतीय अंक में तमसा और मुरला के संवादों से प्रेक्षकों को निर्वासन के बाद सीतादेवी की दयनीय दशा का अनुमान हो जाता है, किन्तु सीता निर्वासन में सर्वाधिक प्रबल एवं महत्त्वपूर्ण कारण बना हुआ लोक एवं राजा राम सीता की उस दीन हीन दशा से अभी तक नितान्त अनभिज्ञ ही हैं। सीता निर्वासन अपने आप में एक सामाजिक समस्या है। अतः लोक समाज की सजल सहानुभूति के बिना राजा राम सीता को पुनः प्राप्त भी नहीं कर सकते। इसलिए कुशल नाटककार ने इस सामाजिक समस्या के समाधान के लिए यहाँ एक गर्भाङ्क नाटक की अलौकिक अवतारणा की है। महर्षि वाल्मीकि के अलौकिक तपः

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रभाव से अयोध्या की सारी प्रजा तथा राम के सभी स्वजन गुरुजन यहाँ अनायास उपस्थित हो जाते हैं। नाटकीय मञ्च पर पवित्र चरित्रा सीता की दयनीय दशा को देखकर सभी एक ही बार विचलित हो उठते हैं। इस दृश्य के द्वारा सीता अनायास ही लोक की सहानुभूति अर्जित कर लेती है। राम की सीता भावना का चरमोत्कर्ष वहाँ प्रत्यक्ष हो जाता है, जहाँ वे अपनी कर्तव्यभूल गुरुजनों के सामने विनत होकर स्वीकार करते हैं और अन्त में सीता को प्राप्त करने के लिए व्यग्र होकर मूर्च्छित हो जाते हैं। समस्त प्रजावर्ग के सामने वास्तविक सीता भगवती अरुन्धती के साथ रङ्गमञ्च पर प्रकट होती है और वहाँ सारी सभा के बीच भगवती अरुन्धती के आदेशानुसार राम सीता को ग्रहण कर धन्य हो जाते हैं :—

नियोजय यथाधर्मं प्रियां त्वं धर्मचारिणीम्।
हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यां प्रकृतिमध्वरे ॥ ७।२०

सप्तम अंक का वस्तु-विन्यास जितना मनोविज्ञान की दृष्टि से औत्सुक्यवर्धक है उतना ही नाट्यकला की दृष्टि से औचित्यपूर्ण एवं महत्त्वपूर्ण भी। नाटकीय कथा-वस्तु के बिखरे तन्तुजाल यहाँ मिलकर एक अखण्ड कार्य प्रभाव की सृष्टि में योगदान देते हैं। नाटक के प्रथम अंक में राम ने गङ्गा और पृथ्वी को निर्वासन की अवस्था में सीता के योग क्षेम का भार दिया था—सप्तम अंक में उसी वाक्य को दुहराती हुई गङ्गा और पृथ्वी पुनः सीता को राम के अंक में सौंपकर न्यास भार से मुक्त हो जाती हैं। 'उक्तमासीदायुष्मता वत्सायाः परित्यागे भगवति वसुन्धरे! सुश्लाघ्यां दुहितरमवेक्षस्व जानकीम्' इति। तदधुना कृतवचनाऽस्मि।[1] तृतीय अंक के वस्तु संविधान का नाटकीय उत्कर्ष सप्तम अंक में ही प्रतिफलित होता है। वहाँ का छाया दृश्य यहाँ प्रत्यक्ष बनकर प्रेक्षकों को परमविश्रान्ति प्रदान करता है। अतएव सप्तम अंक का यह गर्भाङ्क नाटक भवभूति की महत्तम नाट्य चेतना का अद्भुत् विनियोग है।

वस्तु संविधानगत दोषों की सामान्य समीक्षा

कुछ आलोचकों ने भवभूति के नाटकीय वस्तु संविधान में कुछ दोषों को उद्घाटित किया है।[2] सप्तम अंक की कथावस्तु में कुमार शत्रुघ्न का अचानक सम्मेलन कुछ असङ्गत प्रतीत होता है। शत्रुघ्न जो प्रथम अंक में लवणासुर के वध के लिए निकले थे, वे यहाँ सप्तम अंक के करुणाद्भुत् रस योग में अचानक मिल जाते हैं। नाट्य कला की दृष्टि से शत्रुघ्न का यहाँ आकस्मिक मिलन असङ्गत एवं अनाटकीय प्रतीत होता है। क्योंकि नाटक के प्रथम अंक में ही वे लवणासुर का वध करने के लिए निकले थे और यहाँ बारह वर्ष के बाद कथा के अन्त में हठात्

१. उ० च०, ७ अंक, पृष्ठ ५०५,
२. द्रष्टव्य—एस० राय की उ० च० की भूमिका।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

'उत्खातलवणो मधुरेश्वरः प्राप्तः' की सूचना दी जाती है। यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या बारह वर्षों तक उनका युद्ध अनवरत चलता ही रहा ? और अगर चलता ही रहा तो फिर राम ने इसी बीच शत्रु के रहते ही अश्वमेध यज्ञ का प्रारम्भ और समाप्ति कैसे किया ? शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार अजातशत्रु हो जाने के बाद ही कोई राजा अश्वमेध यज्ञ कर सकता है। अतएव अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति के बाद शत्रुवध की सूचना कुछ असङ्गत और अनाटकीय मालूम होती है। वस्तुतः भवभूति को इसकी सूचना द्वितीय अंक में ही दे देनी चाहिये थी। यद्यपि काव्य में इतिहास और गणित की गणना बहुत अधिक आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जाती क्योंकि अनुभूति की तीव्रता एवं भावों की गहराई में सुधी जन उन तत्त्वों की अपेक्षा रखना भूल जाते हैं, काव्य में भाव तत्त्व की ही प्रधानता होती है फिर भी एक कुशल नाटककार के लिए इस प्रकार का वस्तु संविधानगत साधारण भ्रम भी एक महत्त्वपूर्ण दोष ही माना जायगा।

राम और सीता का पुनर्मिलन

नाटक का प्रारम्भ अयोध्या के राज-महल में होता है और अवसान प्राचेतस वाल्मीकि के शान्त पावन आश्रम में गङ्गा के रमणीय पुनीत तट पर। दोनों के वातावरण में धरती और आसमान का अन्तर है। एक ओर राजधर्म का कठोर अनुशासन है जिसके परिणामस्वरूप सती साध्वी सीता जैसी धर्मपत्नी का कठोर निर्वासन संघटित होता है, किन्तु दूसरी ओर महर्षि वाल्मीकि का शान्त पावन आश्रम है, जो तपस्या के तेज से उद्दीप्त है जहाँ न्याय और शान्ति का अखण्ड राज्य है, दो भूले भटके हृदय यहाँ मिलकर एक हो जाते हैं। चित्र दर्शन की योजना दोनों ही जगह निष्पन्न हुई है किन्तु उसकी प्रक्रिया और परिणति में भारी वैषम्य है। एक चित्रगत है और दूसरा मञ्चगत। प्रथम चित्र दृश्य राम और सीता के हृदय में विप्रयोग का त्रास उत्पन्न करता है तो दूसरा उस त्रास को मिटाकर एक अखण्ड आनन्द का सञ्चार करता है। प्रथम दृश्य में राम सीता को पाकर भी खो देते हैं और दूसरे दृश्य में उसे खोकर भी पुनः प्राप्त कर लेते हैं। कथावस्तु के इन दो छोरों को मिलानेवाले कथांशों का नाटकीय विस्तार बीच के अंकों में कौशल-पूर्वक उपन्यस्त किया गया है। निसन्देह प्रयोग एवं उपलब्धि की दृष्टि से उ० च० का वस्तु संविधान भवभूति की अलोक सामान्य प्रतिभा तथा समुन्नत नाट्य चेतना की उज्जवल विभूति है।

डी० एल० राय के मत की समीक्षा

नाट्यकला के मर्मज्ञ विद्वान तथा भवभूति के सुधीसमीक्षक श्री द्विजेन्द्र लाल राय ने उ० च० में राम और सीता के पुनर्मिलन को अनुचित ही नहीं अन्यायपूर्ण

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भी घोषित किया है। इसके लिए उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं—वे यहाँ विचारणीय हैं। उनका कथन है कि "भवभूति के राम प्रजानुरंजन के फेर में पड़कर एक बहुत बड़े कर्त्तव्य से स्खलित हो गये। वह कर्त्तव्य था न्याय विचार। उन्होंने सजग अवस्था में दिन दोपहर को सर्वथा निरपराधिनी और विश्वास रखनेवाली सीता को अकारण निर्वासन दण्ड दिया—इसलिए वे उसे पुनः पाने के अधिकारी नहीं हैं। यह सही है कि राम ने यज्ञ के अवसर पर सीता की सुवर्ण प्रतिमा को बनवाकर बगल में रखा, यह भी सत्य है कि वे सीता के लिए रोते हुए वन वन फिरे, किन्तु यह भी सत्य है कि उन्होंने सीता के साथ न्यायविचार नहीं किया। वाल्मीकि ने सीता को रसातल भेजकर बहुत ही उचित किया, किन्तु भवभूति ने उ० च० में दोनों का पुनर्मिलन कराकर एक साथ ही काव्यकला और काव्यन्याय दोनों की हत्या कर दी है।.....वस्तुतः राम ने सीता को पुनः पाया ही नहीं, यही काव्य न्याय है।[1]

किन्तु द्विजेन्द्रबाबू के इस काव्य न्याय को पुनः सुधी सहृदय परिषद् में विचारार्थ रखा जा सकता है। भवभूति ने वाल्मीकि रामायण के जिस समस्या-पूर्ण अंश को अपने नाटक का विषय बनाया है, वह अपने मूल रूप में स्वतः आलोच्य है। कदाचित् इसी साहित्यिक आलोचना के भय से भवभूति के पूर्व किसी भी महाकवि ने वाल्मीकि रामायण के इस समस्यामूलक कथांश को अपने काव्य या नाटक का विषय नहीं बनाया। वाल्मीकि के बाद महाकवि कालिदास ने रघुवंशम् में इस ऐतिहासिक समस्या का स्पर्श किया अवश्य है,[2] किन्तु उसमें न तो कोई मौलिकता है और न कोई नवीनता ही। बल्कि कालिदास भी वाल्मीकि की तरह ही सीता को रसातल भेजकर गतानुगतिक बन गये हैं। आश्चर्य होता है कि जो वाल्मीकि क्रौंच पक्षी के विरह दुःख को क्षण भर भी न कह सका, करुणा के धनी उसी वाल्मीकि ने यहाँ छाती पर पत्थर रखकर सदा गीली आँखों वाली रघुकुल राजवधू सीता को कैसे रसातल भेज दिया? उर्वशी और शकुन्तला की विपत्ति में धरती से लेकर आसमान तक आठ-आठ आँसू बहाने वाले महाकवि कालिदास भी यहाँ एक सती साध्वी अबला का विरह आँसू नहीं पोंछ सके। इस प्रकार भारतीय साहित्य में कदाचित् सर्वप्रथम वाग्विभूति ही ऐसे महाकवि दिखाई देते हैं जिन्होंने रामकथा के इस ऐतिहासिक समस्या का सर्वथा मौलिक

---

१. कालिदास और भवभूति-द्विजेन्द्रलाल राय, पृष्ठ २६, द्वितीय संस्करण।

२. रघु०—तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी।
समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुंधरा॥
सा सीतामंकमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम्।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात्॥ —कालिदास। १५।८३-८४

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

एवं चिरनवीन समाधान उपस्थित कर अपने साहित्यिक सत्साहस का अद्भुत परिचय दिया है। निःसन्देह इस दृष्टि से भवभूति की नाट्य प्रतिभा चिरनमस्य है।

सीतानिर्वासन यद्यपि अपने आप में एक ऐतिहासिक समस्या है किन्तु भवभूति ने इसे यहाँ एक मानवीय समस्या के रूप में ग्रहणकर उसका साहित्यिक समाधान प्रस्तुत किया है। इसके लिए उन्होंने जो नाटकीय भावभूमि तैयार की है—वह भी सर्वथा मौलिक और मानवीय है। नाटक के प्रथम अंक में ही उन्होंने सीता निर्वासन को कर्त्तव्य एवं परिस्थिति का आवश्यक एवं दुर्निवार्य परिणाम सिद्ध कर राम के उदात्त व्यक्तित्व की रक्षा कर ली है।

राम अभी-अभी राजा बने हैं। उनके सभी स्वजन गुरुजन भगवान् ऋष्य-शृंग के द्वादश वार्षिक सत्र में भाग लेने के लिए अयोध्या से बाहर निकल चुके हैं। इधर सीता के विषय में "रक्षोगृहस्थितिमूलक" लोकापवाद भी जनता में तेजी से फैल रहा है, सूत्रधार का कहना है कि अगर यह किंवदन्ती महाराज के कानों तक पहुँच जाय तो निश्चय ही कोई अनर्थ हो जायगा—"यदि पुनरियं किंवदन्ती महाराजंप्रति स्यन्देत् ततः कष्टं स्यात्।" इधर एक ओर कुलगुरु वशिष्ठ का अनुशासन-वाक्य राम के कर्त्तव्य भार को और भी गुरुतर बना देता है "युक्तः प्रजानामनुरंजने स्यास्तस्माद्यशो यत् परमं धनं वः"[1] और दूसरी ओर श्रीराम भी गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर लोकधर्म की रक्षा के लिए कोई भी बड़ा से बड़ा त्याग करने के लिए कृतसंकल्प हो जाते हैं :—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा[2]॥

यहाँ प्रेक्षकों को यह भलीभाँति विदित हो जाता है कि राम अपने कर्त्तव्य-निर्धारण में नितान्त एकाकी और नये हैं—अतः सीता के विषय में वे कोई भी छोटा या बड़ा निर्णय ले सकते हैं। परिस्थिति एवं कर्त्तव्य के ऐसे द्वन्द्वात्मक अवसर पर अगर राम सीता-निर्वासन का ही निर्णय ले लेते हैं तो सहज संभाव्य ही प्रतीत होता है। भवभूति ने यहाँ सीता निर्वासन का पूरा दायित्व लोक और गुरु द्वारा अनुशासित राजधर्म पर अर्पित कर राम को चारित्रिक कलंक से बेदाग बचा लिया है। सीता निर्वासन का कार्य यहाँ लोक और राजधर्म है, पति राम नहीं। इस प्रकार सीता निर्वासन जैसे नृशंस कार्य को कर्त्तव्य एवं परिस्थिति का अनिवार्य परिणाम सिद्ध कर भवभूति ने इसका एक नाटकीय समाधान प्रस्तुत किया है।

---

१. उ० च०—प्रथम अंक १।११
२. वही,—१।१२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

राम और सीता के पुनर्मिलन को स्वाभाविक रूप प्रदान करने के लिए ही भवभूति ने प्रथम अंक में सीता निर्वासन की यह नाटकीय पृष्ठभूमि तैयार की है। सीता निर्वासन और उनका पुनर्मिलन ये दोनों समस्याएँ एक ही समस्या के दो रूप हैं। अतएव भवभूति ने यहाँ पुनर्मिलन को औचित्यपूर्ण सिद्ध करने के लिए सीता निर्वासन को कर्त्तव्य और परिस्थिति का आवश्यक परिणाम सिद्ध किया है।

भवभूति ने राम और सीता के पुनर्मिलन को आवश्यक और स्वाभाविक बनाने के लिए दोनों के पारस्परिक प्रेम की सात्विक अभिव्यंजना की है। राम अगर सीता के प्रति पहले से ही या बाद में भी कुछ तटस्थ एवं उदासीन होते तो कदाचित् सीता निर्वासन का दायित्व राम पर भी जा सकता था किन्तु चतुर नाटककार ने राम की चारित्रिक रक्षा के लिए निर्वासन के पूर्व और बाद में भी सीता के प्रति उनके निगूढ़ निर्भर दाम्पत्य प्रेम को बड़े ही मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त किया है। यहाँ दर्शकों की यह सारी शंका मिट जाती है कि राम के हृदय में पहले या बाद में भी सीतापवाद की कोई शंका शेष थी। जो राम सीता के स्पर्श तथा स्मरण मात्र से भी शोक विह्वल हो सकते हैं, तथा जिसके करुण-क्रन्दन को सुनकर पत्थर की छाती भी दो टूक हो जाती है[1] वह राम सीता निर्वासन जैसे दायित्व का अधिकारी कथमपि नहीं हो सकता। जो राम पंचवटी के चिरपरिचित प्रदेश में सीता के लिए फूट फूटकर रोये हैं, जिसने यज्ञ में भी सीता की सुवर्ण प्रतिभा को बांयी ओर रखकर अपने एक पत्नीव्रत का अलौकिक प्रमाण प्रस्तुत किया है वह राम सीता को मन से कभी निर्वासित नहीं कर सकता। कर्त्तव्य एवं परिस्थिति से बाध्य होकर राम अगर सीता का निर्वासन कर भी देते हैं तो वे सर्वथा क्षम्य ही हैं क्योंकि वे अपने कर्तव्य निर्धारण में सिर्फ नये ही नहीं बल्कि एकाकी भी हैं। यद्यपि जनक और कौशल्या आदि गुरुजनों के प्रतिक्रियात्मक वाक्यों में राम के अपराध की व्यंजना संवेद्य है किन्तु कथा के अन्त में इन्हीं गुरुजनों के आगे विनत होकर राम ने अपनी कर्त्तव्य भूल भी अंगीकार कर ली है। भूल छोटी हो या बड़ी, व्यक्ति जब उसे विनम्र भाव से सादर स्वीकार कर लेता है[2] तो वह दोषी नहीं रह जाता, दुनियाँ उसे सच्चा पुरुष समझकर क्षमा ही नहीं करती बल्कि उसे आदर्श भी मानती है अतएव ऐसे

१. लक्ष्मणः—अथेदं रक्षोभिः कनकहरिणच्छद्मविधिना,
तथा वृत्तं पापैर्व्यधयति यथा क्षालितमपि।
जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितै-
रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्॥ उ० च० १।२८

२. रामः— कृतापराधोऽस्मि भगवति! त्वयानुकम्पयितव्यो रामः प्रणमति।
उ० च० सप्तम अंक, पृष्ठ ५०५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan

राम यदि लोक एवं गुरुजनों का आशीष ग्रहण कर खोई सीता को पुनः प्राप्त करते हैं तो इसमें कहीं भी "काव्यन्याय" की हत्या नजर नहीं आती।

राम और सीता के पुनर्मिलन में काव्य न्याय की हत्या तब संभव थी यदि पुनर्मिलन के समय राम के प्रति सीता के मन में निर्वासन जन्य कोई प्रतिक्रिया शेष रहती। यद्यपि निर्वासन काल में छाया दृश्य में सीता ने राम को अचानक देखकर राजा शब्द से सम्बोधित कर अपने मानसिक क्षोभ की स्वाभाविक प्रतिक्रिया प्रकट की है किन्तु कुशल नाटककार ने अपनी अलौकिक प्रतिभा के द्वारा सीता के हृदय से निर्वासन जन्य शंकाशल्य को निकाल बाहर करने में अपने अपूर्व नाट्य कौशल का प्रदर्शन किया है। जो सीता पहले राम को राजा कहकर अपना तटस्थ्य भाव व्यक्त करती है वही सीता जब रघुकुल देवता राम के सात्विक प्रेम एवं एकपत्नीव्रत को जानती है तब उन्हें दुर्लभ दर्शन एवं आर्यपुत्र कहकर बार-बार प्रणाम निवेदित करती हुई धन्य हो जाती है—"नमो नमोऽपूर्वपुण्यजन्यदर्शिताभ्यामार्यपुत्रचरणकमलाभ्याम्'। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो राम ने सीता को मन से निर्वासित किया है और न तो सीता के हृदय में राम के प्रति कोई मालिन्य है। दोनों एक दूसरे के हृदय को भलीभांति पहचानते हैं—'अहमेवैतस्य हृदयं जानामि ममाप्येषः।' वस्तुतः सुख-दुःख, पाप-पुण्य सभी मन के भाव हैं उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं। व्यक्ति अपनी प्रियतमा से दूर रहकर भी उसके मन में वास करता है और कभी कभी एक ही कमरे में अत्यन्त निकट रहकर भी दोनों एक दूसरे से दूर रह सकते हैं। वाल्मीकि की सीता रावण के घर में रहकर भी अपने भावलोक में सदा राम के चरणों में वास करती है अतएव संयोग और वियोग का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तर्गत से ही है। भवभूति ने ठीक ही लिखा है कि पारस्परिक प्रेम का वास्तविक ज्ञाता मन ही होता है 'हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परं।'

अतएव न तो राम ने सीता को मन से निर्वासित किया है और न तो राम के प्रति सीता के हृदय में कोई विद्रोह भाव ही है। इस प्रकार यदि दोनों की तद्भावभावित स्थिति में पुनर्मिलन कार्य संघटित होता है तो इसमें न तो कोई अनौचित्य ही प्रतीत होता है और न तो काव्य न्याय की हत्या ही नजर आती है। सच पूछा जाय तो हृदय की तद्भावभावित स्थिति में दो प्रेमी हृदयों को वियुक्त दिखाना ही अनुचित और अन्यायपूर्ण होता।

किसी उजड़े हुए घर में आग फूंक देना, कभी पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। पुरुषार्थ का काम वह है जो मानवता की गिरती हुई दीवारों को अपनी प्रतिभा शक्ति का अवलम्ब प्रदान कर उसकी नींव को सुदृढ़ बना दे। भवभूति ने यहाँ राम

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

और सीता की उजड़ी हुई दुनियाँ को फिर से बसाकर अपने अपूर्व पौरुष का परिचय दिया है। भवभूति ने चिर निर्वासिता एवं उपेक्षिता सीता देवी का अपनी अद्भुत नाट्य कला के द्वारा उद्धार कर काव्य न्याय का उज्ज्वल दृष्टांत प्रस्तुत किया है। जिस कार्य को काव्यपुरुष वाल्मीकि तथा कविकुल गुरु कालिदास भी नहीं कर सके, वश्यवाक् भवभूति ने उसे अनायास ही संभव कर दिखाया। पाताल प्रवेशोन्मुखी सीता को राम से पुनः मिलाकर उन्होंने वाल्मीकि और कालिदास के आगे रामकथा में एक पवित्र अध्याय जोड़ दिया है। निसन्देह इस युगान्तरकारी नाट्य कौशल के लिए भवभूति सर्वथा प्रशंसा के योग्य हैं। 'उत्तरेरामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते' आदि वृद्धवाक्य भी इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

वस्तु संविधान में प्रकृति का महत्त्व

उ० च० के वस्तुसंविधान में प्रकृति का अपना एक विशिष्ट महत्व है। वह यहाँ सर्वत्र नाटकीय वस्तु एवं भाव की अनुसंगिनी और परिपोषणी होकर आयी है। उ० च० के वस्तु शिल्प तथा गम्भीरकरुण भाव धारा में प्रकृति के परमाणु इस प्रकार घुले मिले हैं कि इसे सहसा पृथक् नहीं किया जा सकता। अगर इसे यहां से हटा दिया जाय तो निश्चय ही भवभूति का भाव-जगत मरुकान्तार के समान सूना और नीरस हो जायगा। प्रकृति यहाँ सीता की ही तरह एक मूर्त्त जीवन्त मात्र है। वह राम और सीता के सुख-दुःख में, योगक्षेम में सदा हाथ बटाती है और उसके सीमित मनोभावों को एक सीमाहीन उद्देश्य प्रदान करती है। इस दृष्टि से उ० च० की प्रकृति का अध्ययन किये बिना इसकी कथावस्तु का अध्ययन कदापि पूर्ण नहीं माना जा सकता अतः भवभूति की प्रकृति चित्रण कला की नाटकीय समीक्षा यहाँ अभीप्सित है।

उ० च० की कथावस्तु जितनी करुण और व्यथापूर्ण है इसका भावजगत भी उतना ही गहन और गम्भीर है। यहाँ भवभूति का प्रधान लक्ष्य 'एको रसः करुण एव' का प्रतिपादन करना है। इसकी सफल अभिव्यंजना में नाटककार ने जिन उपादानों का अधिकाधिक विनियोग किया है—उसमें प्रकृति का गौरवपूर्ण स्थान है। विद्वानों का कथन है कि अगर कालिदास के शाकुन्तल से प्रकृति को हटा दिया जाय तो कालिदास की शकुन्तला-शकुन्तला नहीं रह जायगी, ठीक उसी प्रकार यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि अगर उ० च० से प्रकृति को पृथक् कर दिया जाय तो भवभूति की करुणा गूँगी हो जायगी। उ० च० की गम्भीर करुण भावसृष्टि के कण कण में प्रकृति के परमाणु परिव्याप्त हैं। पंचवटी और दण्डकारण्य की गम्भीर भावभूमि अपनी चिरंतन प्रकृति से राम और सीता के गम्भीर करुण भाव को और भी निष्करुण बना देती है।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उ० च० के वृत्त विकास में प्रकृति का महत्त्वपूर्ण योगदान है। राम और सीता के जीवन का अधिकांश भाग प्रकृति के ही प्रांगण में व्यतीत होता है। विपत्ति की दुसह घड़ी में सीता के योगक्षेम का गंभीर दायित्व संभालने वाली प्रकृति की ही दो विराट मूर्तियाँ हैं—गंगा और पृथ्वी। इन प्रकृति देवियों के आचरण और रूप मानवीय हैं। किन्तु इनके अनाविल शील एवं दिव्य व्यक्तित्व से समस्त नाटकीय वातावरण सुरभित और भास्वर है। इनके आशीर्वचन दिव्य और अमोघ है। गंगा के आशीष से ही सीता धरती पर अदृश्य होकर विचरण करती है[1]। सप्तम अंक के गर्भांक नाटक में इन दोनों देवियों ने अपने गम्भीर दायित्व का जैसा औचित्यपूर्ण तथा आदर्श दृष्टान्त उपस्थित किया है वह सचमुच किसी हाड़ मांस के पात्र से कथमपि संभव नहीं था। दो चिर विश्लेषित हृदयों को पुनः संश्लेषित करने में इन दोनों देवियों का महत्वपूर्ण योगदान विश्व साहित्य में सदा अमर रहेगा।

नाटक के तृतीय अंक में तमसा और मुरला ये दो प्रकृति कुमारियाँ दुःखिनी सीता की सखी के रूप में सदा साथ रहती हैं। शकुन्तला की दो सखियाँ अनुसूया और प्रियंवदा की तरह सीता की ये दो सखियाँ तमसा और मुरला हैं। बारह वर्षों के बाद पंचवटी के चिरपरिचित परिवेश में अपने प्राणवल्लभ श्रीराम के पीले कृशगात को देखकर सीता का चिर रिक्त हृदय सुख-दुःख के विषमभार से सहसा भर जाता है। उस समय सीता को एकाकिनी छोड़ना कदाचित् नाटकीय वस्तु संविधान की दृष्टि से अनुचित ही होता। क्योंकि तब एकाकिनी सीता की मानसिक ग्रन्थि और अधिक उलझ सकती थी और इस प्रकार दोनों के भावी मिलन का मार्ग भी अधिक विपत्ति संकुल हो सकता था। इस स्थिति में कुशल नाटककार ने अपनी रंगीन कल्पना के द्वारा इन दो प्रकृति सुकुमारियों की सृष्टि कर वस्तु संविधान में नाटकीय औचित्य का सम्यक निर्वाह किया है। राम और सीता के विषम दुःख भार को बाँटने, उनकी मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाने तथा दोनों के भावात्मक मिलन मार्ग को प्रशस्त बनाने के लिए ही ये देवियाँ नाटकीय मंच पर आती हैं। अगर इन प्रकृति कुमारियों का नाटकीय वस्तु संविधान में समावेश नहीं होता तो तपस्विनी सीता का जीवन एक भारतीय विधवा सा प्रतीत होता। राग एवं सहानुभूति, मैत्री और करुणा की दिव्य सुरभि से पाठकगण अनन्त काल तक वंचित ही रह जाते। भवभूति ने यहाँ इन रागात्मक तत्त्वों के सम्पोषण के लिए मूर्त्त एवं अमूर्त्त रूप से प्रकृति का ही अवलम्बन किया है।

उ० च० के भावपूर्ण दृश्य प्रकृति के ही स्निग्ध परिवेश में अवतरित हुए हैं। प्रथम अंक को छोड़कर शेष सभी अंकों की घटनाएँ प्रकृति के ही विशाल प्रांगण में

१. तमसा—अयि वत्से ! भागीरथीप्रसादाद्वनदेवतानामप्यदृश्यासिसंवृत्ता।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

संघटित होती हैं। द्वितीय और तृतीय अंक की कथावस्तु पंचवटी और जनस्थान के चिरपरिचित प्रदेश में अभिनीत हुई हैं और शेष अंकों के विभिन्न नाटकीय दृश्य गंगा के किनारे प्राचेतस वाल्मीकि के शान्त पावन आश्रम में प्रस्तुत किये गये हैं। प्रथम अंक की दृश्यभूमि यद्यपि अयोध्या का रामभवन है किन्तु वहाँ भी चित्र दर्शन की योजना में राम और सीता के अतीत वन जीवन के जिन पृष्ठों को खोला गया है उनका प्रकृति के साथ घना सम्बन्ध है।

प्रथम अंक के चित्र दृश्य को जीवन्त और भावपूर्ण बनाने के लिए भवभूति ने मूर्त्त या अमूर्त्त रूप से प्रकृति का ही सहारा लिया है। प्रकृति के ही पावन परस से राम और सीता का अतीत तथा वर्त्तमान दाम्पत्य जीवन इतना गम्भीर और गौरवपूर्ण हो पाया है। चित्रकूट के मार्ग में खड़ा वह बूढ़ा वरगद वृक्ष अपनी शान्त स्निग्ध छाया में राम और सीता की अतीत प्रणय कहानी के समस्त भावों को संजोये हुए हैं[1]। वह निर्जीव होकर भी सप्राण एवं मूक होकर भी वाचाल है। ऊपर से नितान्त नगण्य एवं अदना सा दीखने वाला यह इंगुदी वृक्ष निषादराज के साथ राम के स्निग्ध पावन मिलन की पूरी कहानी कह देता है[2]। प्रस्रवण गिरि के ऊपर निरंतर बरसते हुए नीलमनभ की नीलिमा, गोदावरी के उच्छल प्रवाह की नीलिमा तथा उसके तट पर उगी हुई सघन वन पंक्तियों की नीलिमा—राम और सीता के दाम्पत्य प्रणय भाव की व्यापक नीलिमा को और भी घनीभूत तथा प्राणवन्त बना देती है। किष्किन्धा की पम्पा पुष्करिणी की अगाध जलराशि पर तैरते हुए हंसों की श्वेत पांखों से कम्पित दीर्घ नाल वाले कमलों की पंक्ति हमारे दृष्टि पथ पर सहसा खिल उठती है किन्तु उन कम्पित कमल राजि के बीच इन मदविह्वल हंसों का अव्यक्त मधुर रोर राम की आँखों को सजल एवं पंकिल कर देता है[3]। इसी प्रकार माल्यवान पर्वत के उत्तुंग शिखर पर आश्लिष्ट मेघ का चित्र

---

१. लक्ष्मणः—एष भरद्वाजावेदितश्चित्रकूट्यायिनि वर्तमनि वनस्पतिः कालिन्दीतटे वटः श्यामो नाम।.....

अलसललितमुग्धान्यध्वसम्पातखेदा-
दशिशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यंगकानि,
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता॥ १।२४

२. रामः—देवि वैदेहि?

इंगुदीपादपः सोऽयं, शृंगवेरपुरे पुरा।
निषादपतिना यत्र स्निग्धेनासीत्समागमः॥ उ० च० १।२१

३. रामः—देवि! परं रमणीयमेतत्सरः।

एतस्मिन्मन्दकलमल्लिकाक्षपक्ष-
व्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उपस्थित कर भवभूति ने राम और सीता की आसन्न-वियोग-व्यथा की और भी सघन एवं अश्रुपूर्ण बना दिया है[1]। इस प्रकार भवभूति ने चित्र दृश्य के प्रसंग में प्रकृति के जिन उपादानों का यहाँ चित्रण एवं भावन किया है वे सभी सहज ही काव्य बन गये हैं।

इस गूँगी प्रकृति को किसी नाटक में इतना महत्त्व प्रदान किया जा सकता है, यह वाल्मीकि के बाद कालिदास और भवभूति की नाट्य कृतियों में ही देखने को मिलती हैं। प्रकृति को मनुष्य बनाकर, उनके मुँह से बातचीत कराकर 'रूपक नाट्य' की रचना की जा सकती है किन्तु प्रकृति को असली रूप में रखकर उसे इतना सजीव, प्रत्यक्ष और अन्तरंग बना लेना तथा उसके द्वारा नाटक का इतना बड़ा काम करा लेना कदाचित् शाकुन्तल के बाद भवभूति के उ० च० में ही देखने को मिलता है। यहाँ प्रकृति के साथ सीता का सहज मैत्री भाव व्यक्त हुआ है। सीता राजभवन में रहकर भी हृदय से उसी वनगंगा में अवगाहन के लिए उत्कंठित होती है जहाँ उसने अपनी जवानी के चौदह ग्रीष्मों को बितायी थी। पंचवटी के पावन प्रदेश में तमसा नदी और बसंत की वन शोभा (वासन्ती) ही उनकी प्रिय सखी है। मोर और हाथी के बच्चे ही उनके कृतक पुत्र हैं तथा वृक्षलता पशुपक्षी ही उनके वहाँ सखा परिजन है[2]।

संस्कृत साहित्य में प्रकृति के उद्दीपन पक्ष का जितना अधिक चित्रण हुआ है उतना आलम्बन पक्ष का नहीं। प्रकृति के आलम्बन पक्ष का अत्यन्त प्रकृत तथा बिम्बग्राही वर्णन सर्वप्रथम हमें आदिकवि वाल्मीकि की ऐतिहासिक रचना 'रामायण' में मिलता है। उनका हेमन्त और वर्षावर्णन इस दृष्टि से समग्र विश्व वाङ्मय की एक उज्ज्वल निधि है। वाल्मीकि के बाद कदाचित् महाकवि कालिदास बाणभट्ट और भवभूति ही ऐसे प्रतिभापूत महाकवि दिखाई देते हैं जिन्होंने प्रकृत के आलम्बन पक्ष का अत्यन्त ही संश्लिष्ट और चित्रात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है। कालिदास ने

वाष्पाम्भः परिपतनोद्गमान्तराले,
संदृष्टाः कुवलयितो मया विभागाः ॥ उ० च० १।३१

१. लक्ष्मणः—सोऽयं शैलः ककुभसुरभिर्माल्यवान्नाम यस्मि-
न्नीलः स्निग्धः श्रयति शिखरं नूतनस्तोयवाहः।
आर्येणास्मिन्'''विरम विरमातः परं न क्षमोऽस्मि,
प्रत्यावृत्तः स पुनरिव मे जानकीं विप्रयोगः ॥ वही, १।३३

२. यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे,
यानि प्रियासहचरश्चिरमध्यवात्सम्।
एतानि तानि बहुकन्दनिर्झराणि,
गोदावरीपरिसरस्य गिरेस्तटानि ॥ उ० च० ३।८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कुमारसंभव में देवतात्मा हिमालय का प्रकृत वर्णन आलंबन विभाव के रूप में ही किया है, उ० च० में भवभूति का ग्रीष्म वर्णन प्रकृति के आलम्बन पक्ष का उज्ज्वल निदर्शन है। वस्तु के वास्तविक रूप और भाव दोनों ही तत्त्वों को साकार और सजीव चित्रित करने में भवभूति की प्रतिभा निसन्देह बेजोड़ है। प्रकृति के सुकुमार तथा कठोर उभयरूपों का आलंबन विभाव के रूप में जैसा हृदयहारी वर्णन भवभूति के उ० च० में मिलता है वैसा कदाचित् बाण को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता। इस प्रसंग में भवभूति का एक पद्य द्रष्टव्य है :—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः,
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।
सीमानः प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसी यास्वयं,
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते[1] ॥

दण्डकारण्य के इस ग्रीष्म वर्णन में कितनी स्वच्छता और कैसी चित्रात्मकता है? यहाँ ग्रीष्म की समस्त भयंकरता को बिम्बायित करते समय भवभूति ने जिन दो चार रेखाचित्रों का विनियोग किया है, वे कितने सशक्त और जीवन्त हैं? गर्मी से आकुल व्याकुल जंगली जन्तुओं का गर्जन करना, अजगर के जहर झाग की ज्वाला से सूखे तृणों में आग का सहसा धधक उठना तथा तृषार्त गिरगिटों का वेसुध होकर अजगर के पसीने को चाटना कितना स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक व्यापार है? कवि ने यहाँ वस्तु के गुण एवं परिणाम को चित्रित कर वस्तु के रूप को बिम्बायित कर दिया है। कल्पना की ऊर्मिल रेखाओं के द्वारा बना यह चित्र जितना प्रकृत है उतना ही प्रभावोत्पादक भी। महाकवि बाण की कृतियों में इस प्रकार का संश्लिष्ट एवं बिम्बग्राही वर्णन पर्याप्त रूप में उपलब्ध होता है। निसन्देह इस प्रकार का प्रकृत वर्णन बाण और भवभूति को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ ही है।

यद्यपि भवभूति के उ० च० में प्रकृति के रमणीय पक्ष की अपेक्षा उसके भीषण भयावह पक्ष का ही चित्रण बहुतायत से हुआ है किन्तु जहाँ भी उन्होंने सौभाग्य से प्रकृति के रमणीय पक्ष का दो एक चित्र प्रस्तुत किया है निसन्देह उस पर कालिदास की काव्य प्रतिभा को न्योछावर किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रकृति के शान्त रमणीय पक्ष का यह चित्र दर्शनीय है। इसमें किसी बहते पहाड़ी झरने का बिम्बग्राही चित्र खींचा गया है :—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्,
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।

१. उ० च० २।१६

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुंज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः[1]।

कैसा स्वाभाविक और बिम्बग्राही वर्णन है यह? प्रणयोल्लास से मदविह्वल पक्षियों का नर्त्तन और कलकूजन यहाँ निर्झरिणी के तटप्रदेश को अपने अव्यक्त मधुर स्वर से आप्यायित कर रहा है। तटवर्ती लताओं के फूल झरनों के स्वच्छ शीतल प्रवाह में झरकर उसे अपने प्रकृत गंध से वासित कर रहे हैं और साथ ही उसमें काले पके जामुनों के गिरने से टप टप ध्वनि का मधुर संगीत भी कर्ण गोचर हो रहा है। भवभूति के प्रकृति-चित्रण में भाव तरंगों का निखिल ऐश्वर्य विद्यमान है। यहाँ हमारी पांचों इन्द्रियाँ एक ही बार संतृप्त हो जाती हैं। निसर्ग सुन्दर भावों का यह पंचामृत भवभूति की काव्य प्रतिभा का दिव्य अवदान है।

भवभूति के प्रायः सभी समीक्षकों ने इन प्रकृति चित्रों की भूरि-भूरि सराहना की है। किन्तु उ० च० का यह प्रकृति वर्णन नाटकीय वस्तु संविधान एवं रस परिपाक की दृष्टि से कहाँ तक समीचीन है? यह यहाँ विचारणीय है। सामान्यतः नाटक में वही तत्त्व महत्त्वपूर्ण माना जाता है जो नाटकीय कार्य व्यापार में कोई गति उत्पन्न कर सके अथवा कथावस्तु के विकास में या प्रमुख रस के परिपाक में साधक सिद्ध होता हो। किन्तु इस दृष्टि से उ० च० में दण्डकारण्य की प्रकृति का लम्बा चित्र विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। क्योंकि इससे न तो कथावस्तु के स्वाभाविक विकास में ही कोई योगदान होता है और न तो करुण रस जो नाटक का अंगीरस है उसके परिपाक में ही कोई सहायता मिलती है। प्रकृति के ये चित्र कुछ मुक्तक जैसे प्रतीत होते हैं। शुद्ध कविता की दृष्टि से ये चित्र भले ही अत्यन्त महार्घ एवं महनीय हों किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से ये चित्र अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं ही माने जायेंगे। भवभूति की नाट्य प्रतिभा की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि वे किसी वस्तु के वर्णन प्रसंग में रुकना जानते ही नहीं, चित्र पर चित्र खींचते चले जाते हैं जो निसन्देह नाट्यकला की दृष्टि से असंगत किंवा हेय हैं।

दण्डकारण्य की भीषण प्रकृति वर्णन की जगह अगर ये किसी शान्तपावन ऋषि आश्रम का ही चित्र खींचते तो शायद पाठकों को विशेष तृप्ति मिलती। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि उ० च० की कथावस्तु में इसका अवकास ही नहीं था, बल्कि भवभूति अगर चाहते तो नाटक के द्वितीय और सप्तम अंक में महर्षि अगस्त्य और प्राचेतस वाल्मीकि के तपःपूत आश्रम का दर्शन कराकर हमें

१. उ० च० २।२०

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पवित्र कर सकते थे, किन्तु आश्चर्य होता है कि संस्कृति और संस्कार के इतने धनी होकर भी भवभूति ने उ० च० में तपोवन का एक भी चित्र प्रस्तुत नहीं किया। हमारा तपोवन आर्य संस्कृति का पवित्र और मंगलमय केन्द्र है। हमारे समस्त ज्ञान-विज्ञान तथा सनातन धर्म की जन्मभूमि यही ऋषियों के शान्त पावन आश्रम हैं। आश्रम का यज्ञधूम जिसे प्राणगोचर नहीं हुआ, वह कवि भारतीय कहलाने का अधिकारी नहीं। हमारी संस्कृति के प्रतिनिधि कवि को आश्रम का अन्तेवासी होना ही चाहिये। महाकवि कालिदास की तपःभूत प्रतिभा आश्रम का सान्निध्य पाते ही आन्तरिक उल्लास से सिहर उठती है। रघुवंश के प्रथम, पंचम और त्रयोदश सर्ग में तथा शाकुन्तल के प्रथम और सप्तम अंक में तपोवन का नैसर्गिक दृश्य नितान्त रमणीय एवं चिर वन्दनीय है। किन्तु भवभूति ने हमें आश्रम के यज्ञधूम से सदा वंचित ही छोड़ दिया। जिस वाल्मीकि के तपःप्रभाव से राम और सीता का पुनर्मिलन जैसा असंभव कार्य भी सहज संभव हो गया उस ऋषि के शान्त पावन आश्रम का दर्शन पाने के लिए हम चिर ललायित ही रह गये।

अन्विति त्रय

शास्त्रीय सिद्धान्त की दृष्टि से नाटक में जिन तीन अन्वितियों की चर्चा की जाती है वे हैं देश, काल और कार्य की अन्वितियाँ। नाटकीय कार्यव्यापार की पूर्णान्विति एवं समन्वित प्रभाव सृष्टि के लिए नाटकों में इन तीनों अन्वितियों का समुचित निर्वाह करना नाटककार का अपेक्षित दायित्व माना जाता है। नाटक में स्थानान्विति का तात्पर्य नाटकीय कथावस्तु की भौगोलिक सीमा से है। नाटक एक रंगमंचीय कला है। अतः यहाँ किसी ऐसे स्थान विशेष का समावेश इष्ट नहीं माना जा सकता है, जिसकी मंचीय व्यवस्था संभव नहीं है, अथवा जहाँ नाट्य निर्दिष्ट समय में नाटक के पात्र यातायात करने में असमर्थ हों। इसी प्रकार कालान्विति का अभिप्राय यह है कि नाटकीय कथावस्तु एवं घटनाओं का सम्बन्ध समय की सीमित सीमा में होना चाहिये। काल के सुविस्तृत आयाम में फैलाकर नाटकीय घटनाओं का प्रदर्शन कार्य-व्यापार की समन्वित प्रभाव सृष्टि के लिए अनुपयुक्त और अपूर्ण माना जाता है। इसलिए सामान्यतः नाटकीय घटनाओं को एक दिवसपर्यन्त सीमित करने का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। जहाँ तक कार्यान्विति का सम्बन्ध है उसका आशय यह है कि नाटक में ऐसे किसी भी घटना का समावेश नहीं होना चाहिये जिसका नाटक के प्रमुख कार्यव्यापार से कोई सम्बन्ध नहीं है। नाटकीय कथावस्तु में ऐसे दृश्य एवं प्रसंग जो वस्तु विकास तथा प्रधान रस परिपाक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, वे हेय ही माने

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जाते हैं, अथवा उन्हें अर्थोपक्षेपकों के द्वारा सूचित कर दिया जाता है[1]। अतएव कार्यान्विति के अनुसार नाटकीय कथावस्तु को आदि, मध्य और अन्त समन्वित एक अखण्ड सृष्टि के रूप में प्रस्तुत करना नाटककार का कलात्मक दायित्व माना जाता है।

साधारणतः लोगों का यह विश्वास है कि 'अन्वितित्रय' का यह नाटकीय सिद्धान्त यूनानी समीक्षाशास्त्र की देन है। भारतीय नाट्यशास्त्र में इस प्रकार का कोई सिद्धान्त नहीं पाया जाता। प्रो० ए० बी० कीथ का यह आक्षेप है कि 'भारतीय नाट्य शास्त्रियों का ध्यान इस अन्वितित्रय की ओर नहीं गया है। रस निष्पत्ति ही उनका प्रमुख लक्ष्य था[2]। यद्यपि यह सही है कि भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से लेकर परवर्ती लक्षण ग्रन्थों तक सामान्य रूप से नाटकीय इतिवृत्त को काव्य शरीर के रूप में और रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु फिर भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृत नाट्यशास्त्रियों ने समय, स्थान और कार्य के ऐक्य पर सम्यक् दृष्टि नहीं डाली है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से इस 'अन्वितित्रय' पर गम्भीर विवेचन किया है। नाट्यशास्त्र के बीसवें अध्याय में कालनियम पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि नाटक के एक अंश में जितने कार्यव्यापार का प्रदर्शन करना हो, उसके लिए एक दिन का समय अपेक्षित है[3]। एक दिन का काम यदि एक अंक में नहीं समावेश हो सके तो अंकच्छेदकर शेष कार्य को प्रवेशकों द्वारा सूचित कर देना चाहिये[4]। यहाँ प्रवेशकों द्वारा पांचों अर्थोपक्षेपकों का ग्रहण किया गया है। नाट्यशास्त्र में इस सूच्य अंश के लिए भी एक वर्ष की काल सीमा निर्धारित की गई है[5]।

इसी प्रकार अंक में 'देश नियम' की व्यवस्था करते समय भरत मुनि ने स्थानगत ऐक्य पर भी विचार किया है :—

---

१. दश०—अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पंचभिः प्रतिपादयेत्।
विष्कम्भचूलिकांकास्यांकावतारप्रवेशकैः ॥ धनंजय—१।५८

२. संस्कृत ड्रामा—डा० ए० बी० कीथ, पृष्ठ

३. एकदिवसप्रवृत्तः कार्यस्त्वंकोऽथबीजमधिकृत्य।
आवश्यककार्याणामविरोधेन प्रयोगेषु ॥ ना० शा० २०।०४

४. दिवसावसानकार्यं यद्यङ्केनोपपद्यते सर्वम्।
अंकच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैः तद्विधातव्यम् ॥ ना० शा०-२०।२८

५. अंकच्छेदं कुर्यात् मासकृतं वर्षसंचितं वापि।
तत्सर्वं कर्त्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥ वही, २०।२९

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यः कश्चित्कार्यवशात् गच्छति पुरुषः प्रकृष्टमध्वानम्–
तत्राप्यंकच्छेदैः कर्त्तव्यः पूर्ववत्तज्ज्ञैः[1]।

अर्थात् यदि कोई पुरुष कार्यवश दूर चला गया हो तो वहाँ भी पूर्ववत् अंकच्छेद करना चाहिए। एक अंक में जिन दृश्यों का समावेश किया जाता है उनमें देश-काल का इतना अंतर न होना चाहिए कि नायक निर्दिष्ट समय और स्थान पर पहुँच ही नहीं सके। किन्तु यदि नायक के पास विमान आदि हो तो देश-काल के इस अन्तर को विना अंक च्छेद किये भी मिटाया जा सकता है। 'आकाश यानादिना सर्वं युज्यते'[2]। इस वाक्य के द्वारा अभिनव गुप्त ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है।

जहाँ तक कार्य की एकता का प्रश्न है, नाटकीय कथावस्तु में पंचमत्रय (पंच अवस्थाएँ-पंच अर्थप्रकृतियाँ तथा पंच संधियों) का विशद विवेचन इस तथ्य को भलीभाँति प्रमाणित करता है कि नाटकीय कार्य व्यापार की ओर भी संस्कृत नाट्याचार्यों ने पूरा ध्यान दिया है।

इस प्रकार नाट्य शास्त्र में देशकालगत ऐक्य विवेचन का साक्ष्य रहते हुए प्रो० कीथ का यह कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृत नाट्य शास्त्री अन्वितित्रय के सिद्धान्त से नितान्त अनभिज्ञ ही थे। डा० के० सी० पाण्डेय ने अपने 'कम्परेटिव एस्थेटिक्स' में प्रो० कीथ के उपर्युक्त मत की गहरी आलोचना की है[3]।

नाटकीय प्रयोग एवं परम्परा की दृष्टि से नाटक में कार्यान्विति का सिद्धान्त ही अत्यधिक समादृत एवं महत्त्वपूर्ण माना जाता है। देश काल की अन्त्रितियों कार्यान्विति के ही अंगमात्र हैं। संस्कृत नाटकों में देशकाल की अन्वितियों पर अत्यधिक ध्यान नहीं दिया गया है। प्रतिभा के त्रिकासक्रम में जहाँ नियम बाधक सिद्ध होते हैं वहाँ वे त्याज्य ही हैं। नियमों की सार्थकता प्रगति की बाधकता में नहीं, वल्कि उसकी साधकता में निहित है, कदाचित् इसीलिए कालिदास भवभूति आदि महान् नाटककारों ने अपनी नाट्यकृतियों में देशकाल की अन्विति का अक्षरशः पालन नहीं किया है। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में धरती से लेकर स्वर्ग तक का दृश्य दिखाया गया है। समय की दृष्टि से भवभूति के उ० च० की कथावस्तु बारह वर्षों के व्यापक कालखण्ड से सम्बद्ध है, किन्तु भवभूति ने यहाँ काल की इस व्यापक खाई को पाटने के लिए विष्कम्भक का अलौकिक विनियोग किया है और इसमें कुछ नाटकीय संकेत चिह्नों द्वारा काल के इस व्यापक व्यवधान को

१. ना० शा०—२०।३०
२. अभिनव भारतीय—अभिनव गुप्त, पृष्ठ ४२३
३. कम्परेटिव एस्थेटिक्स डॉ० के० सी० पाण्डेय–भाग १–पृष्ठ ३४९

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

दूर किया है। जहाँ तक स्थानगत ऐक्य का प्रश्न है, उ० च० का कथानक अयोध्या के राजप्रासाद, जनस्थान, दण्डकारण्य तथा वाल्मीकि के तपोवन प्रदेश तक फैला हुआ है, किन्तु कथावस्तु के स्वाभाविक विकासक्रम में इन विविध स्थानों का समावेश इस रूप में हुआ है कि कहीं भी अस्वाभाविकता नज़र नहीं आती। सच पूछा जाय तो देश-काल की विविधता एवं विषमता में ही उ० च० के कथानक व्यापार की कार्यान्विति पूर्ण होती है। अगर देश काल की शास्त्रीय सीमा में बंधकर भवभूति अयोध्या के राजभवन में ही दूसरे क्षण राम और सीता का पुनर्मिलन दृश्य संघटित कर दिए होते तो वह कला की दृष्टि से तो असंगत होता ही, इतिहास की दृष्टि से भी अनुचित होता।

जहाँ तक उ० च० की कथावस्तु में कार्यान्विति का सम्बन्ध है—वहाँ इनके कुछेक दृश्यों को छोड़कर प्रायः सभी दृश्य नाटकीय कार्य व्यापार की प्रभावान्विति में सम्यक् योगदान देते हैं। उ० च० के पंचम और षष्ठ अंक का कवित्वमय लम्बा युद्ध दृश्य कुछ अप्रासंगिक सा प्रतीत होता है, यद्यपि प्रत्यभिज्ञान दृश्य के लिए युद्ध की भूमिका प्रासंगिक ही है किन्तु उसका इतना लम्बा और कवित्वमय प्रदर्शन कदापि वांछित नहीं है। यहाँ कवित्व के भार से नाटकीयता दब सी गई है और युद्ध के कोलाहल पूर्ण वातावरण में प्रत्यभिज्ञान दृश्य का नाटकीय महत्त्व खो सा जाता है। शेष सभी अंकों की घटनाएँ परोक्ष या अपरोक्ष रूप से मूल नाटकीय उद्देश्य की सिद्धि में तत्पर दिखाई देती हैं। वस्तुतः भवभूति के उ० च० में कथावस्तु का कोई विशेष मूल्य नहीं है। यहाँ जो सर्वाधिक मूल्यवान् तत्व है वह है भवभूति का अक्षय भावकोष। यहाँ भावों की विवृत्ति में ही नाटकीय कथावस्तु की स्वाभाविक निर्मिति हुई है। उ० च० के तृतीय अंक की कथावस्तु का स्वाभाविक विकास भाव प्रकर्ष के कारण ही कुछ अवरुद्ध सा दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यहाँ अन्तर्द्वन्द्व ही प्रधान है। भावों के संघर्षण में एक ऐसी विद्युत शक्ति है कि उसके प्रभाव से हमारे मन का कालुष्य मिट जाता है। सीता जैसी कुंठित पाषाण प्रतिभा को मातृ महिमा से मण्डित देखकर हम धन्य हो जाते हैं। कथावस्तु के पार्थिव विकास में यहाँ भले ही कोई गति दिखाई नहीं दे किन्तु राम और सीता अपने भावी मिलन की दिशा में एक लम्बी मंजिल तय कर लेते हैं। निसन्देह उ० च० की कथावस्तु भवभूति की समुन्नत नाट्य-प्रतिभा की दिव्य देन है।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय ४

चरित्र-चित्रण

नाटक में नेता का स्थान और महत्त्व

कथावस्तु के बाद संस्कृत रूपकों का दूसरा महत्त्वपूर्ण भेदक तत्त्व नेता ही हैं। नेता शब्द 'नी' धातु से कर्ता में तृच् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है[1]। अतः इसका अर्थ है आगे ले चलने वाला, आगे बढ़ाने वाला। यह नेता नाटकीय कथावस्तु को निर्दिष्ट फलागम तक ले जाता है, वहाँ तक जहाँ तक कि मानवीय दुर्बलताओं, विशिष्टताओं तथा देश-काल की सीमाओं में संभव है। किसी भी नाटक में नेता का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य होता है। यों रंगमंच की सफलता के लिए एक रोचक एवं सशक्त कथावस्तु की आवश्यकता होती ही है, फिर भी यदि उस कथानक में ऐसे पात्र नहीं हैं जो नाटकीय इतिवृत्त से पृथक् भी दर्शकों एवं पाठकों की स्मृति में अक्षुण्ण रह सके, तो निश्चय ही उसकी लोकप्रियता क्षणिक और सस्ती होगी। कथा की लोकप्रियता देश-काल की सीमा में बदली रहती है; किन्तु मानव-मन चिरन्तन और सार्वभौम होता है, वह जिस पात्र को एकबार जीवन्त समझ लेता है वह अमर हो जाता है। आज शाकुन्तल का अंगूठी वृत्तान्त हमारे लिए भले ही काल्पनिक किंवा अविश्वसनीय सिद्ध हो, किन्तु उसका मछुआ तथा पुलिस कर्मचारी सदा अमर रहेगा। शेक्सपीयर के 'मर्चन्ट ऑफ वेनिस' की केन्द्रिय कथाएँ आज अविश्वसनीय हो चुकी हैं, किन्तु उसका 'शायलाक' सदा अविस्मरणीय रहेगा। अतएव यह मानना ही होगा कि ऐसे जीवन्त पात्रों की रचना से ही कोई भी नाटक अथवा नाटककार धन्य एवं बन्द्य होता है। यदि कोई नाटककार ऐसे अमर पात्रों की रचना में निपुण नहीं है—जिन्हें आगे की पीढ़ी भी पहचाने और पसन्द करे तो समझ लीजिए उसकी कला-कीर्ति कभी टिकाऊ नहीं हो सकती। प्रतिभा एवं पाण्डित्य की दृष्टि से पं० श्रीकृष्ण मिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' एक अपूर्व नाटक है किन्तु सजीव और सुपरिचित पात्रों के अभाव में उसकी लोकप्रियता दो कौड़ी की ही प्रतीत होती है। आलोचकों का एक बहुत बड़ा वर्ग आज उसे सफल नाटक कहने के लिए भी तैयार नहीं है[2]।

वस्तु और नेता का सम्बन्ध

अतएव सफल नाटककार वही है जो अपने नाटकों में जीवन्त एवं चिरन्तन पात्रों की रचना कर सके तथा उन्हें समस्त मानवीय दुर्बलताओं एवं विशिष्टताओं के

---

१. अष्टा०—ण्वुल् तृचौ—पाणिनि—३।१।१३३

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास—वाचस्पति गैरोला।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

साथ अंकित कर एक सहज स्वाभाविक व्यक्तित्व प्रदान कर सके। जो पात्र जीवन के जितना निकट होगा वह उतना ही प्राणवन्त और सुपरिचित बन सकेगा, तथा वह उतनी ही तीव्रता एवं गम्भीरता के साथ प्रभावित भी कर सकेगा। अतएव कुशल नाटककार अपनी कथावस्तु की मूल भूत समस्याओं की पृष्ठभूमि में पात्रों को प्रस्तुत कर उनके अन्तरतम की गहराईयों में पैठने का सफल प्रयास करता है तथा उसके शील निरूपण एवं मनोविश्लेषण द्वारा मानव चेतना के निगूढ रहस्यों को उद्घाटित करता है। चरित्र-चित्रण की इसी गम्भीरता तथा मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता के कारण नाटक का स्थान काव्य की समस्त विधाओं में अत्यन्त महान् और महनीय है।

नाटकीय कथावस्तु और पात्रों के चरित्र-विकास में अत्यन्त घना संबंध है। किसी भी चरित्र प्रधान नाटकों में पात्र ही कथानक का निर्माण करते हैं। घटनाओं एवं परिस्थितियों का संघात से ज्यों-ज्यों पात्रों का व्यक्तित्व कमल खिलता जाता है त्यों-त्यों कथा का स्वभाव भी निर्मित होता जाता है। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे के साथ इस प्रकार घुला मिला रहता है कि उनमें किसी एक को दूसरे से सहसा पृथक् नहीं किया जा सकता। अतएव कोई भी नाटककार अपनी नाटकीय कथावस्तु में पात्रों के व्यक्तित्व एवं शीलविकास की सफल अभिव्यंजना के अतिरिक्त और किसी तत्त्व की चिन्ता नहीं करता। फिर भी नाटककार अपने पात्रों के किन विशेष गुणों को उद्घाटित करेगा, यह उस नाटक की घटनाओं एवं परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यह बात वहाँ और विस्पष्ट हो जाती है जहाँ नाटककार एक ही पात्र को दो भिन्न नाटकों में चित्रित करता है। निसन्देह वहाँ दोनों नाटकों के पात्र एक समान नहीं होते। समस्त राम नाटकों में भवभूति के राम की चारित्रिक महार्घता एवं महनीयता इसका उज्ज्वल प्रमाण है।

नाटककार के जीवन दर्शन अभिव्यक्ति का मूलाधार

सामान्यतः कथानक, पात्र, रस, संवाद और अभिनय सभी मिलकर नाटक शरीर का निर्माण करते हैं। यों विशिष्टता की दृष्टि से किसी परिस्थिति विशेष में कभी यह और कभी वह अंश अधिक महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान् हो सकता है, किन्तु अन्ततः सभी गौण मुख्य तत्त्व आपस में मिलकर नाटककार के जीवन दर्शन का ही निर्माण करते हैं। कुशलनाटककार इस जीवन दर्शन को कभी आत्मिक और कभी अनात्मिक रीति से अपने पात्रों के शील एवं व्यक्तित्व विकास द्वारा अभिव्यक्त करता है। इस दृष्टि से नाटक में चरित्र-चित्रण का एक स्थायी महत्त्व है। एक ही रामचरित को लेकर संस्कृत नाट्य साहित्य में करीब दर्जनों नाटक लिखे गये किन्तु कथावस्तु की एकरूपता होने पर भी प्रयोग एवं उपलब्धि की दृष्टि से तत्त्वतः सभी

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पृथक् ही प्रतीत होते हैं। अतएव यदि नाटक में कथातत्व ही सर्वाधिक मूल्यवान् तत्त्व होता, तो फिर भवभूति तथा उनके पूर्ववर्ती या परवर्ती नाटककार एक भी रामकथा पर नाटक लिखकर क्यों सफल और असफल सिद्ध होते ? निश्चय ही चरित्र चित्रण की विशिष्टता इनकी नाटकीय सफलता और असफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण है जिसके द्वारा सफल नाटककार अपने जीवन की समस्त उपलब्धियों को रूपायित और प्राणवन्त करता है।

गौण पात्रों का उद्देश्य

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह प्रतीत होगा कि नाटक में जीवन का जो रूप नायक के चरित्र-चित्रण द्वारा व्यक्त एवं निरूपित होता है वही उस नाटक का सार सर्वस्व है, वही उस नाटककार का जीवन दर्शन है। शेष सभी गौण पात्र तथा विभिन्न नाटकीय घटनाएँ नाटककार के इसी जीवन-दर्शन की सम्पुष्टि में योगदान देते हैं। नाटकों में गौण पात्रों की कल्पना का मूल स्वारस्य भी यही है कि उनकी पृष्ठभूमि में नायक का जीवन-चरित, जो नाटककार की समस्त मान्यताओं एवं उपलब्धियों का उज्ज्वल प्रतीक होता है—अत्यन्त स्पष्ट और समृद्ध हो सके।

चरित्र-चित्रण में औचित्य का महत्त्व

नाटकों में पात्रों के अस्तित्व एवं आचरण में आद्यन्त औचित्य का निर्वाह ही चरित्र-चित्रण-कला की सफलता का निगूढ़ रहस्य है। नाटकीय कथावस्तु चाहे जैसी भी हो, वह असंभव एवं वास्तविकता से दूर होने पर भी क्षम्य है, किन्तु नाटक में जो चीज क्षम्य नहीं है, वह है पात्रों का अस्वाभाविकता व्यवहार। भवभूति के उ० च० की कथा का बहुलांश अविश्वसनीय ही है, जैसे सीता का गंगा में कूदना, छाया सीता की कल्पना, तथा पुनर्मिलन के समय सीता का पाताल से निर्गमन आदि अंश बिल्कुल काल्पनिक ही है, किन्तु उनके पात्रों का व्यवहार अत्यन्त स्वाभाविक एवं मानवीय है। अतः हमें कोई कलात्मक आघात यहाँ नहीं होता। ये पात्र अपने अस्तित्व के सभी सामान्य नियमों का भलीभाँति अनुसरण करते दिखाई देते हैं।

आनन्दवर्धन ने औचित्य को सामान्यतः काव्यकला की सफलताओं को मूल कारण स्वीकार किया है[1]। विशेषकर नाटकों में औचित्य निर्वाह के कारण नाटकीय पात्र अत्यन्त सुपरिचित और प्राणवन्त हो जाते हैं। संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास, भवभूति आदि महान नाटककारों के सभी पात्र अपने व्यवहार में औचित्य निर्वाह के कारण ही अत्यन्त सजीव और प्राणवन्त प्रतीत होते हैं। इन्होंने अपनी नाट्य कृतियों में मानव-चरित्र के अतिरिक्त देवी-देवताओं तथा कुछ

१. ध्वन्या०—३। आनन्दवर्धन।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अतिप्राकृत पात्रों का भी चित्रण प्रस्तुत किया है। कालिदास का महर्षि कण्व अपनी पालिता पुत्री की बिदाई बेला में एक सामान्य गृहस्थ के समान आँसू बहाते हैं, वन देवियाँ प्रकृत माँ के समान शकुन्तला को साज शृंगार प्रदान करती हैं। भवभूति की गंगा और पृथ्वी प्रकृत माँ के समान दुःखिनी सीता के योग क्षेम में हाथ बटाती हैं, तमसा और मुरला ये दो नदियाँ प्रकृत सखी की तरह सीता को सान्त्वना प्रदान करती हैं। भले ही ये पात्र मानव प्रकृति से भिन्न हैं फिर भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होते, क्योंकि ये प्राकृत नियमों के अन्तर्गत हैं और अपने अस्तित्व एवं आचरण में सभी प्राकृत नियमों का भलीभाँति अनुसरण करते हैं। अंग्रेजी साहित्य के महान नाटककार शेक्सपीयर ने अपने नाटकों में भूत-प्रेतों तक का धड़ल्ले के साथ चित्रण किया है, किन्तु कहीं भी हमें उनका अनौचित्य नहीं खटकता, क्योंकि ये सभी अपने अस्तित्व एवं व्यक्तित्व के विनिमय में प्राकृत नियमों के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार नाटकीय पात्रों के चरित्र चित्रण की स्वाभाविकता तथा सजीवता का समस्त दायित्व उनके अस्तित्व एवं आचरण के औचित्य निर्वाह में निहित है।

चरित्र चित्रण की सफलता के लिए नाटककार को जीवन तथा साहित्य में पूर्णतः शिक्षित एवं दीक्षित होना अनिवार्य है। उन्हें शास्त्रीय नियमों की जानकारी के अतिरिक्त लोक स्वभाव की गहन अनुभूतियों तथा घटनाओं की विषमताओं से उभरने वाली नित्य नवीन मानवीय चेष्टाओं के औचित्य का सूक्ष्म परिज्ञान भी अपेक्षित और अनिवार्य है। यद्यपि चरित्रांकन ही भारतीय नाट्य कला का सार सर्वस्व नहीं है, इसका सार सर्वस्व तो कलालोक का वह आनन्द है जो समस्त नाटकीय नियमों एवं कला प्रपंचों का चरम विश्रान्तिधाम है तथा जिसे पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहा जाता है, फिर भी नाटक में इस आनन्दोपलब्धि का अन्यतम साधन चरित्र-चित्रण ही है। नाटकीय कथावस्तु में चरित्र-चित्रण के समुचित उत्कर्ष से ही उस दिव्य रस का अमृत निष्पन्द होता है जिसके पावन परस से हमारा तन मन प्राण आप्यायित होता रहता है। अतएव नाटकीय रसों के आस्वादन का मूलाधार चरित्र-चित्रण ही है। यही कारण है कि भारतीय नाट्य शास्त्रों में नेता के चुनाव तथा उसके सामान्य शील विश्लेषण पर अत्यधिक बल दिया गया है।

नेता शब्द का व्यापक अर्थ, नेता के सामान्य शील और गुण की समीक्षा

सामान्यतः नेता शब्द के साथ उसका सारा परिकर ही आ जाता है। उसके सहयोगी एवं प्रतियोगी सभी पात्र नेता के ही अंग माने जाते हैं। जहाँ तक नेता

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के सामान्य शील एवं गुणों का सम्बन्ध है इसमें सभी आचार्य प्रायः एकमत ही हैं कि नाटक में नायक को सर्वगुण सम्पन्न होना ही चाहिए। उसका व्यक्तित्व विशाल हो, चरित्र आदर्श और उज्ज्वल हो तथा शील एवं व्यक्तित्व अत्यन्त उदार एवं अनुकरणीय हो[1]। यही कारण है कि संस्कृत नाटकों के नायक सामान्यतः राजा अथवा देवता ही देखे जाते हैं। वह जन्म से ही उच्चकुल संभूत होता है, उसकी विभूतियाँ अनन्त और उपलब्धियाँ अनन्य साधारण होती हैं। उनके सभी कार्य आदर्श और दिव्य होते हैं। विश्वसाहित्य के प्रायः सभी महान नाटकों के नायक आदर्श और महतो महीयान् ही देखे जाते हैं। वह केवल नाटकीय इतिवृत्त का ही नेता नहीं होता, बल्कि सच्चे अर्थ में वह देश-काल का भी नायक होता है। इसीलिए भारतीय नाट्य शास्त्रों में नाटकीय कथावस्तु को अत्यन्त प्रसिद्ध तथा नायक को दिव्य और आदर्श होना स्वीकार किया गया है।

भारतीय आदर्श परम्परा का व्यावहारिक मूल्याङ्कन

यद्यपि भारतीय नाट्य कला में चरित्र चित्रण का यह आदर्श सामान्य जीवन की यथार्थता से कुछ दूर और पृथक् प्रतीत होता है, किन्तु भारतीय जीवन दृष्टि और कला—सृष्टि का यही वास्तविक सौंदर्य है। यहाँ यथार्थता के बीच में ही आदर्श का कमल खिलता है। यहाँ जीवन से पृथक् कला का कोई महत्त्व नहीं है। जिस कला से जीवन का कोई परिष्कार नहीं होता, वह यहाँ सदा हेय ही समझा गया है। यही कारण है कि 'कला-कला के लिए' का सिद्धान्त यहाँ कभी पनप ही नहीं सकता। भारतीय नाट्य कला में नायक को सर्वगुण सम्पन्न बनाने का जो नियम है—उसका आशय भी जीवन से ही है। किसी भी नाटक में नायक के महतो महीयान् होने से नाटकीय इतिवृत्त में एक अलौकिक गरिमा का संचार हो जाता है, उसकी विश्वसनीयता अत्यधिक प्रामाणिक और आकर्षक हो जाती है तथा उसका प्रभाव भी अत्यन्त गम्भीर सद्यः और स्थायी हो जाता है। उसके अनुशीलन से युगों तक जाति जीवन अनुप्राणित और स्पन्दित होता रहता है। भारतीय नाटकों में पवित्र आख्यान तथा उदात्त चरित को चित्रित करने का कलात्मक उद्देश्य भी इसी तथ्य में सन्निहित है कि उसका अनुशीलन कर सामान्य जन-जीवन उत्कृष्ट और भव्य बन सके। अतः यही कारण है कि यहाँ के नाटकों में आज के समस्या नाटकों की तरह किसी दफ्तर के किरानी बाबू को या किसी रिक्सापूलर को अथवा कारखाने के किसी मजदूर को नायक के पवित्र पद पर कभी प्रतिष्ठित नहीं किया गया। ययार्थ और आदर्श का यह कलात्मक उत्कर्ष भारतीय नाटकों में चरित्र-चित्रण कला की अन्यतम विशेषता है।

---

१. दश०—द्वितीय प्रकाश, प्रथम, द्वितीय कारिका।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भवभूति की आदर्श चरित्र-चित्रण शैली

जहाँ तक भवभूति की चरित्र चित्रण शैली की विशेषताओं का प्रश्न है, वह परम्परा प्रथित होते हुए भी कुछ विशिष्ट और महनीय है। शैली का सम्बन्ध कवि के व्यक्तिगत शील से होता है, अतः उसके कोमल और गम्भीर प्रकृति का प्रभाव उसके पात्रों पर भी अनिवार्य रूप से पड़ता है। सच पूछा जाय तो कवि या नाटककार अपनी प्रकृति के अनुसार अपने पात्रों के रूप में स्वयं अवतरित होते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि भवभूति अत्यन्त गम्भीर और आदर्श प्रकृति के व्यक्ति थे, अतः उनकी आदर्श गम्भीर प्रकृति की पवित्र छाप उनके पात्रों पर भी अनिवार्य रूप से पड़ी है। उनके आदर्श व्यक्तित्व का आधार निगमागम का तलस्पर्शी ज्ञान था और उनकी गम्भीरता का मूल स्रोत था जीवन और साहित्य का सतत संघर्षमय प्रवाह। उनके इस गम्भीर व्यक्तित्व का उच्चादर्श उनके पात्रों के शील एवं व्यक्तित्व में भलीभाँति प्रतिफलित हुआ है।

उ० च० में पुरुष और नारी पात्रों का वर्गीकरण

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उ० च० में भवभूति के सभी पात्रों को पुरुष और नारी इन दो व्यापक श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। राम, लक्ष्मण, वशिष्ठ, जनक, अष्टावक्र, वाल्मीकि, कुशलव, चन्द्रकेतु, सुमन्त्र, दुर्मुख तथा शम्बूक आदि पुरुष पात्र हैं, तथा सीता, कौशल्या, गंगा, पृथ्वी, आत्रेयी, तमसा, मुरला, अरुन्धती आदि इसके नारी पात्र हैं। इन पुरुष और नारी पात्रों को भी पुनः दिव्य अदिव्य दो भागों में बाँटा जा सकता है। इनमें ऋष्यश्रृङ्गावाल्मीकि, वशिष्ठ आदि तपःपूत त्रिकालदर्शी महात्मा हैं और राम जनक आदि लोक वेद वन्दित इतिहास प्रसिद्ध महापुरुष हैं। नारी पात्रों में भी गंगा, पृथ्वी, आत्रेयी, तमसा, मुरला तथा अरुन्धती आदि कुछ दिव्य स्त्रियाँ हैं जिन्होंने अपने अनाविल शील एवं तपःपूत चरित्र से समस्त नाटकीय कथावस्तु को गौरवान्वित किया है।

पात्रों की बहुलता, किन्तु विविधता का अभाव

मर्यादा पुरुषोत्तम राम इस नाटक के महान् नायक हैं और नायिका हैं, जगज्जननी श्रीजानकीजी। शेष सभी पात्र इनके लोकोत्तर प्रेम तथा कर्त्तव्य मार्ग के सहयोगी सखा सहचर हैं जिनके परिपार्श्व में नायक और नायिका का शील एवं व्यक्तित्व चरमोत्कर्ष को प्राप्त करता है। भवभूति के उ० च० में संख्या की दृष्टि से पात्रों की बहुलता अवश्य है, किन्तु इनमें व्यक्तित्व की विविधता एवं वैयक्तिकता कहीं परिलक्षित नहीं होती। कालिदास, शूद्रक तथा विशाखदत्त आदि नाटककारों के पात्रों में जो चारित्रिक विशिष्टता, विविधता एवं वैयक्तिकता हमें देखने को

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

मिलती है, वह भवभूति के पात्रों में नहीं। वहाँ दिव्य-अदिव्य, स्त्री-पुरुष तथा छोटे-बड़े सभी पात्र कर्त्तव्य एवं प्रेम के एक ही सनातन आदर्श से प्रेरित और संचालित होते दिखाई देते हैं। इनके पार्थिव अस्तित्व में अथवा ऐतिहासिक व्यक्तित्व में भले ही भिन्नता परिलक्षित होती हो, किन्तु शील एवं आचरण में गुण एवं वृत्ति का सहज साम्य होने के कारण सभी एक ही प्रकार (टाइप) के प्रतीत होते हैं। यहाँ ऐसा एक भी पात्र नजर नहीं आता जो दुष्ट और दुरात्मा हो तथा जिसका शील एवं चरित निन्दित हो, बल्कि यहाँ सभी कर्त्तव्य, प्रेम और वात्सल्य के उज्ज्वल आदर्श से महान और महनीय ही प्रतीत होते हैं। दुर्मुख जो एक अति-सामान्य गुप्तचर है तथा जिसका नाम भी अमंगल वाची है, वह भी एक अत्यन्त विनीत, ईमानदार और कर्त्तव्य परायण व्यक्ति प्रतीत होता हैं। वह सीता के लोकापवाद का भयंकर परिणाम अच्छी तरह समझकर भी केवल कर्त्तव्य के अनुरोध से ही राजा राम को सीता के लोकापवाद की सूचना देता है[1]। गुरु वशिष्ठ राजधानी से दूर रहकर भी निरंतर रघुकुल की हित साधना में तत्पर हैं। भगवान् ऋष्यश्रृंग के आश्रम से अष्टावक्र के द्वारा भेजे गये उनके संदेश वाक्य कर्त्तव्य की सनातन महिमा से प्रोद्दीप्त हैं[2]। गुरु वशिष्ठ के कर्त्तव्यानुशासन को सादर स्वीकार कर राम भी लोक धर्म की रक्षा के लिए कोई भी बड़ा से बड़ा त्याग करने के लिए प्रतिश्रुत हो जाते हैं :—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा[3]।

निश्चय ही राम के इस प्रतिज्ञा-वाक्य में सीता का परित्याग भी सम्मिलित है किन्तु अपने पति के मुँह से इस अप्रिय वाक्य को सुनकर भी सीता का शुद्ध सात्विक पत्नीहृदय किसी आन्तरिक उल्लास से सिहर उठता है और वह राम के सात्विक कर्त्तव्यबोध की प्रशंसा करने लगती है 'अतएव राघवधुरंधर आर्यपुत्रः'। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सीता के इस आन्तरिक उल्लास के मूल में भी कर्त्तव्य चेतना की वही सनातन दिव्य ज्योति निष्कम्प भाव से जल रही है। यहाँ राम और सीता का दाम्पत्य प्रेम कर्तव्य चेतना के दिव्य आदर्श से मिलकर तद्रूप हो गया है। यद्यपि राम और सीता का निगूढ़ निर्भर प्रणय भाव भी लोकोत्तर और नमस्य

---

१. दुर्मुख—(स्वगतम्) हा कथमिदानीं देवीमन्तरेणेदृशमचिन्तनीयं जनापवादं देवस्य कथयिष्यामि ? अथवा नियोगः खलु मम मन्दभागधेयस्यैषः।
उ० च०—प्रथम अंक, पृष्ठ ९९।

२. उ० च०—जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धास्त्वं बाल एवासि एवं च राज्यम्।
युक्तः प्रजानामनुरंजने स्यास्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः॥ १।११

३. वही,—१।१२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ही है किन्तु जहाँ कर्त्तव्य और प्रेम में संघर्ष छिड़ता है, वहाँ समष्टिगत लोकधर्म की पुनीत वेदी पर अपने व्यष्टिगत प्रेम की बलि चढ़ाकर राम कर्मयोगी हो जाते हैं। इस प्रकार उ० च० का प्रत्येक पात्र कर्त्तव्य बोध की अलौकिक महिमा से महान् और महनीय है।

उ० च० का प्रत्येक अंक तपस्या के तेज से भास्वर और प्रदीप्त है। यहाँ हमें पग-पग पर ऋषि-मुनि-महात्माओं के दिव्य दर्शन होते हैं। ऋष्यश्रृंग, गुरु वशिष्ठ, अरुन्धती, वाल्मीकि तथा राजर्षि जनक आदि दिव्य पात्र इसी कोटि के हैं, जो हमेशा सिद्ध रूप में हमारे सामने आते हैं। इनके वाक्य अमोघ और कर्म दिव्य हैं। इनकी कल्याणी वाणी अर्थ का अनुसंधान किये विना ही विनिसृत हुआ करती है[1]। यह संदेह से बिल्कुल परे है। इसमें अविश्वास का कहीं अवकाश नहीं है क्योंकि इनकी वाणी में तीनों लोकों का कल्याण करने वाली लक्ष्मी का सहज वास होता है और ये साक्षात्कृत धर्मा ऋषि कभी असत्य नहीं बोलते[2]। इनका शील और समुदाचार हमें सदा शुचिता और कर्त्तव्य परायणता का मंगलमय उपदेश देकर नैतिक-अनैतिक समस्याओं का एक निरंतन समाधान उपस्थित करता है। ये महापुरुष हमेशा सिद्ध सारस्वत तथा तपःपूत होकर ही मंच पर अवतरित होते हैं, अतः यहाँ इनके चरित्र विकास का न तो कोई अवसर ही है और न तो उसमें किसी आदर्श निर्माण की कोई आवश्यकता प्रतीत होती है। इनके सामने हम अनायास नतमस्तक हो जाते हैं। राजर्षि जनक ने भगवती अरुन्धती को जिन शब्दों में अपना प्रथम प्रणाम निवेदित किया है वह तपस्या के तेज से उद्दीप्त और नमस्य है[3]। भगवती अरुन्धती ने भी वयस में छोटी सीता को पातिव्रत्य की अलौकिक महिमा से पूज्य और अनुकरणीय घोषित किया है। उनका कहना है कि गुण ही पूजा के कारण होते हैं, गुणीजनों में लिंग और वय का विचार नहीं किया

---

१. उ० च०—लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्त्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥ १।१०

२. वही,—आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां,
ये व्याहारास्तेषु मा संशयोऽभूत्।
भद्रा श्लेषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता,
नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति ॥ ४।१८

३. जनकः—(उपसृत्य) भगवत्यरुन्धति ! वैदेहः सीरध्वजोऽभिवादयते।
यया पूतंमन्यो निधिरपि पवित्रस्य महसः,
पतिस्ते पूर्वेषामपि खलु गुरूणां गुरुतमः।
त्रिलोकीमङ्गल्यामवनितललीनेन शिरसा.
जगद्वन्द्यां देवीमुषसमिव वन्दे भगवतीम् ॥ ४।१०

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जाता—'गुणाः पूजा स्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः[1]। निस्सन्देह उ० च० के सभी छोटे बड़े पात्र दिव्य और महान् हैं किन्तु पात्रों के चारित्रिक उत्थान-पतन का जो सौन्दर्य एवं उत्कर्ष कालिदास के शाकुन्तल में देखा जाता है वह भवभूति के उ० च० में नहीं। यहाँ पात्रों के शील एवं आचार के विनिमय में मानव हृदय की विभिन्न वृत्तियों की अभिव्यंजना बहुत कम हुई है।

प्रतिनायक एवं विदूषक का अभाव

चरित्र चित्रण का एक चिरंतन प्रकार नाटकों में हमें वहाँ भी उपलब्ध होता है जहाँ नाटककार अपने पात्रों का चरित्र विकास उनके प्रतिपक्षी पात्रों को आमने-सामने रखकर प्रस्तुत करता है। भारतीय नाट्य परम्परा में शूद्रक, विशाखदत्त आदि महान् नाटककारों से इसी शैली के द्वारा अपने पात्रों के चारित्रिक उत्कर्ष को प्रदर्शित किया है। मुद्राराक्षस में चाणक्य के चारित्रिक उत्कर्ष का एकमात्र आधार उनके प्रतिपक्षी नायक राक्षस का दुर्दमनीय व्यक्तित्व है। किसी पात्र का चारित्रिक उत्कर्ष और महत्त्व प्रतिपक्षी पात्र के सामने होने पर अच्छी तरह प्रत्यक्ष और हृदयंगम हो जाता है। किन्तु भवभूति के उ० च० में चरित्र चित्रण की यह जटिलता कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। यहाँ राम और सीता का कोई प्रतिद्वन्द्वी नजर नहीं आता। यहाँ जो भी दिव्य-अदिव्य पुरुष अथवा नारी पात्र हैं सभी राम और सीता के अन्तरंग सहयोगी एवं हितैषी हैं। उ० च० के पंचम और षष्ठ अंक में जहाँ कुमार लव और कुश के प्रतिद्वन्द्वी रूप में लक्ष्मण कुमार चन्द्रकेतु का उदय होता है, वहाँ भी दोनों के शील एवं स्वभाव में गुण एवं वृत्तियों की समरूपता ही परिलक्षित होती है। लड़ाई के मैदान में दोनों एक दूसरे के प्रति किसी अज्ञात स्नेह सूत्र से आबद्ध हो जाते हैं[2], यद्यपि कुमार लव और कुश के चरित्र में क्षत्रियोचित शौर्य एवं आश्रम सुलभ तेज का प्रस्फुटन पूर्ण रूपेण हुआ है, किन्तु सामान्यतः भवभूति के पात्रों में व्यक्तित्व की विविधता जटिलता एवं वैयक्तिकता का प्रायः अभाव ही गोचर होता है।

नारी पात्रों की विशेषताएँ

जहाँ तक उ० च० में भवभूति के नारी पात्रों का प्रश्न है वे भी प्रायः एक ही श्रेणी के प्रतीत होते हैं। उ० च० में नारी पात्रों की दो श्रेणियाँ हैं, कुछ

---

१. उ० च०—४।११

२. कुमारौ—(अन्योन्यं प्रति)। अहो प्रियदर्शनः कुमारः।
यदृच्छासंवादः किमु ? गुणगणानामतिशयः ?
पुराणो वा जन्मान्तरनिबिडबद्धः परिचयः।
निजो वा सम्बन्धः किमु विधिवशात्कोऽप्यविदितो ?
ममैतस्मिन्दृष्टे हृदयमवधानं रचयति ॥ उ० च० ५।१५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ऐतिहासिक हैं और कुछ कविकल्पनाप्रसूत। कौशल्या, सीता, अरुन्धती आदि देवियाँ ऐतिहासिक और गंगा, पृथ्वी, तमसा, मुरला आदि नारी पात्र कविप्रतिभा निबद्ध हैं। किन्तु शील एवं आचरण के विनिमय में ये देवियाँ भी एक ही समान प्रतीत होती हैं। करुणा, प्रेम, वात्सल्य, उदारता, क्षमाशीलता एवं कष्टसहिष्णुता आदि दिव्य गुणों का उत्कर्ष इन देवियों के तपःपूत शील में समान रूप से पाया जाता है। काल्पनिक नारी पात्रों के नामकरण में नाटककार का चाहे जो भी लक्ष्य हो, किन्तु इतना तो अनिवार्य है कि भवभूति ने इन नारी पात्रों की रंगीन कल्पना द्वारा सनातन प्रेमभाव की अपूर्व अभिव्यंजना की है—कहीं माता के रूप में और कहीं सखी के रूप में। इनमें आदि से अन्त तक करुणा, मैत्री और वात्सल्य की त्रिवेणी प्रवाहित होती रहती है जिसमें निमज्जन कर हम धन्य हो जाते हैं।

जहाँ तक ऐतिहासिक पात्रों का सम्बन्ध है भवभूति ने उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व को कहीं विकृत नहीं किया है किन्तु उनके पात्र ऐतिहासिक होकर भी इतिहास नहीं हैं। इनमें अक्षरशः ऐतिहासिक सत्य ढूंढ़ना निरर्थक होगा। इतिहास की पृष्ठभूमि में भवभूति ने पात्रों के व्यक्तित्व में सर्वत्र लोक संग्रह सनातन भावों के दिव्य आदर्शों को प्रतिष्ठित किया है, कदाचित् इसीलिए इन पात्रों के शील एवं चारित्र्य में सहज देवत्व दमक उठा है।

उ० च० के सभी नारी पात्र सामान्यतः आदर्श और दिव्य हैं। इन्होंने अपने अनाविल शील एवं लोकवेद वन्दित व्यक्तित्व से नाटकीय कथानक को गौरवान्वित किया है। यद्यपि ये देवियाँ अलौकिक हैं, सिद्ध हैं फिर भी इनके आचरण मानवीय है। गंगा और पृथ्वी—इन देवियों का शील एवं आचरण समस्त मातृ महिमा से मंडित है। विपत्ति की दुःसह स्थिति में परित्यक्ता सीता के योगक्षेम का समस्त दायित्व इन्हीं देवियों पर है। इनके आशीर्वचन भी दिव्य और अमोघ हैं। गंगा के आशीष से सीता अदृश्य रूप में भूलोक पर विचरण करती है। "न त्वापवनिपृष्ठवर्तिनीमस्मत्प्रभावाद्वनदेवता अपि द्रक्ष्यन्ति, किमुत मर्त्याः।" राम और सीता के पुनर्मिलन के समय इन्हीं देवियों के शब्द साक्ष्य को प्रमाण रूप में नतमस्तक होकर सभी सादर स्वीकार करते हैं। तमसा और मुरला-ये दो देवियाँ सीता की सखी के रूप में सदा साथ रहती हैं। शकुन्तला की दो सखियाँ—अनुसूया और प्रियंवदा की भाँति सीता की ये दो सखियाँ हैं। ये सीता के दुःख से केवल दुःखी ही नहीं होती, बल्कि सीता के क्षुब्ध मानस का पवित्र तेज इन्हीं देवियों की वाणी में प्रस्फुटित हुआ है। वासन्ती ने जो राम की न्यायप्रियता का तथा आदर्श पत्नी प्रेम का पर्दाफास किया है उसमें

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सीता के हृदय का सात्विक अभिमान ही तेज बनकर फूट पड़ा है[1]। विरह के विषम दुःख-भार को बाँटने, प्रेम एवं सहानुभूति के दिव्य आदर्श को प्रतिष्ठित करने तथा राम और सीता के भावी मिलन मार्ग को प्रशस्त एवं स्वाभाविक बनाने के लिए ही ये देवियाँ मंच पर आती हैं। अगर इन देवियों का नाटकीय कथानक में समावेश नहीं हुआ होता तो निश्चय ही वह कला की दृष्टि से अनुचित और अस्वाभाविक होता। क्योंकि इनके अभाव में तपस्विनी सीता का जीवन किसी भारतीय विधवा सा विपन्न प्रतीत होता, राग और सहानुभूति, मैत्री और करुणा की दिव्य सुरभि से पाठकगण अनन्त काल तक वंचित हो जाते। यद्यपि इन देवियों का अस्तित्व एवं व्यक्तित्व अतिप्राकृत है, किन्तु इनके शील निरूपण में कहीं भी अस्वाभाविकता का बोध नहीं होता। इसका कारण यह है कि ये देवियाँ अपने शील एवं आचरण के विनियोग में प्रकृति के सामान्य नियमों का अनुसरण करती हैं। निसन्देह उ० च० में नारी पात्रों की रंगीन कल्पना भवभूति की नाट्य प्रतिभा की मौलिक सृष्टि है।

यद्यपि भवभूति के पात्रों के सम्बन्ध में यह आरोप लगाया जा सकता है कि इनके पात्रों का व्यक्तित्व दुहरा होता है, अर्थात् उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास में सर्वत्र आदर्शों का आरोप हुआ है जिससे उनका शील एवं चरित्र कुछ कृत्रिम और बोझिल सा प्रतीत होता है। किन्तु इस प्रकार का आरोप उचित नहीं है। भवभूति के सभी पात्र यद्यपि आदर्शोन्मुख अवश्य हैं, किन्तु उन आदर्शों की अभिव्यक्ति को वे अन्तर्द्वन्द्व के विकास द्वारा तथा घटनाओं के आन्तरिक संघर्ष द्वारा संघटित करते हैं। अतः उनका चरित्र चित्रण कृत्रिम नहीं, मनोवैज्ञानिक है। प्रथम अंक में राजा राम के आगे कर्तव्य और प्रेम का भीषण अन्तर्द्वन्द्व छिड़ता है, वहाँ समष्टिगत लोकहित के लिए राम अपने समस्त व्यक्तिगत सौख्यों का अमर बलिदान कर धन्य हो जाते हैं। चरित्र चित्रण का यह मनोवैज्ञानिक प्रकार भवभूति की चरित्र चित्रण शैली का एक अन्यतम स्वरूप है। किन्तु उ० च० में भवभूति ने चरित्र चित्रण के लिए स्वाभाविक शैली का भी बड़ा ही हृदयकारी प्रयोग किया है। राम के मेध्य अश्व को पकड़नेवाले ब्रह्मचारी वटुओं तथा कुमार लव और कुश के शौर्य-वीर्य चित्रण में तथा अनध्याय प्रिय छात्रों के शील निरूपण में इसी शैली का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः भवभूति जहाँ ब्रह्मचारी बालकों का चित्रण

---

१. वासन्ती :—त्वं जीवतं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं,
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमंगे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां,
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण॥ उ० च० ३।२६

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

करते हैं वहाँ वे स्वाभाविक शैली का ही विनियोग करते हैं। कुमार प्रत्यभिज्ञान प्रसंग में लव और कुश का बाल चरित अत्यन्त मधुर और स्पष्ट है।

राम और सीता के चरित्र का नाटकीय मूल्यांकन

यद्यपि उ० च० में भवभूति के सभी पात्र दिव्य एवं आदर्शोन्मुख ही हैं, फिर भी इनमें किसी भी पात्र का चरित्र पूर्णतः स्पष्ट एवं स्फुट नहीं हो सका है। सम्पूर्ण नाटक में राम का पति रूप एवं प्रजापालक रूप हमारे सामने आता है और वह भी पूर्णतः स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष नहीं है। सीता का चरित तो उसके दुर्भाग्य के समान ही अत्यन्त गम्भीर तथा आदर्श के आवरणों में अवगुण्ठित प्रतीत होता है। कदाचित् कुमार लव और कुश को छोड़कर शेष सभी अन्यान्य पात्रों का चरित्र भी इसी तरह भाव गम्य एवं अस्पष्ट है फिर भी भवभूति ने इन पात्रों के चरित्र निर्माण के लिए जो कुछ रेखाएँ खींची हैं वे इतनी संकेतात्मक और अर्थगर्भित हैं कि हम उनके आधार पर इन पात्रों के शील एवं व्यक्तित्व की एक प्राणवन्त प्रतिभा निर्मित कर सकते हैं। अतः अब यहाँ कुछ प्रमुख पात्रों के चरित्र का एक विशेश अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

राम—मर्यादा पुरुषोत्तम राम इस नाटक के नायक हैं। लक्षण ग्रन्थों के अनुसार वे धीरोदात्त नायक हैं। वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं। शूद्र तपस्वी शम्बूक के शब्दों में वे समस्त प्राणियों के एक मात्र आधार और शरणागत वत्सल हैं :—

'अन्वेष्टव्यो यदसि भुवने भूतनाथः शरण्यो[1]'।

वे वाल्मीकि रामायण के कथा नायक भी हैं और ब्रह्मकोश के गोप्ता है। इनका दर्शन अत्यन्त पवित्र और अभिलषणीय है। 'आशंसनीय पुण्यदर्शनः समहात्मा।' कुमार लव और कुश ने इनकी प्रासादिक आकृति और पवित्र अनुभाव की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है :—

अहो प्रासादिकं रूपमनुभावश्च पावनः
स्थाने रामायणकवि देवी वाचमवीवृधत्[2]।

यों भवभूति के राम समस्त सांसारिक आदर्शों के पुंजीभूत विग्रह हैं, किन्तु उ० च० में उनके प्रजापालक तथा पतिरूप का लोकोत्तर आदर्श मुख्यतः अभिव्यंजित हुआ है। इनका प्रजापालक रूप सर्वथा अप्रतिम है। वे प्रजानुरंजन के लिए अपने समस्त सौख्यों को छोड़ सकते हैं। राज सिंहासन पर बैठते ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा की है कि वे लोकाराधन के लिए अपने स्नेह, सौख्य तथा जानकी तक को खशी-खुशी छोड़े सकते हैं :—

---

१. उ० च० २।१३
२. उ० च० ६।२०

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

स्नेहं दयां च सौख्यंच यदि वा जानकीमपि
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा[1]।

प्रजानुरंजन ही राजा का पवित्र धर्म और कर्तव्य है 'राजाप्रकृतिरंजनात्' प्रजापालन का यह आदर्श रघुवंशीय राजाओं का सनातन कुलव्रत है—इक्ष्वाकूणां कुलधनमिदं यत्समाराधनीयः कृत्स्नो लोकः[2]। महाराजाधिराज दशरथ ने इसी लोक धर्म एव वांशिक प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए कभी अपने प्राणप्रिय पुत्र तथा अपने प्राण का भी परित्याग किया था। मर्यादापुरुषोत्तम राम भी अपने पिता के द्वारा प्रतिष्ठित लोक सेवा के इस सनातन आदर्श को स्मरण कर प्रजापालन में सलग्न दिखाई देते हैं :—

सतां केनापि कार्येण लोकस्याराधनं कृतम्।
यत्पूरितं हि तातेन मां च प्राणांश्च मुंचता[3]॥

लोक सेवा के इस चिरंतन आदर्श की प्रतिष्ठा के लिए राजा राम कोई भी बड़ा से बड़ा मूल्य चुकाने के लिए सदा उद्यत हैं। लोकाराधन व्रत की शाश्वत प्रतिष्ठा के लिए ही उन्होंने सीता का परित्याग किया है। यह सही है कि राम को इसके लिए अपनी प्रतिष्ठा का सबसे बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। अयोध्या से दण्डकारण्य तक उन्हें सीता के समक्ष ही सीता के लिए अरण्य रोदन करना पड़ा किन्तु यह भी सही है कि सीता निर्वासन के द्वारा लौकधर्म का जो आदर्श उन्होंने इतिहास में प्रतिष्ठित कर दिया, वह अनन्त काल तक भारतीय जीवन और साहित्य को अनुप्राणित करता रहेगा। राज्य धर्म अधिकार सुख के लिए नहीं, त्याग और तपस्या के लिए होता है :—

नाति श्रमापनयनाय यथा श्रमाय,
राज्यं स्ववहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्[4]।

जिस प्रजानुरंजन के लिए राम ने अपनी प्राणप्रिया सीता का भी परित्याग कर दिया उस प्रजा की कल्याण साधना में वे सतत् जागरूक और तत्पर दिखाई देते हैं। सुदूर राज्य सीमा पर लवणासुर के उपद्रव से सन्त्रस्त ऋषियों की रक्षा के लिए सैन्य सहित शत्रुघ्न को भेजना तथा ब्राह्मणपुत्र को जीवन दान देने के लिए स्वयं अयोध्या से दण्डकारण्य जाकर शूद्रतपस्वी शम्बूक का उद्धार करना आदि उनके लोकसेवाव्रत के उज्ज्वल प्रमाण हैं। फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही होगा

१. उ० च०—१।१२
२. वही,—७।६
३. वही,—१।४१
४. अ० सा०—कालिदास ५।५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कि भवभूति के राम का प्रजापालक रूप अत्यन्त स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष गोचर नहीं है। इसे हम अनुभव ही कर सकते हैं।

जहाँ तक राम के पतिरूप का सम्बन्ध है, वह भी आदर्श और लोकोत्तर ही है। उनका दाम्पत्य प्रेम अनुपम है। वह सुख और दुःख में निवातस्थ-निष्कम्प दीप के समान सदा एक रस और एक रूप है। ऐसा कल्याणकारी प्रेम सौभाग्य से ही किसी सुमानुष को प्राप्त होता है :—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थ्यते[1] ॥

इनका प्रेम अनिर्वचनीय और अहेतुक है। यह किसी बाह्य कारणों से समुद्भूत नहीं होता, बल्कि यह हृदय का एक चिरंतन व्यापार ही है जो दो अज्ञात हृदयों से परस्पर मिला होता है—"स्नेहश्च निमित्तैर्सव्यपेक्ष इति विप्रतिषिद्धमेतत्":—

व्यतिषजतिपदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीनप्रीतयः संश्रयन्ते[2] ॥

सती सीता के प्रति उनकी वैयक्तिक धारणा कितनी स्थिर और उदात्त है यह राम के पवित्र उद्गारों से भलीभाँति संसूचित होता है। उनकी दृष्टि में अयोनिजा सीता आजन्म शुद्धा है, वह तीर्थोदक और वह्नि के समान पवित्र और त्रिभुवन-नमस्या है :—

उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः।
तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः[3] ॥

यद्यपि राजतन्त्र के कठोर निग्रह से विवश होकर राम ने सीता को निर्वासित कर दिया है, किन्तु सीता के प्रति उनका दिव्य भाव कभी प्रतिहत नहीं हुआ। निर्वासन के समय भी उनके हृदय में सीता के प्रति श्रद्धा एवं पुरातन प्रीति की वही ज्योति जलती दिखाई देती है। सीता के लोकापवाद को सुनकर उन्होंने जो पश्चात्ताप किया है वह नितान्त सात्विक और शान्तिदायक है :—

त्वया जगन्ति पुण्यानि, त्वय्यपुण्या जनोक्तयः।
नाथवन्तस्त्वया लोकास्त्वमनाथा विपत्स्यसे[4] ॥

---

१. उ० च०—१।३९
२. वही,—६।१२
३. वही,—१।१३
४. उ० च०—१।४३

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सीता के प्रति उनकी दिव्य आस्था सिर्फ भावनाओं में ही अभिव्यक्त नहीं होती, बल्कि उसका क्रियात्मक रूप भी गोचर होता है—उन्होंने यज्ञ के अवसर पर सीता की सुवर्ण प्रतिमा अपनी बाँयी ओर रखकर एक पत्नीव्रत का अलौकिक आदर्श प्रतिष्ठित किया है। काम के लिए तो क्या, धर्म के लिए भी उन्होंने द्वितीय विवाह नहीं किया। निस्सन्देह राम के शील का यह विश्व वन्दनीय रूप है।

सीता के प्रति राम का विश्वास अत्यन्त पवित्र और महान् है। निर्वासन के कुछ क्षण पूर्व सोयी हुई सीता के गात्रस्पर्श से पुलकित होकर उनके हृदय से जो प्रेमोद्गार प्रकट हुए हैं, निसन्देह वे उनके महान् पत्नी प्रेम के उज्ज्वल प्रतीक हैं। उनके लिए सीता घर की लक्ष्मी हैं, नेत्रों में अमृत की अंजन शलाका है। इनका स्पर्श चन्दन रस के समान शीतल और सुखद है। केवल विप्रयोग को छोड़कर इनकी प्रत्येक वस्तु प्रिय और अभिलषनीय है :—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शा वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः,
किमस्याः न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः[1] ॥

राम का आदर्श पति रूप देवी धरातल पर प्रतिष्ठित होने पर भी व्यवहार में प्राकृत और मानवीय है। जहाँ वे लोक मर्यादा की रक्षा के लिए सीता का कठोर त्याग करते हैं, वहीं वे उनके विरह में प्राकृतजन की तरह फूट फूटकर रोते भी हैं। उनका रोना भी अनन्य साधारण है, उसे सुनकर पत्थर की छाती भी दो टूक हो जाती है 'अपि ग्रावा रोदिति दलति वज्रस्य हृदयम्'। तो सीता के विरह में भवभूति के राम यथेष्ठ रोये हैं। पंचवटी और जनस्थान के पेड़ पौधे इनके विरहाश्रुओं से पूर्णतः अभिषिक्त हुए हैं किन्तु अगर सच पूछा जाय तो राम के इस करुण क्रन्दन में वेदना की वह सरलता एवं प्रसरणशीलता नहीं जो हमें कालिदास के यक्ष अथवा भवभूति के माधव की विरहोक्तियों में परिलक्षित होती है। वियोग की दशा में इस तरह गला फाड़-फाड़कर रोना तथा बार-बार मूच्छित होना राम के धीरोदात्त व्यक्तित्व के सर्वथा विसंवादी स्वरूप हैं। राम का वियोग दुःख निस्सन्देह असह्य और मर्मान्तिक है। वे केवल प्रजापुण्य से ही जी रहे हैं 'लोकोत्तरेण सत्वेन प्रजापुण्यैश्च जीवति' कदाचित् राम के विरह दुःख की अभिव्यंजना के लिए इतना भी पर्याप्त था। महाकवि कालिदास ने विरही यक्ष के प्रिया प्रेम को 'भ्रंशरिक्त-प्रकोष्ठः' कहकर संसूचित कर दिया है। किन्तु भवभूति ने राम के विरह दुःख की विवृत्ति में लगातार कई अंकों का विनियोग किया है जो चरित्र चित्रण की दृष्टि से बहुत उपयोगी नहीं है। एक भाव की बार-बार पुनरावृत्ति से चरित्र चित्रण में

१. वही,—१।३८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कृत्रिमता एवं अदिव्यता का बोध होने लगता है। आँसुओं की झड़ी में राम का पत्नी प्रेम प्रत्यक्ष गोचर नहीं हो पाता, वह अनुभूति का ही विषय रह जाता है।

राम के शील में यत्र-तत्र विनय, कृतज्ञता आदि दिव्य गुणों का भी समुचित उन्मेष हुआ है। चित्र दर्शन प्रसंग में उनके शील में विनय का माहात्म्य दर्शनीय है। आत्मशंसा की भावना उनमें रंचमात्र नहीं है। चित्रदर्शन के समय जब लक्ष्मण मिथिला वृत्तान्त में परशुराम के मान-मर्दन का दृश्य उपस्थित करते हैं तो राम उस प्रसंग को हटाते हुए कहते हैं कि "अयि वत्स, बहुतरं द्रष्टव्यम् अन्यतो-दर्शय।" किन्तु सीता, जो उनकी अन्तरंग सहचरी है, उनके विनय माहात्म्य को ताड़ लेती है और कहती है—"सुष्ठु सोभसे आर्यपुत्र एतेन विनयमाहात्म्येन।" इसी प्रकार जब कैकेयी द्वारा प्रवर्तित वनवास का दृश्य चित्र में सामने आता है तो शील निधान राम उसे शीघ्र ही विषयान्तर कर देते हैं। लक्ष्मण जी उस समय कहते हैं—"अये मध्यमाम्बावृत्तान्तमन्तरितमार्येण"।[1] निस्सन्देह उनके सौम्यशील की पराकाष्ठा यही है कि वे चित्र दर्शन प्रसंग में भी अपने सहज शील की रक्षा नितान्त सहज होकर करते हैं।

राम के लोक वेद वन्दित शील की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे वनवास और राज्याभिषेक के समय भी एक ही समान प्रसन्न दिखाई देते हैं। वस्तुतः सुख-दुःख में उन्होंने कहीं भी अपने सहज शील का अतिक्रमण नहीं किया। पुराने सेवकों के साथ महाराजाधिराज राम का सदा सम्मानपूर्ण व्यवहार सर्वथा स्तुत्य है।

राम को सदा 'रामभद्र' कहने का चिर अभ्यासी वह बूढ़ा कंचुकी जब राज्याभिषेक के बाद भी महाराजाधिराज राम की उसी पुरातन संस्कारवश 'रामभद्र' शब्द से ही सम्बोधित कर ग्लानि का अनुभव करता है तो रामचन्द्रजी कहते हैं कि आप जैसे वयोवृद्ध सेवकों का मेरे लिए रामभद्र का संबोधन ही अच्छा लगता है। अतः यथाभ्यस्त शब्द का ही व्यवहार कीजिए :—

रामः—'आर्य ! ननुरामभद्र ! इत्येव मां प्रत्युपचारः शोभते तात परिजनस्य, तद्यथाभ्यस्तमभिधीयताम्'[1]।

रामचन्द्र के चरित्र में एक महत्त्वपूर्ण गुण उनकी कृतज्ञता की भावना भी है। चित्रदर्शन के समय उन्होंने श्रद्धासिक्त शब्दों में निषादराज, पूज्यतात जटायु तथा महावीर हनुमान के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की है। 'यस्य वीर्येण कृतिनो वयं च भुवनानि च।' इससे बढ़कर और क्या कृतज्ञता की अभिव्यक्ति हो सकती है। राम एक आदर्श पिता भी हैं। यद्यपि उन्हें अबतक सन्ततिसुख का कभी अनुभव नहीं हुआ है, किन्तु युद्ध भूमि में लव कुश के सौन्दर्य में सीता की मुखच्छवि का

१. उ० च०—प्रथम अंक—पृष्ठ ३१

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रतिबिम्ब देखकर उनके हृदय का अमृतद्वार खुल जाता है और वे अज्ञात रूप से वात्सल्य के अमृत द्रव से आर्द्र और विगलित हो जाते हैं :—

अंगादंगात् सृत इव निजः स्नेहजो देहसारः,
प्रादुर्भूय स्थित इव बहिश्चेतनाधातुरेकः ।
सान्द्रानन्दक्षुभितहृदयप्रस्रवेणावसिक्तो,
गाढ़ाश्लेषः स हि मम हिमच्योतमाशंसतीव[1] ॥

वस्तुतः राम का आदर्श चरित्र सर्वथा लोकोत्तर और संपूज्य है, भवभूति के ही शब्दों में उनका शील एवं चरित्र वज्र से भी अधिक कठोर और फूल से भी अधिक सुकुमार है, उसे सही-सही कौन जान सकता है ? :—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति[2] ।

सीता :— सती शिरोमणि सीता इस नाटक की नायिका हैं । वह अयोनिजा और आदिशक्ति हैं । रघुकुल गुरु वशिष्ठ ने नाटक के प्रारम्भ में ही उनके अलौकिक कुल-शील का महत्त्व अत्यन्त उच्छ्वसित शब्दों में प्रतिपादन किया है । वह सर्वसहा पृथ्वी की पुत्री हैं, प्रजापति तुल्य राजर्षि जनक की कन्या हैं और रघुकुल शिरोमणि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की आदर्श पत्नी हैं :—

विश्वम्भरा भगवती भवतीमसूत,
राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते ।
तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि पार्थिवानां,
येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयं च[3] ॥

सीता के शील में उपर्युक्त सभी गुणों का समवाय एकत्र देखा जा सकता है । वह आदर्श सती हैं । वह उत्पत्ति से ही परिपूत हैं । उसका अनाविल शील तथा पावन चरित तोर्थोदक और वह्नि के समान पवित्र एवं वन्दनीय है :—

उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः
तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः[4] ॥

सीता का शील और सदाचार विश्व साहित्य की अनुपम निधि है । उनके स्मरण मात्र से कोई भी नारी देवी पद को प्राप्त कर सकती है । नाटक के प्रथम अंक में राम जब वाल्मीकि शिष्य अष्टावक्र के आगे प्रतिज्ञा करते हैं कि वे

---

१. वही,—६।२२
२. वही,—२।७
३. उ० च०—१।९
४. वही, १।१३

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रजानुरंजन के लिए अपने सभी सौख्यों के अतिरिक्त प्राणप्रिया जानकी को भी छोड़ सकते हैं, तो सती सीता राम के इस दारुण प्रस्ताव से व्यथित नहीं होती, बल्कि वह परम गौरव का अनुभव करती हुई कहती है—"अतएव राघवकुल-धुरंधर आर्यपुत्र इति"। सीता यहाँ बिल्कुल आत्मचिन्ताशून्य और राममय जीविता नजर आती है, जैसे पति से पृथक् उनका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं। चित्र में भी अपने प्राणवल्लभ राम को रोते देख सीता की आँखें बरबस गीली हो जाती हैं, और कहती हैं "अयि देव, रघुकुलानन्द। एवं मम कारणात् क्लिष्टोऽसि"। यद्यपि पति के दुःख से दुखी होना किसी भी सती साध्वी नारी के लिए एक साधारण-सी बात है, किन्तु सीता यहाँ विशेष कष्ट का अनुभव इसलिए कर रही हैं कि उनके राम यहाँ उन्हीं के वियोग में, अतएव उन्हीं के कारण कष्ट पा रहे हैं। यह सीता के तद्भावित शील की अप्रतिम विशेषता है।

राम के प्रति सीता का अनन्य अनुराग है। जिस समय सोयी हुई सीता को छोड़कर राम वहाँ से अलग हो जाते हैं, उस समय सीता उनसे मान करने की बात सोचती है, किन्तु उन्हें शक है कि राम के सम्मुख होने पर शायद ही उनका मान टिक सकेगा। "हा धिक् हा धिक्, एकाकिनीं मां प्रसुप्तामुज्झित्वा गत आर्यपुत्रः। किमिदानीमेतत्। भवतु तस्मै कोपिष्यामि, यदि तं प्रेक्षमाणा आत्मनः प्रभविष्यामि"[1]। अतएव सीता मानप्रिया भी है। किन्तु उनका मान क्रोधमूलक नहीं, बल्कि वह प्रेम का पर्याय है। अपने प्रियतम के आगे प्रणयजनित मान करना किसी भी प्रणयगर्विता पत्नी का सहज शील होना चाहिये, क्योंकि जो मानवती नहीं, वह प्रेमवती भी नहीं हो सकती। मुरझाते हुए, फीका पड़ते हुए प्रेम को पत्नी का मान फिर से हराकर प्रेमी जनों के लिए सदा संजीवन का काम करता है। कालिदास का विरही यक्ष भी अपनी मानिनी यक्षिणी को मनाने के लिए गैरिक धातुराग से रामशिला पर चित्र बनाता है :—

"त्वमालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्"...[2]।

यद्यपि उ० च० में मानिनी सीता का कोई रूप कहीं प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, किन्तु उनके सहज शील में भवभूति ने मान के इस अवमोल तत्त्व को बड़ी ही बारीकी से अभिव्यंजित किया है।

यों सीता का सम्पूर्ण जीवन ही दुःखमय है, किन्तु उनके जीवन का उत्तरार्ध, जो विरहाश्रुओं से अत्यधिक क्लिन्न और पंकिल है—इस नाटक में चित्रित हुआ है। रवीन्द्रनाथ का कहना है कि "सीता का परमशत्रु वह विधर्मी रावण नहीं, यह

१. उ० च०—प्रथम अंक-पृष्ठ १२०
२. उ० मेघ०—कालिदास-पृष्ठ ४२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

धर्मात्मा राम ही हैं। रावण के घर सीता को उतना कष्ट नहीं हुआ जितना कि महाराजाधिराज राम के घर में रहते समय हुआ। जो सोने की नाव इतने दिनों तक लड़ते-भिड़ते विपत्ति के तूफान से छुटकारा पा सकी थी, वह घाट के ही पत्थर से टकरा कर चकनाचूर हो गयी[1]। किन्तु ऐसे नृशंस एवं न्यायशून्य पति के प्रति भी सीता के मन में कभी कोई विशेष क्षोभ या दुराव का चिह्न नहीं दिखाई देता। आदिकवि वाल्मीकि और कालिदास की सीता का सात्त्विक अभिमान इस जगह तेज बनकर फूट पड़ा है, किन्तु भवभूति की सीता का समस्त तेज यहाँ प्रणय भाव के चिरंतन आदर्श में पूर्णतः लीन दिखाई देता है। वह निर्वासन के बाद भी पूर्ववत् राममय जीविता नजर आती है। यद्यपि घड़ी भर के लिए उनके मन में राम के दारुण अविचार का बोध अवश्य होता है, जब वह निर्वासन के बाद राम को पहली बार देखकर उन्हें "राजा" शब्द से सम्बोधित करती हैं—यहाँ इस एक शब्द में ही मानों उनका बारह वर्षों का रसातल निवास एक ही बार रो उठा है, किन्तु शीघ्र ही सीता पुनः वही सीता हो जाती है। वह राम की आदर्श प्राणप्रिया, सर्वसहा पृथ्वी की कल्याणी पुत्री तथा विदेहराज की अयोनिजा कन्या बन जाती है। विरह विधुर राम के पीले कृशगात को सहसा देखकर उसकी कुशल पत्नी की दृष्टि शीघ्र ही उनकी मानसिक व्यथा को माप लेती है और "हा आर्यपुत्र ! कथमेतत्" कहकर मूर्च्छित हो जाती है। राम को दुःखी देखकर वह अपना सब दुःख भूल जाती है और उनके हृदय में श्रद्धा और भक्ति का दिव्य भाव पूर्ववत् स्थिर हो जाता है। अब वह राम को मूर्च्छित देखकर सहसा चिल्ला उठती है और स्वयं दौड़कर उनके शीतल ललाट का पुण्य स्पर्श कर उन्हें संजीवित करती है और उन्हें जीवित देखकर वह प्रसन्न होकर बोलती है—"जाने पुनः प्रत्यागतमिव जीवितं त्रैलोकस्य"।

इसी प्रकार सीता की अन्तरंग सखी वासन्ती जब दुःखी राम को पत्नी प्रेम का उपालंभ देकर जर्जर कर देती है तो सीता खुलकर अपने पति का पक्ष ग्रहण करती है और वासन्ती को ही दारुण और कठोर कहने लगती है। 'सखि वासन्ति ! त्वमेव दारुणा कठोरा च या एवं प्रलपन्तं प्रलापयसि'। यहाँ सती सीता के शील में चिरंतन दाम्पत्य प्रेम का, आर्य संस्कृति के समस्त आदर्शों का उज्ज्वल प्रतिफलन हुआ है। शायद ही कोई भारतीय नारी अपने प्रिय पति का किसी दूसरे के द्वारा अपमान देख सकती है। यहाँ सीता ने वासन्ती का विरोधकर आर्य संस्कृति के एक महान् आदर्श की प्रतिष्ठा की है। सीता जब यह जान लेती है कि राम अब पुनः द्वितीय विवाह नहीं करेंगे, तो उनके हृदय का सारा आक्रोश मानापमान गलकर वह जाता है और वह श्रद्धा और विश्वास की प्रतिमूर्ति बन

१. प्राचीन साहित्य—रवीन्द्रनाथ-पृष्ठ-५२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जाती है। वहाँ से अलग होते समय वह श्रद्धावसिक्त हृदय से अपने पुण्यदर्शन आर्यपुत्र को प्रणाम निवेदित करती हुई धन्य हो जाती है :—

"नमो नमोऽपूर्वं पुण्यजनितदर्शनाभ्यामार्यपुत्रचरणकमलाभ्याम्"

इसी स्वर में सीता के वन्दनीय व्यक्तित्व का महासंगीत विलीन हो जाता है। धन्य है सतीत्व का यह आदर्श ! निर्वासन शल्य भी जिस प्रेम को नहीं बेध सका, निष्ठुरता भी जिसे नहीं डिगा सकी, जिसकी अवस्थाओं में कोई विपर्यय नहीं, वह प्रेम नहीं भक्ति है, शील नहीं शक्ति है, वह पातिव्रत्य की पराकाष्ठा है।

सीता के अनाविल शील का यही आदर्श उ० च० में मुख्य रूप से निरूपित हुआ है। यों नारीजन सुलभ अन्यान्य गुणों का दिव्योन्मेष भी उनके शील में यत्र तत्र दिखाई देता है किन्तु वह इतना अस्फुट और अनुभवगम्य है कि हम उसे सहसा देख नहीं पाते। चित्र दर्शन के समय ऊर्मिला को संकेत कर जब सीता लक्ष्मण से पूछती है कि 'वत्स इयमपरा का' तो वहाँ हमें उनके मंगलमय शील में परिहास प्रियता का भी कुछ आभास मिलता है। किन्तु यह भाग्य की विडम्बना ही कहिये कि सीता के जीवन में फिर कभी परिहास का कोई अवसर आया ही नहीं। ऐसा लगता है कि उनका जन्म ही कष्ट सहने के लिए बना था। उनका जो रूप यहाँ दिखाई देता है वह भी विरह व्यथा का मूर्त्त विग्रह ही है—"विरह व्यथैव वनमेति जानकी"[1]। कालिदास की "वसने परि धूसरे वसाना" शकुन्तला की विरह व्यथा से सीता की विरह व्यथा की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि शकुन्तला वहाँ मारीचाश्रम में अन्य सखियों के साथ अपने पुत्र का मुँह देखकर भी जी रही है, किन्तु सीता के दोनों बच्चे भी उनसे दूर कहीं अन्यत्र निवास करते हैं। पुत्र की बारहवीं वर्ष गाँठ पर जब वह स्वयं फूल चुनकर भगवान् सूर्य की आराधना करने पाताल से पृथ्वी पर आती है तो अपने कृतक पुत्र गज शावक को विपत्ति में देखकर उन्हें अपने प्यारे बच्चों की याद आ जाती है, उनकी सदियों सूखी छाती में वात्सल्य का मधुर उज्ज्वल क्षीर छलछला उठता है। वहाँ वह अपने बच्चों को आर्यपुत्र द्वारा चूमे जाने की अज्ञात अतृप्त कामना से सिहर उठती है :— "किंवा मयाप्रसूतया ? येनैतादृशं मम पुत्रकयोरीषद् विरलधवलदशनकुड्मलोज्वल-मनुबद्धमुग्धकाकलीविहसितं नित्योज्ज्वलं मुखपुण्डरीकयुगलं न परिचुम्बितमार्य-पुत्रेण[2]।"

सीता सहजभीत हृदया है, वह चित्र में भी परशुराम के रौद्ररूप को देखकर डर जाती है। सूर्पणखा वृत्तान्त को सुनते ही वह सहसा चिल्ला उठती है, पूर्व

१. उ० च०–३।४

२. वही, तृतीय अंक–पृष्ठ २३७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वनवास की पुनः सारी आशंका यहाँ सम्भावित सत्य बनकर उनके मन-मानस पर छा जाती है। अतएव सीता कहती है—'हा आर्यपुत्र ! एतावत्ते दर्शनम्'।

इसी प्रकार सीता के सौम्यशील में प्रकृति प्रेम भी देखा जा सकता है। वह राजभवन में रहकर भी पंचवटी की परिचित पावन वनगंगा में अवगाहन के लिए मचल उठती है। वहाँ तमसा (नदी) और वासन्ती (वनश्री) ही उनकी प्रिय सखियाँ हैं। मोर और हाथी के बच्चे ही उनके कृतक पुत्र हैं तथा वृक्षलता आदि उनके सखा परिजन हैं :—

यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि वन्धवो मे,
यानि प्रिया सहचरश्चिरमध्यवात्सम्।
एतानि तानि वहुकन्दरनिर्झराणि,
गोदावरी परिसरस्य गिरेस्तटानि[1]॥

इसी प्रकार सती सीता के शील में अन्यान्यगुणों का भी अस्तित्व देखा जा सकता है, किन्तु वे इतने अस्थायी और अव्यक्त हैं कि उसे हम स्थूल दृष्टि से नहीं देख सकते। वास्तव में भवभूति के उ० च० में सीता-चरित्र का समुचित विकास हुआ ही नहीं है। हम उसे व्यंजना से ही कुछ पकड़ सकते हैं। राम ने अपने विरहोच्छ्वासों में सीता के लिए कुछ विशेषणों का अत्यन्त सार्थक प्रयोग किया है उनसे भी उनके शील पर कुछ प्रकाश पड़ता है। राम ने सीता को "महारण्य-वासप्रियसखि", स्तोकवादिनि "प्रियजानकि", आदि विशेषणों से अभिहित किया है। "सखा प्राणसमो मतः" के अनुसार यहाँ सखि शब्द का प्रयोग हुआ है। अतएव सीता राम की प्रिय सखी है। सखा या सखी का व्यवहार अत्यन्त निश्छल विनोदपूर्ण, सरल, स्निग्ध और प्रीतिकर होता है। पत्नी से भी न कही जाने वाली बात व्यक्ति अपने सखा को अवश्य कहता है। प्रियतम के आगे प्रियतमा के कई रूप होते हैं। रघुवंशम् में महाकवि कालिदास ने प्रियतमा के गृहिणी सचिव, सखी, शिष्या आदि कई रूपों का उल्लेख किया है :—

गृहिणी सचिवः प्रिया सखी
प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ.....[2]।

सो सीता राम की प्रिय सखी है। किन्तु उनके सरल शील में सखी के सभी गुणों का रूप प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। उसका अनुमान ही लगाया जा सकता है।

राम ने सीता को 'स्तोकवादिनी' कहा है। वह मितभाषिणी है। वह वाल्मीकि तथा कालिदास की सीता के समान वावदूक नहीं है। कदाचित् इसीलिए

१. वही, ३।८
२. रघु०-८।६७, कालिदास

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan

वह अपने ऊपर किये गये समस्त अत्याचार को चुपचाप सह लेती है। यहाँ इस विशेषण में सीता के साधनामय जीवन एवं पवित्र शील की अभिव्यञ्जना हुई है। राम ने सीता को अन्यत्र कई जगह 'प्रिया' शब्द से भी सम्बोधित किया है। जो प्रियवचन बोले उसे प्रिया कहते हैं। प्रियवचन बोलने के कारण ही याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को प्रिया कहा है :—

'स हो वाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियपवृधवन्त·····[1]।'

नाटक के तृतीय अंक में वासन्ती ने सीता को कल्याणी शब्द से अभिहित किया है जिसके भाग्य से पति का कल्याण हो, उस पत्नी को कल्याणी कहा जाता है। वासन्ती ने इसी अर्थ में सीता को कल्याणी कहा है :—

त्वमेव ननु कल्याणि ! संजीवय जगत्पतिम्।
प्रियस्पर्शो हि पाणिस्ते तत्रैष निरतो जनः[2]॥

महाकवि कालिदास ने भी रघुवंशम् में सीता को कल्याणी कहा है। वनवास से लौटने पर सीता ने जब यह कहकर अपनी सासुओं के चरण छुए कि मैं ही पति को कष्ट पहुँचाने वाली कुलक्षणा हूँ :—

क्लेशावहा भर्तुलक्षणाऽहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती···[3]।

तो कौशल्या ने कहा—हे कल्याणि ! तुम्हारे ही पातिव्रत धर्म के प्रभाव से राम और लक्ष्मण इस भारी संकट से पार हुए हैं :—

उत्तिष्ठ वत्से ! ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या[4]॥

यद्यपि भवभूति का कहना है कि राम अपने अलौकिक सत्त्व और प्रजापुण्य से ही जीवित हैं, "लोकोत्तरेण सत्त्वेन प्रजापुण्यैश्च जीवति"[5]। किन्तु मेरा विनम्र विचार है कि भवभूति के राम कदाचित् कल्याणी सीता के सौभाग्य से ही बचे हुए हैं।

वस्तुतः भवभूति के उ० च० में राम और सीता के चरित का नाटकीय विकास हुआ ही नहीं है। फिर भी राम के शील की विशेषता सीता की सुवर्ण प्रतिमा बनवाकर यज्ञ करने में है और सीता के प्रेम की विशेषता लोक हित के लिए आत्मबलिदान में निहित है। यद्यपि इनके शील का यह आदर्श भी पूर्णतः प्रत्यक्ष नहीं हो सका है किन्तु अप्रत्यक्ष होने पर भी इनमें हृदय को झंकृत करने की जो विद्युतशक्ति है, वह अपूर्व है, लोकोत्तर है, चिर नमस्य है।

---

१. बृहदारण्यक०—४।५।५
२. उ० च०—३।१०
३. रघु०—कालिदास, १४।५
४. वही,—१४।६
५. उ० च० —७।७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अन्यान्य पात्र

जहाँ तक उ० च० में अन्यान्य पात्रों का सम्बन्ध है उनमें लक्ष्मण, जनक, वशिष्ठ, वाल्मीकि, अरुन्धती, कौशल्या, गंगा, पृथ्वी, तमसा, मुरला, शम्बूक तथा दुर्मुख आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, किन्तु इनमें एक भी पात्र ऐसा नहीं है जिसका चरित्र पूर्णतः स्पष्ट एवं स्फुट दीखता हो। इनमें अपेक्षाकृत कुमार लव का चरित्र कुछ स्पष्ट हुआ है। उनके शील में रघुवंशियों का अनुपम क्षात्र तेज और आश्रम जीवन की निर्भयता का अच्छा स्फुटन हुआ है। चन्द्रकेतु उदार और वीर है, लक्ष्मण आदर्श भ्रातृभक्त हैं, जनक कन्यावत्सल पिता हैं, वे पुत्री के निधन शोक से ऐसे जर्जर हो गये हैं जैसे किसी सूखे महावृक्ष के अन्दर आग धधक रही हो, "अन्तः-प्रसृमदहनोजरान्निव वनस्पतिः"। प्राचेतस वाल्मीकि परदुःखकातर सिद्ध तपस्वी हैं, वह रामायण के प्रणेता और पूर्णब्रह्म महर्षि हैं। क्रौंच पक्षी के निधन पर सहसा द्रवित होने वाले वाल्मीकि का ऐतिहासिक शील उ० च० में बिल्कुल तिरोहित ही प्रतीत होता है।

शम्बूक शूद्र तपस्वी है, वह अपनी तपस्या का फल प्राप्त कर राम को जंगल की खूब सैर कराता है। गंगा और पृथ्वी इन दो दिव्य नारी पात्रों का शील मातृमहिमा के समस्त आदर्शों से मंडित है। तमसा और मुरला सीता की सखी की तरह आचरण करती हैं। इनमें वासन्ती कुछ अधिक उग्र और सयानी है। जनस्थान में विरही राम को वह अपने तीखे उपालंभ से जर्जर कर देती है[1]। अरुन्धती और कौशल्या सीता के शोक में सिर्फ सहानुभूति के दो शब्द तथा ममता के दो अश्रुकण विसर्जित कर विदा हो गई हैं। दुर्मुख जो एक गुप्तचर है, उसका चरित्र एक कर्तव्य परायण, ईमानदार व्यक्ति के रूप में चित्रित हुआ है।

इस प्रकार भवभूति के उ० च० में अन्यान्य पात्रों का चरित्र भी अत्यन्त अस्पष्ट, अस्थायी किंवा नगण्य ही है।

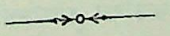

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय ६

रस-विमर्श

रस-सिद्धान्त एक अनुपम उपलब्धि

भारतीय साहित्य शास्त्र का सर्वाधिक मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण विषय रससिद्धान्त है। रस काव्य का सर्वस्व है—इसे भरतमुनि तथा आगे चलकर रस सम्प्रदाय के सभी मान्य वदान्य आचार्यों ने समवेतस्वर से स्वीकार किया है। भारतीय नाट्य-कला का तो यह प्राण ही है। समस्त नाटकीय विधियों एवं क्रियाकलापों का विनियोग रस के ही निमित्त होता है—"रसप्राणो हि नाट्यविधिः"। भरतमुनि के अनुसार भारतीय नाट्यकला में रस शून्य विधियों का न तो कोई स्थान है और न कोई प्रयोजन ही "न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्त्तते"[1]। निसन्देह भारतीय समीक्षा-शास्त्र का रस सिद्धान्त सम्पूर्ण विश्ववाङ्मय को भारतीय सौन्दर्य चेतना एवं दार्शनिक जीवनदृष्टि की एक दिव्य देन है।

रससिद्धान्त की परम्परा, भरत का योगदान

यद्यपि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि नाट्यशास्त्र के निर्माण के पूर्व रससिद्धान्त का परिचय या पता किसी को नहीं था, किन्तु इतना निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि रस को एक सुनिश्चित सिद्धान्त के रूप में सर्वप्रथम भरतमुनि ने ही नाट्यशास्त्र में उपन्यस्त किया। यद्यपि राजशेखर ने काव्यमीमांसा में आचार्य नन्दिकेश्वर का नाम रस के व्याख्याता के रूप में उल्लेख किया है "रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः" किन्तु दुर्भाग्य से आज नन्दिकेश्वर की कोई कृति हमें उपलब्ध नहीं है। अतः इन अनुपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कुछ इदमित्थं नहीं कहा जा सकता। यों भरत के नाट्यशास्त्र को देखने के बाद स्पष्ट हो जाता है कि भरत के पूर्व भी रससिद्धान्त की एक मौलिक एवं अविच्छिन्न परम्परा अवश्य ही विद्यमान रही होगी, जिसका भरत ने सारसंकलन कर तथा उसमें कतिपय नई मान्यताएँ जोड़कर उन्हें एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया। भरत के प्रबल समर्थक आचार्य अभिनव गुप्त ने भी स्वीकार किया है कि नाट्यशास्त्र में कई स्थानों पर पूर्वाचार्यों के ऐसे मत मिलते हैं जिनको मुनि ने यथास्थान अपने ग्रन्थों में विनिवेशित किया है "ता एता-ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैः लक्षणत्वेन पठिताः, मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथा-स्थानं निवेशिताः"[2]। किन्तु उन अशेष कीर्त्तिशेष आचार्यों की कोई कृति आज हमें

१. नाट्यशास्त्र—६।२१
२. अ० भारती—भाग १, पृ० ३२८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध प्रमाण के आधार पर हमारी साहित्यिक मान्यताएँ भरतमुनि को ही आद्य आचार्य मानती आयी हैं। भरतमुनि ने रस सिद्धान्त का निरूपण एवं विश्लेषण नाट्यकला के ही व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। 'अष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः' का स्पष्ट संकेत इसी तथ्य की ओर है। सामान्य काव्य के साथ रस सिद्धान्त की व्याख्या आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की ऐतिहासिक रचना के बाद प्रारम्भ हुई। किन्तु यहाँ भी रस की सर्वातिशयता एवं वरीयता सर्वत्र अक्षुण्ण है। आगे चलकर ध्वनिसम्प्रदाय के पक्ष एवं विपक्ष में यद्यपि अनेकों मतमतान्तर उठ खड़े हुए, किन्तु रस की प्रतिष्ठा सर्वत्र ही सबों ने समान रूप से काव्य सर्वस्व के रूप में की है। ध्वन्यालोक के प्रसिद्ध टीकाकार अभिनव गुप्त ने ध्वनि के त्रिविध रूपों को सामान्यतः काव्य की आत्मा मानकर भी रसध्वनि को ही सिद्धान्त रूप से काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है—'वस्तुतस्तु रसादिध्वनिरेव काव्यस्यात्मा, वस्त्वलंकारध्वनीतु रसादिध्वनिप्रतिपर्यवस्येते[1]'।

आनन्दवर्धन और रससिद्धान्त, कीथ का अभिमत

ध्वनिसिद्धान्त के प्रबल विरोधी आचार्य महिम भट्ट ने सामान्यतः ध्वनि का खंडन करते हुए भी रस को ही काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है—'काव्यस्यात्मनि संगिनि रसादिरूपे न कस्यचित् विमतिः[2]'। ध्वन्यालोक के बाद दृश्यकाव्य के अतिरिक्त श्रव्यकाव्यों पर भी रस का एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हो गया किन्तु नाट्यशास्त्र में कहीं भी भरतमुनि ने दृश्य और श्रव्य का वह भेद नहीं माना है जो आगे चलकर हमें विभिन्न लक्षण ग्रन्थों में दिखाई देता है। रुद्रट के काव्यालंकार में रस का विवेचन हुआ अवश्य है किन्तु उसके पूर्व रस नाट्य से ही सम्बद्ध माना जाता था। रस नाट्य का सर्वस्व एवं प्राणभूतधर्म था। कुशल अभिनेता के चतुर्विध अभिनयों के द्वारा जनगणमन का रंजन एवं रसोद्बोधन इसका लक्ष्य था। कहने का तात्पर्य यह है कि नाट्यशास्त्र में ही सर्वप्रथम सिद्धान्त के विवेचन प्रसंग में समस्त मानवीय संवेगों, प्रकृति एवं प्रवृत्तियों का मार्मिक एवं सुव्यवस्थित विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। ईसा की दूसरी सदी में रचित इस महाग्रन्थ में मानवमन का जो सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है वह आज भी आश्चर्यजनक रूप से अत्याधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों से मेल खाता है। आगे चलकर इस रससिद्धान्त को लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त आदि आचार्यों ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा पूर्णरूपेण उपबृंहित किया है। डा० कीथ का कथन है कि नाट्यशास्त्र

---

१. ध्वन्यालोक-लोचन—पृ० १०।

२. व्यक्तिविवेक।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

की सबसे मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रससिद्धान्त ही है, जिसका सामाजिक के मन में उद्रेक कराना नाटक का चरम लक्ष्य माना गया है[1]।

रस शब्द का ऐतिहासिक अर्थ तथा अन्न से आनन्द का अर्थ-विकास

जहाँ तक रस के ऐतिहासिक अर्थविकास का प्रश्न है, इस पर विद्वानों ने काफी विचार किया है। रस भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से है। वैदिक वाङ्मय में साहित्य के पारिभाषिक रस से भिन्न कई इतर अर्थों में रस शब्द के प्रकाम प्रयोग उपलब्ध होते हैं। इनके सूक्ष्म विवेचन एवं विश्लेषण से ज्ञात होता है कि साहित्यशास्त्र में रस शब्द का प्रयोग कदाचित् लाक्षणिक किंवा पारिभाषिक ही है। प्रारम्भ में रस का मूल अर्थ अन्न के षड्रस एवं वनौषधियों के द्रवभूत रस से ही सम्बन्धित था। किन्तु कालान्तर में वह वैदिकसूक्तों में बहुवर्णित उस सोमरस का पर्याय हो गया जिसके अमृतत्त्व एवं आह्लादकत्व का जयघोष सर्वत्र ही वैदिक ऋषियों ने अत्यन्त ही उच्छ्वसित वाणी में किया है। फलतः अर्थविकास के नियमानुसार आगे चलकर रस अमृत का पर्याय हो गया। इस प्रकार स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर निरंतर गतिशील भारतीय जीवनदृष्टि उपनिषद्-काल में आकर पूर्ण परिपक्व हो गयी। वैदिक सोमपीथियों का रस औपनिषदिक ऋषियों के यहाँ सच्चिदानन्द ब्रह्म का वाचक बन गया। अबतक जो कुछ भी ऐन्द्रियता एवं पार्थिव गन्ध का लवलेश था—उपनिषदकाल में आकर उसका एकदम तिरोभाव हो गया। यहाँ [अन्न आनन्द में परिणत हो गया, और रस ब्रह्मानन्द का वाचक बन गया[2]। इस प्रकार अन्न रस से लेकर ब्रह्म रस तक का आध्यात्मिक अर्थविकास भारतीय सौन्दर्य चेतना एवं दार्शनिक जीवन दृष्टि की एक महत्तम उपलब्धि है। किन्तु रस के इस लोकोत्तर आस्वाद में उक्त भौतिक एवं ब्राह्म दोनों प्रकार के आस्वादों का समन्वित योगदान रहा है, इस ऐतिहासिक सत्य का अपलाप नहीं किया जा सकता।

'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसका आस्वादन हो उसे रस कहा जाता है। निश्चय ही इस व्युत्पत्ति के व्यापक आयाम में रस-रसाभास, भाव-भावाभास, संधिः, शबलता आदि का भी समावेश हो जाता है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रस को आस्वाद्य मानकर ही व्याख्यान किया है, 'यथा हि नाना-व्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथा हि गुडादिद्रव्यैर्व्यंजनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निवर्त्तन्ते, तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नु-

१. संस्कृत ड्रामा—डा० ए० बी० कीथ—पृ० ३१६।
२. तैत्तरीयोपनिषद्—रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति—२ ढ

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

वन्ति[1]'—अर्थात् जिस प्रकार नाना द्रव्यों के संयोग से भोज्यरस की निष्पत्ति होती है, गुडादिद्रव्यों और औषधियों से पांडवादिरस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायीभाव रसरूप को प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार रस आस्वाद्य ही सिद्ध होता है, यह अनुभूति का विषय है। अर्थात् रस विषयिगत नहीं, विषयगत तत्त्व है। भरतमुनि के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारीभाव से संयुक्त तथा चतुर्विध अभिनयों से व्यंजित स्थायी भाव ही रस है[2]। स्पष्टतः रस की उपर्युक्त व्याख्या रस को विषयगत मानकर ही उपपन्न हुई है। किन्तु आगे चलकर भरत के व्याख्याकारों ने रस को विषयिगत मानकर ही व्याख्यान किया है—यहाँ रस आस्वाद्य से आस्वाद हो जाता है। इस अर्थपरिवर्त्तन का पूरा दायित्व अभिनवगुप्त पर है। अभिनवगुप्त शैवाद्वैत के प्रतिष्ठित आचार्य थे, उन्होंने अपनी दार्शनिक मेधा के द्वारा सम्पूर्ण रस-विमर्श को शैवाद्वैत की भूमिका में प्रस्तुत कर व्याख्यान किया है, उनके अनुसार रस का अर्थ है आनन्द और आनन्द विषयगत न होकर विषयिगत ही होता है, विषय तो आत्मपरामर्श या आत्मस्वाद का माध्यम है जिसके द्वारा प्रमाता संविद्विश्रान्ति लाभ करता है। उनके अनुसार यही आत्मविश्रान्तिमयी आनन्दचेतना रस है[3]। आगे चलकर अभिनव से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक रस का यही विषयिगत स्वरूप स्वीकार किया गया है। विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में अभिनव गुप्त के ही आधार पर रस स्वरूप विषयक इस व्याख्यान का सारसक्षेप प्रस्तुत किया है :—

सत्वोद्रैकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारः प्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः[4]॥

अर्थात् नाट्यकाव्य के दर्शन श्रवण काल में सहृदय सुधीजन सत्वगुण के उद्रेक की स्थिति में उस अलौकिक, चिन्मय एवं ब्रह्मास्वाद सहोदर काव्यानन्द का अपने स्वरूप से अभिन्न रीति से आस्वादन करते हैं। इस उद्धरण का प्रत्येक शब्द व्याख्यासापेक्ष है। सर्वप्रथम सत्वगुण के उद्रेक की स्थिति में ही रस का आस्वादन होता है। सांसारिक राग द्वेष से मुक्त चित्त का वैशद्य ही सत्वगुण की स्थिति है[5]।

---

१. ना० शा० पृ० ७१
२. वही, पृ० ७१
३. अ० भा०—आचार्यविश्वेश्वर—पृ० ४८३
४. साहित्यदर्पण—विश्वनाथ—३।२।३
५. वही, 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते', पृ० ६६—उद्धरण; तृ० परि०।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यह सांसारिकता एवं ऐन्द्रियता से भिन्न एक पराकोटि की अवस्था है। अतएव अन्तःकरण की इसी सत्वावस्था में रसास्वादन होता है।

पुनः रस को अखण्ड कहने का तात्पर्य यह है कि रसानुभूति में विभावादिकों की पृथक् अनुभूति नहीं होती, बल्कि सबकी एकान्वित अनुभूति होती है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इसे ही 'प्रपाणकरस' की संज्ञा से स्पष्ट करने का प्रयास किया है[1]। रस एक लोकोत्तर अनुभूति है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष, परोक्ष-ज्ञाप्य आदि सभी प्रकार की प्रतिपत्तियों एवं अनुभूतियों से भिन्न है। यद्यपि काव्य लोक की वस्तु है, फिर भी रसानुभूति लौकिक अनुभूति से सर्वथा विलक्षण एवं भिन्न है। प्रत्यक्ष जीवन में जो दुष्यन्त एवं शकुन्तला का प्रेम है—वह लौकिक है—वह जागतिक कुरूपताओं के दंश से मलिन एवं अग्राह्य है, किन्तु काव्य या नाटक में निवद्ध दुष्यन्त और शकुन्तला का जो चित्र हमारे मानस में बनते हैं—वह उनसे भिन्न हैं। वह पूर्णतः भावजगत् का अर्थ है जो सर्वथा अलौकिक एवं भावगम्य है। इसी अर्थ में काव्यानुभूति को लोकोत्तर कहा जाता है।

रस का आस्वादन अपने स्वरूप से अभिन्न रीति से होता है। इसका तात्पर्य यह है कि रस स्वरूपतः आस्वाद रूप ही है, आस्वाद्य पदार्थ नहीं, फिर भी व्यवहार में उपचार से 'रस का आस्वादन किया जाता है 'ऐसा प्रयोग किया जाता है। रस को ब्रह्मास्वाद सहोदर कहने का अभिप्राय यह है कि विषयानन्द से सर्वथा भिन्न आत्मचैतन्य का विषय होता है फिर भी यह शुद्ध आत्मानन्द नहीं क्योंकि ब्रह्मानन्द एक स्थायी एवं सर्वथा लोकोत्तर अनुभूति है और उसकी तुलना में काव्य रस निश्चय ही अस्थायी होता है. इसमें लौकिक विषय का आत्यन्तिक क्षय या तिरोभाव नहीं होता। अतः रसानुभूति ब्रह्मानन्द नहीं, बल्कि प्रकृतिसाम्य के कारण तत्तुल्य माना जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि रसानुभूति एक अलौकिक आनन्द चेतना है। इसमें लौकिकता एवं ऐन्द्रियता का प्रायः अभाव ही रहता है। लौकिक भाव काव्यनिबद्ध होकर अपना स्थूल एवं ऐन्द्रियरूप त्यागकर सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं, देशकाल की सीमा से मुक्त होकर साधारणीकृत हो जाते हैं। परिणामतः वे प्रमाता के प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं होते। साधारणीकृत होने के कारण वे अपनी संसर्गमर्यादा से प्रमाता को भी व्यक्तिगत रागद्वेष से मुक्तकर देते हैं। अतएव कवि निवद्ध भावों के माध्यम में प्रमाता को जो आत्म परामर्श या संविद्विश्रान्ति उपलब्ध होती है, उसमें स्थूलता एवं ऐन्द्रियता का अभाव ही रहता है। फिर भी

---

१. सा० द०—विश्वनाथः—

प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणरसो भवेत्—३।१५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यह आनन्द शुद्ध आत्मानन्द नहीं, क्योंकि न तो यह स्थायी ही होता है और न तो शुद्ध आत्मानन्द की तरह इसमें लौकिक विषयों का एकान्तिक अभाव ही हो पाता है। अतएव शब्दार्थ के माध्यम से, चित्त की विशुद्ध भावभूमि में आत्मचैतन्य के आस्वादन का नाम रस है।

रस का मूलाधार

रस का मूलाधार भाव है। भाव की भूमिका के बिना रसानुभूति संभव नहीं हो सकती—ऐसा प्रायः सभी आचार्य स्वीकार करते हैं। अलंकारवादी आचार्य भी रस को भाव पर ही आश्रित मानते हैं। यद्यपि वे रस को काव्य की आत्मा नहीं मानते—वे रस को भी शब्दार्थ के चमत्कार का ही अंग मानते हैं, फिर भी वे विभाव अनुभाव और संचारीभाव के संयोग से ही रस की निष्पत्ति मानते हैं। अतः रस एवं भाव का अनिवार्य एवं अविच्छिन्न सम्बन्ध है। भरतमुनि ने विस्पष्ट रूप से भाव को ही समस्त रसों का मूल बताया है—'न भावहीनोऽस्ति रसः न भावो रसवर्जितः'[1]।

रस और भाव का संबन्ध

यद्यपि रस और भाव का अविच्छेद्य सम्बन्ध है फिर भी रसानुभूति भावानुभूति से भिन्न है। इसका कारण स्पष्ट है। भावानुभूति के मूल में व्यक्तिगत रागद्वेष का लौकिक संसर्ग अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है और यह संसर्ग जब तक बना रहेगा तबतक चित्त की सत्वावस्था या मुक्तावस्था असंभव है। क्योंकि हृदय की सात्विक स्थिति में ही रसोद्रेक होता है। रस व्यक्तिगत भाव का आस्वाद नहीं है। जब व्यक्तिगत भाव साधारणीकृत होकर सार्वभौम एवं सर्वसामान्य हो जाते हैं तभी सहृदय को रसानुभूति होती है। साधारणीकृत भाव निर्विषय होने के कारण राग-द्वेष के पार्थिव वंश से मुक्त होकर आनन्दमय हो जाता है। अतएव रसानुभूति के लिए भाव का माध्यम अनिवार्य एवं अपरिहार्य है।

भाव का स्वरूप

भावमानसिक संस्कार विशेष का नाम है। नानाविध अभिनयों से सम्बद्ध रसों को सहृदयों को भावित कराने के कारण ये भाव कहे जाते हैं[2]। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने इस प्रसंग में तीन आनुवंश्य श्लोकों को भी उद्धृत किया है—इससे जान पड़ता है कि विभाव द्वारा आहृत अर्थ को अनुभावादि द्वारा प्रतीति योग्य कराने के कारण, कवि के हृदयस्थित भाव को अभिनयादि द्वारा भावना का विषय बनाने के कारण, और विविध अभिनयों से सम्बन्ध रखने वाले रसों को सुवासित

१. ना० शा०—६।३७
२. वही, ७।१।३

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

या रंजित करने के कारण ये भाव कहे जाते हैं[1]। इस प्रकार भाव की तीन स्थितियाँ सामने आती हैं—(क) विभावद्वारा आहृत अर्थ को सहृदय की भावना का विषय बनाने का काम भाव का है। (ख) कवि के अन्तर्गत भाव को सहृदयों को प्रतीति योग्य कराने का काम भाव ही करता है। (ग) नानाविध अभिनयों से सम्बन्धित रसानुभूति को सुवासित या रंजित करने का काम भी भाव ही करता है। इस प्रकार भाव कवि के चित्त में स्थित भावों को प्रतीतियोग्य बनाता है, विभावद्वारा आहृत अर्थ को भावनीय बनाता है और सहृदय के हृदय में वासना रूप से स्थित इत्यादि स्थायीभाव को भावित, वासित या रंजित करता है। भाव केवल पात्रों की मानसिक अवस्था ही नहीं, बल्कि कवि के हृद्गत भावों की प्रतीति के भी साधन हैं। अनुकार्य रामादि पात्रों की मनःस्थिति के साथ सहृदय के मनोभावों का सामंजस्य स्थापन और उनके अन्तःकरण में प्रसुप्त स्थायीभाव को बहुविध रंगों तथा वर्णोंसे रंजित करके अधिक उपभोग्य बनाने के भी साधन हैं। अतएव जो रस का भावन करें वे भाव कहे जाते हैं।

नाट्यरसों के आठ प्रकार तथा शान्त रस

मूलतः भाव के अन्तर्गत स्थायी संचारी के साथ विभाव और अनुभाव भी आते हैं, किन्तु आगे चलकर भाव का प्रयोग सामान्यतः स्थायी और संचारी के लिए ही होने लगा। 'पृथक् भावाः भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्विकाः'[2]। अतः ये भाव दो ही प्रकार के होते हैं—स्थायीभाव और संचारीभाव। जो प्रशान्त सरोवर में लघु लोल लहरियों की भांति सहृदयों के हृदय में उद्बुद्ध होकर क्षण में ही विलीन हो जाते हैं—उसे संचारी भाव कहते हैं[3]। इनकी संख्या तैंतीस मानी गई है। किन्तु जो भाव अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं—अर्थात् रसास्वादन के अन्तिम क्षण तक ठहरने वाले होते हैं और हृदय को सराबोर करने वाले होते हैं—वे स्थायी कहे जाते हैं। धनंजय ने इसकी तुलना समुद्र से की है—जिस प्रकार खारे समुद्र में मिलकर सभी वस्तुएँ नमकीन हो जाती हैं उसी प्रकार स्थायीभाव के मेल से अन्यभाव भी तद्रूप

---

१. ना० शा०—

विभावैराहृतो योऽर्थः अनुभावैस्तु गम्यते।
वागंगसत्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥७।१॥
वागंगमुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥
नानाभिनयसंबंधान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमीभावां विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥७।३॥

२. दशरूपक—४।४—पृष्ठ १२४

३. वही, पृष्ठ ४।७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हो जाते हैं[1]। यही स्थायीभाव सभी रसों का मूलाधार है। भरतमुनि ने स्थायी-भाव आठ प्रकार का स्वीकार किया है[2]। इन आठ स्थायीभावों की परिणति के अनुसार क्रमशः आठ नाट्य रस भी माने गये हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्‌भुत। आगे चलकर शान्तरस को भी नवाँ रस घोषित किया गया है जिसका स्थायी भाव शम माना गया है, 'निर्वेदः स्थायीभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस':[3]। यद्यपि धनंजय ने दशरूपक में समस्त व्यापार प्रविलय स्वरूप शान्त रस को अनभिनेय मानकर अभिनय प्रधान रूपकों की सीमा से निकाल बाहर किया है,[4] किन्तु जगन्नाथ ने रसगंगाधर में अनेक युक्तियों के आधार पर शान्त रस को भी शृंगार वीर की भांति सर्वथा अभिनेय सिद्धकर नाटकों में भी इसकी प्राणप्रतिष्ठा की है[5]। वस्तुतः नाटकों में रस की अभिनेयता या प्रधानता कलाकार की प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति पर ही आधारित होती है, अन्यथा उत्तररामचरित जैसे करुणरस प्रधान नाटक की रचना संभव नहीं हो सकती थी। अस्तु, यही नौ स्थायीभाव विभावादिकों से परिपुष्ट होकर नौ प्रकार के रसों में परिणत हो जाते हैं।

रस-निष्पत्ति

किन्तु रसदशा की प्राप्ति के पूर्व इसका जागरित तथा उद्दीप्त होना अत्यावश्यक है। यह कार्य विभाव के द्वारा होता है। सहृदयों के हृदय में अनादिकाल से प्रसुप्त रत्यादि स्थायिभाव को अंकुरित एवं आस्वाद के योग्य बनाने का काम विभाव का है, 'विभाव्यन्ते आस्वादांकुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिक रत्यादिभावा एभिरितिविभावाः'[6]। स्थायीभाव के अतिरिक्त संचारीभाव को भी जागृत करनेवाला यही विभाव है। स्थायीभाव को रसदशातक पहुँचाने में विभाव के बाद योगदान देने वाला दूसरा तत्व अनुभाव है। यह विभाव द्वारा आहृत अर्थ को भावनीय बनाता है और सहृदय के हृदय में वासना रूप से स्थित रत्यादि भाव को भी भावित एवं रंजित करता है, ये अनुभाव भ्रूविक्षेप रोमांच, स्वरभंग आदि शारीरिक विकारों के रूप में प्रकट होते हैं। इसके अतिरिक्त वे भाव जो रत्यादि स्थायीभाव

---

१. दश०— विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥४।३४

२. ना० शा०— रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥६।१७

३. का० प्र०—४।

४. दश०— शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाटयेषु नैतस्य ॥४।३५

५. रस० प्रथम आनन—पृष्ठ ३६, नि० सा० प्रेस-१९४७

६. साहित्यदर्पण—३।३२ पृष्ठ ८९

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

को उपचित करने के उद्देश्य से कुछ कालतक संचरण कर लीन हो जाते हैं उसे संचारीभाव कहा जाता है। इस प्रकार यही विभाव, अनुभाव और संचारीभाव मूल स्थायीभाव को रस दशातक पहुँचाने में सहायक होते हैं। इन्हीं तीनों का स्थायीभाव से संयोग होने पर रस की सम्यक् निष्पत्ति होती है। 'विभावानुभाव-संचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'[1] यह भरतमुनि का प्रसिद्ध रससूत्र है। इस रस सूत्र में 'प्रयुक्त संयोग और निष्पत्ति इन दो पदों' की कोई स्पष्ट व्याख्या भरत के नाट्यशास्त्र में नही मिलती। अतः आगे चलकर विभिन्न आचार्यों ने इन दो पदों की व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोण से प्रस्तुत की है। परिणामतः रस निष्पत्ति प्रकार में कई सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो गये। इनमें भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद, शंकुक का अनुमिति-वाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद तथा अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद का सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं। भारतीय रससिद्धान्त के ये चार गौरवस्तम्भ हैं। किन्तु दुर्भाग्य से आज लोल्लट, शंकुक एवं भट्टनायक की मूल कृतियाँ अनुप-लब्ध हैं। इनका संक्षिप्त एवं छिटफुट उल्लेख हमें अभिनवगुप्त की अभिनव भारती, ध्वन्यालोक-लोचन, मम्मट के काव्यप्रकाश तथा जगन्नाथ के रस गंगाधर में मिलता है। इन चार रससिद्धान्तों में अभिनव का अभिव्यक्तिवाद का सिद्धान्त ही आज साहित्य संसार में अधिक पूज्य है।

अभिव्यक्तिवाद

अभिव्यक्तिवाद के अनुसार मनुष्य जन्मजन्मान्तरों में भी जिन भावों का अनुभव करता है वे संस्कार रूप से उसके हृदय में विद्यमान रहते हैं। किन्तु इस रूप में उन भावों का अनुभव मनुष्य को नहीं होता है क्योंकि आत्मा के ऊपर अविद्या का आवरण पड़ा रहता है। अतः नाट्यकाव्य-दर्शन श्रवण काल में निपुणनटों के चतुर्विध अभिनयों के द्वारा विभावादिकों के प्रदर्शन से अविद्या का आवरण हट जाता है और वे परम्परागत अनुभूति मूलक संस्कार साधारणीकृत होकर आत्मा के चैतन्यालोक में अभिव्यक्त हो जाते हैं[2]। इस आत्म प्रकाश में परम्परागत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति रसानुभूति कहलाती है। इस प्रकार परम्परागत संस्कार स्वरूप स्थायीभाव और आत्म-चैतन्य के संयोग से अलौकिक रस की निष्पत्ति होती है जो लोकोत्तर एवं ब्रह्मास्वाद सहोदर होता है। अभिनव का यह रससिद्धान्त काव्यानन्द मात्र के मूल में स्थित व्यंजना के सामान्य सिद्धान्त पर आधारित है। काव्य के अनुशीलन एवं नाटकीय अभिनयों के प्रेक्षण से उद्-बुद्ध रत्यादि सनातन भाव साधारणीकृत होकर विलक्षण एवं आनन्दमय हो जाते

१. ना० शा०—षष्ठ अध्याय—पृ० ७१।
२. द्रष्टव्य—रसगंगाधर—पृ० २६।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हैं। इसमें स्वगतत्व का अनिवार्यतः अभाव रहता है, इसका वैशिष्ट्य स्वनिरपेक्ष आनन्द है जो लौकिक दंश से सर्वथा मुक्त एवं अलौकिक होता है। यद्यपि विभावादिकों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती अवश्य है किन्तु रसानुभूति के समय विभावादिकों की पृथक अनुभूति नहीं होती—वह इसके पृथक् आस्वाद से सर्वथा भिन्न एवं विलक्षण होता है। रस की इसी विशेषता के कारण काव्य में वीभत्स, करुण, भयानक आदि रसों का समावेश किया गया है। यद्यपि वास्तविक जीवन जगत् में जुगुप्सा, भय, शोक आदि भाव किसी भी तरह आनन्ददायक नहीं होते, किन्तु काव्य में ये ही भाव साधारणीकृत रूप में संप्रेक्षित होने पर अलौकिक आनन्द की अनुभूति कराते हैं। इसलिए रस को अनिर्वचनीय और लोकोत्तर तथा ब्रह्मास्वाद सहोदर कहा जाता है। इस प्रकार अभिनव के रस विवेचन की मौलिक उपलब्धि रस की समष्टिगत योजना तथा व्यंजना व्यापार की अपूर्व कल्पना है।

नाटक में अंगीरस की समीक्षा

जहाँ तक नाटकीय रसों का प्रश्न है, नाटक में प्रायः सभी रसों की योजना की जा सकती है। नाटक में आधिकारिक इतिवृत्त के अंगीरस के रूप में यद्यपि शृंगार और वीर रस को ही शास्त्रीय एवं व्यावहारिक मान्यता प्राप्त है,[1] फिर भी यह कोई सार्वत्रिक नियम नहीं प्रतीत होता है—कदाचित् नाटकीय परम्परा को देखकर ही विश्वनाथ ने ऐसी घोषणा की है। धनंजय ने दशरूपक में केवल शान्तरस को ही अनभिनेय मानकर प्रतिषेध किया है[2]। इससे सूचित होता है कि धनंजय के अनुसार केवल शान्तरस को छोड़कर शेष सभी रस अंगीरस के रूप में भी संघटित किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त रसगंगाधरकार ने तो शान्त रस को भी सर्वथा अन्य रसों की भाँति अभिनेय मानकर अंगीरस के रूप में प्रतिष्ठित करने का समर्थ तर्क प्रस्तुत किया है[3]। उदाहरणस्वरूप प्रबोधचन्द्रोदय में शान्तरस तथा उत्तररामचरितम् में करुण रस को अंगीरस के रूप में निःसंकोच भाव से प्रतिष्ठित किया गया है। अस्तु, नाटक में अंगीरस की प्रतिष्ठा नाटककार की प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति पर निर्भर करती है। जहाँ तक गौण रसों का प्रश्न है, नाटक में सभी रस अंग रूप में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। हाँ, उपसंहार में मुख्य रूप से अद्भुत रस की योजना आवश्यक मानी गयी है[4]। कदाचित् पाठकों की कुतूहलवृत्ति की

---

१. सा० द०— एक एव भवेदंगी शृंगारो वीर एव वा।
अंगमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ६।१०

२. दश०— शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाटयेषु नैतस्य ४।३५

३. रसगंगाधर— प्रथमानन-पृष्ठ ३६-नि० सा० प्रेस १९४७

४. दश०— अंगमन्येरसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ३।३३

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रक्षा तथा कथानक की जटिलता को सुलझाने के लिए नाटकान्त में किसी अलौकिक दृश्य की कल्पना सुविधाजनक होती है—इसलिए प्रायः सभी नाटककारों ने निर्वहण सन्धि में अनिवार्यतः अद्भुत रस का समावेश किया है। इसके अतिरिक्त नाटक में अधिक रसों का समावेश अंगांगिभाव से ही किया जाता है। नाटक में एक से अधिक रसों के स्वतन्त्र विकास से नाटक की एकान्विति खंडित हो जा सकती है तथा नाटकीय व्यापार भी कई असबद्ध खण्डों में छिन्न-भिन्न हो सकते हैं—इसलिए अंगीरस के स्वाभाविक विकास को सदा ध्यान में रखकर ही अंगभूत रसों की कलात्मक योजना की गयी है—जो निस्सन्देह भारतीय सौन्दर्य चेतना की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जा सकती है।

भवभूति की रस-क्षमता

भारतीय रससिद्धान्त की इस शास्त्रीय पृष्ठभूमि में उत्तरचरित में भवभूति की रसात्मक क्षमता एवं वैशिष्ट्य का नाटकीय मूल्यांकन प्रस्तुत करना यहाँ अभिप्रेत है। काव्य या नाटक में सामान्यतः रस की सम्यक् निष्पत्ति एवं उसकी समर्थ अभिव्यक्ति के लिए कवि में भावानुभूति की स्वच्छता, गम्भीरता एवं तीव्रता के साथ अभिव्यक्ति की सशक्तता भी अनिवार्य मानी जाती है। राजशेखर ने इसे ही कवि की कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा की संज्ञा प्रदान की है[1]। साधारणतः जो कवि जीवन की गहराई में जितना ही अधिक निमग्न होगा, उसका अन्तर्जगत् उतना ही संवेदनशील एवं भावप्रवण होगा। कवि के हृद्गत भाव ही समर्थ शब्दावलियों के द्वारा अभिव्यक्त होकर काव्य नाटक में निबद्ध होते हैं। नीरस हृदय से सरस वाणी का उद्रेक नहीं हो सकता। भवभूति जीवन और साहित्य में पूर्णतः दीक्षित थे। उनका भावजगत् जितना ही सान्द्र एवं तरल है उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही सशक्त, उर्ज्वस्विल एवं हृदयग्राही है। कदाचित् विशाखदत्त को छोड़कर सामान्यतः कालिदासोत्तरकालिन संस्कृत नाटककारों के भावपक्ष एवं कलापक्ष में कोई संतुलन नहीं दीख पड़ता—किन्तु भवभूति के महाप्राण व्यक्तित्व एवं महाकवित्व का वैशिष्ट्य उनके कलापक्ष एवं भावपक्ष के सहज संतुलन में निहित है। जैसा ही उनका भावपक्ष विराट् एवं गम्भीर है, सान्द्र एवं तरल है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए उनके पास तदनुभावी शब्दों का भंडार भी वैसा ही विपुल एवं समृद्ध दिखाई देता है। चाहे करुण हो या शृंगार, बीभत्स हो या भयानक, वीर हो या रौद्र—इन सभी रसरूपों की सम्यक् सृष्टि के लिए भवभूति के पास चित्रात्मक भावनाओं तथा समर्थ पदावलियों का अक्षय स्रोत विद्यमान है। भवभूति की भाषा एवं शैली का विवेचन आगे स्वतन्त्र रूप से किया जायगा।

१. का० मी०।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अंगीरस का विवेचन

साधारणतः कोई कवि या नाटककार किसी एक ही रस के क्षेत्र में सिद्धहस्त दिखाई देते हैं। स्वयं महाकवि कालिदास भी मूलतः शृंगाररस के अतिरिक्त किन्हीं अन्य रसों की स्वतन्त्र निष्पत्ति में पूर्ण समर्थ नहीं हो सके, किन्तु भवभूति ने वस्तु एवं भाव के अनुरूप ही म० च० में वीररस, मा० मा० शृंगार रस तथा उ० च० में करुण रस की सर्वसमर्थ एवं अपूर्व योजना प्रस्तुत की है। जहां तक संस्कृत नाटकों में अंगीरस का प्रश्न है, उसमें केवल शृंगार एवं वीर रस को ही शास्त्रीय एवं व्यावहारिक मान्यता प्राप्त है[1]। भास से लेकर भवभूति तक बिना किसी अपवाद के प्रायः सभी मान्यवदान्य कलाकारों ने अपनी नाट्यकृतियों में शृंगार अथवा वीर रस को ही अंगीरस के रूप में प्रतिष्ठित किया है। स्वयं भवभूति ने भी अपनी दो नाट्यकृतियों में क्रमशः वीर एवं शृंगार का सफल प्रयोग कर इस परम्परा का अनुवर्त्तन किया है। किन्तु उ० च० में भवभूति ने शास्त्र एवं परम्परा के विरुद्ध करुण रस को अंगीरस के रूप में प्रतिष्ठित कर अपने साहित्यिक सत्साहस का परिचय दिया है। संस्कृत नाट्य साहित्य की विशाल परम्परा में भवभूति का यह विलक्षण भाववादी दृष्टिकोण निश्चय ही आज तक साहित्यिक विवाद का एक मनोरंजक विषय बना हुआ है। यों प्रायः सभी समालोचकों ने उ० च० में करुण रस को ही अंगीरस मानकर भवभूति को करुणरस का महान् उद्गाता उद्घोषित किया है। 'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते' आदि शिष्ट वाक्य प्राचीन आलोचना सिन्धु से निकले उज्ज्वल रत्न हैं। किन्तु कुछ लक्षणैकचक्षु परम्परावादी आलोचकों ने यहाँ करुणविप्रलम्भ को अंगीरस सिद्ध करने का भी व्यर्थ प्रयास किया है[2]। उ० च० में करुण विप्रलम्भ को अंगीरस मानने वाले समालोचकों के व्याख्यान का सार संक्षेप यह है कि इसकी आधिकारिक कथावस्तु में गम्भीर एवं व्यापक विप्रयोग के बाद नाटक के अन्त में नायक और नायिका का पुनर्मिलन हो जाता है, अतः इसे विप्रलम्भ मानना ही न्यायोचित है। जिस प्रकार शाकुन्तल एवं मेघदूत की कथा में प्रेमी और प्रेमिका के दुःसह वियोग के बाद पुनर्मिलन हो जाने के कारण विप्रलम्भ को अंगीरस के रूप में स्वीकार किया जाता है, ठीक उसी प्रकार उ० च० में भी नायक और नायिका के सुदीर्घ वियोग के बाद पुनर्मिलन हो जाने के कारण विप्रलम्भ को ही अंगीरस मानना उचित प्रतीत होता है। ठीक इसके विपरीत करुण रस की कथा दुःखान्त होती है, इसमें नायक और नायिका के पुनर्मिलन की आशा एवं आकांक्षा का सर्वथा उच्छेद हो जाता है। अतएव यह अभावात्मक,

१. सा० द०—एक एव भवेदंगी शृंगारो वीर एव वा—६।६
२. द्रष्टव्य—उत्तररामचरितम् की भूमिका—टीकाकार—ब्रह्मानन्द शुक्ल-साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ—१०६३

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निरपेक्ष एवं निरवधि माना जाता है[1]। यद्यपि विप्रलम्भ में भी करुण रस की तरह वेदना एवं अनुभूति का, आवेग एवं विकलता का तीव्र दंश समान रूप से विद्यमान रहता है, फिरभी विप्रलम्भ का अन्तिम स्वरूप सुखद एवं उल्लासपूर्ण होता है, जबकि करुण ठीक इसके विपरीत शोक पर्यवसायी होता है[2]। उ० च० की आधिकारिक कथावस्तु में सुदीर्घ वियोग के बाद पुनः नाटक के अन्त में नायक और नायिका का उत्सवपूर्ण मिलन दिखाई देता है, अतः यहाँ विप्रलम्भ को अंगीरस मानने में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त उ० च० में विप्रलम्भ को अंगीरस मान लेने से शास्त्र एवं परम्परा का निर्वाह भी आसानी से संभव हो जाता है। भवभूति ने उ० च० के पूर्व म० च० तथा मा० मा० में क्रमशः वीर एवं शृंगार को अंगीरस के रूप में प्रतिष्ठितकर शास्त्र एवं परम्परा का परिपालन किया है, फिर उ० च० जैसी श्रेष्ठ नाट्यकृति में नाटककार को शास्त्र एवं परम्परा के विरुद्ध करुण रस को अंगीरस के रूप में प्रतिष्ठित करने का कोई प्रबल कारण भी नहीं दिखाई देता, अतः शास्त्र एवं परम्परा के अनुसार उ० च० में विप्रलम्भ को ही अंगीरस मानना समीचीन होगा।

करुण एवं विप्रलम्भ करुण

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन में यह स्पष्ट हो जाता है कि उ० च० में अंगीरस के निर्णय में समालोचकों के दो भिन्न पक्ष हैं। जहाँ एक पक्ष शास्त्र एवं परम्परा की दुहाई देकर "विप्रलम्भ" को अंगीरस सिद्ध करता है, वहाँ दूसरा पक्ष शास्त्र एवं परम्परा के आधार पर उतनी ही निष्ठा एवं सहानुभूति के साथ "करुण" को अंगीरस स्वीकार करता है। अतः यहाँ विचारणीय है कि वस्तुतः उ० च० का अंगीरस क्या है—करुण अथवा करुण विप्रलम्भ? इसे शास्त्रीय सिद्धान्त तथा सहृदय हृदय की स्वीकृति के आधार पर समझना समीचीन होगा।

करुण विप्रलम्भ की शास्त्रीय समीक्षा

जहाँ तक करुण एवं विप्रलम्भ की मूल प्रकृति का प्रश्न है, निसन्देह दोनों एक दूसरे से प्रकृति एवं प्रभाव में भिन्न हैं। आचार्य भरत ने करुण रस को शोक नामक स्थायीभाव से समुद्भूत माना है और विप्रलम्भ जो शृंगार का ही अन्यतम रूप है

---

१. करुणस्तु शापक्लेशविनिपातनेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धनसमुत्थो निरपेक्षभाव औत्सुक्य-चिन्तासमुत्थः। सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणः, अन्यश्च विप्रलम्भः॥
ना० शा०—षष्ठ अध्याय, पृ० ७३

२. शोकस्थायितयाभिन्नो विप्रलम्भादयं रसः।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः सम्भोगहेतुकः॥—सा० द० ३।२२१

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उसे रति संभूत स्वीकार किया है[1]। साहित्यदर्पणकार के अनुसार अभीष्ट वस्तु का नाश तथा अनिष्ट की प्राप्ति आदि के कारण समुद्भूत चित्त की विकलता ही शोक है और मनोनुकूल अर्थ के प्रति सहृदय की रागात्मक आसक्ति तथा प्रेमार्द्रता रति कहलाती है[2]। भरतमुनि शृंगार का दो भेद मानते हैं—संभोग और विप्रलम्भ[3]। इसमें शृंगार का संभोगात्मक रूप दो परस्पर आसक्त हृदयों के रागात्मक सम्बन्ध पर आधारित होने के कारण सापेक्ष एवं भावात्मक होता है। इसमें आह्लाद, शान्ति और तृप्ति के भाव निरन्तर तरंगित होते रहते हैं। अतः शोक के साथ संभोगात्मक रति का सामंजस्य नहीं हो सकता। अवश्य ही विप्रलम्भ की कुछ दारुण अवस्थाएँ हैं जिसमें वेदना एवं विरह का ऐसा उच्छ्वासित रूप प्रकट होता है, जिसमें रति और शोक की अन्तःप्रकृति मिलती-जुलती-सी प्रतीत होती है। और वहाँ दोनों के भोग का सीमानिर्धारण कुछ कठिन-सा हो जाता है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में विप्रलम्भ की चार दशाओं का निरूपण किया है—पूर्वरागात्मक, मानात्मक, प्रवासात्मक और करुणात्मक[4]। इनमें प्रेमी हृदय का अन्तर्जलन विरहोच्छ्वास एवं वेदना का आवेग जितना करुण विप्रलम्भ में उद्दीप्त एवं प्रखर हो पाता है उतना ही विप्रलम्भ के अन्य भेदों में नहीं। करुण विप्रलम्भ शृंगार का वह रूप है जिसमें प्रेमी अथवा प्रेमिका के वियुक्त होने पर अथवा दिवंगत हो जाने पर भी पुनरुज्जीवित हो सकने की दशा में, जीवित बचे दूसरे हृदय के शोक संवलित रतिभाव की अभिव्यक्ति होती है[5]। साहित्यदर्पणकार ने करुण तथा करुणविप्रलम्भ के भेदकतत्त्वों में दोनों के मूल स्थायीभाव को ही स्वीकार किया है[6]। किन्तु यह भेद-निरूपण अत्यन्त स्थूल एवं अस्पष्ट है। क्योंकि दोनों के स्वरूप एवं प्रभाव में इतनी समता प्रतीत होती है कि सहसा दोनों में भेद निकाल सकना कठिन हो जाता है। यदि केवल कथा के अन्त में प्रेमी और प्रेमिका के पुनर्मिलन को ही विप्रलम्भ का निर्णायकतत्त्व मान लिया जाय, तो भी गुत्थी पूरी तरह सुलझ नहीं पाती। मेघदूत में विरही यक्ष और यक्षिणी का पुनर्मिलन नहीं हो पाया

---

१. (क) अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः—ना० शा० षष्ठाध्याय, पृ० ७५
(ख) तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः—ना० शा० षष्ठाध्याय, पृ० ७३
२. (क) इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्—सा० द० ३।२२० पृ० १९७
(ख) रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्—सा० द० ३।१८५, पृ० १७३
३. तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च—ना० शा० षष्ठाध्यायः, पृ० ७३
४. स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्—सा० द० ३।१९१
५. सा० द०—यूनोरेकतरस्मिन् द्गतवतिलोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्ततो भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः॥ ३।२११
६. वही,— शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादियं रसः।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः सम्भोगहेतुकः॥ ३।२२१

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है, फिर भी युगों से सहृदय सुधीजन उसे विप्रलम्भ शृंगार का चरम निदर्शन मानते रहे हैं। ठीक इसके विपरीत भवभूति के उ० च० में गम्भीर विपत्ति के बाद राम और सीता का पुनर्मिलन प्रदर्शित किया गया है किन्तु सदियों से सहृदय सुधीजन इसे करुण रस का ही उज्वल निदर्शन मानते आये हैं। 'कारुण्य भवभूति रैव तनुते' 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते' आदि प्राचीन आभाणकों का स्पष्ट संकेत इसी तथ्य की ओर है। स्वयं भवभूति का अभिमत भी करुण रस के ही पक्ष में प्रतीत होता है[1]। अतः वियोग के बाद कथा के अन्त में प्रेमी और प्रेमिका के पुनर्मिलन सिद्धान्त को करुण एवं विप्रलम्भ का भेदक अथवा नियामक तत्त्व नहीं माना जा सकता।

करुण एवं विप्रलम्भ का भेद

भरतमुनि ने भी नाट्यशास्त्र में करुण एवं विप्रलम्भ के साम्य और वैषम्य का प्रश्न उठाया है 'यद्येवं रतिप्रभवः शृंगारः कथमस्य करुणाश्रयिणो भावाः भवन्ति?' और अन्त में करुण को निरपेक्ष भाव तथा 'विप्रलम्भ को 'सापेक्ष भाव' घोषित कर दोनों में मौलिक अन्तर सिद्ध किया है 'करुणस्तु निरपेक्षभावः सोपेक्षभावी विप्रलम्भकृतः, एवमन्यः करुणः, अन्यश्च विप्रलम्भः[2]। 'किन्तु भरतमुनि के ये 'सापेक्ष' एवं 'निरपेक्ष' शब्द भी व्याख्या सापेक्ष प्रतीत होते हैं। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में विप्रलम्भ के इस सापेक्ष भाव का तात्पर्य 'आशान्वित रति' 'स्वीकार किया है। उनके अनुसार विरह की दुःसह स्थिति में भी प्रेमी अथवा प्रेमिका एक दूसरे से मिलने की आशा एवं उत्कण्ठाभाव को संजोये रहता है। किन्तु करुण के 'निरपेक्षभाव' में पुनर्मिलन की आशालता सर्वथा छिन्न हो जाती है[3]।

रसगंगाधर, भरतमुनि तथा भवभूति का अभिमत

इस प्रसंग में कदाचित् रसगंगाधरकार की दृष्टि कुछ अधिक साफ और सुलझी हुई प्रतीत होती है। इनके अनुसार वियोग की स्थिति में जब प्रेमी अथवा प्रेमिका

१. उ० च०— तमसा—अहो संविधानकम्—
एकोरसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्। ३।४७
सूत्रधारः भगवान् भूतार्थवादी प्राचेतसः स्थावरजंगमं जगदाज्ञापयति—यदिदमस्मा-भिरापेणचक्षुषा समुद्वीक्ष्य पावनं वचनामृतं करुणाद्भुतरसं च किंचिदुपनिबद्धम्। तत्र काव्यगौर-वादवधातव्यम्—सप्तम अंक—पृ० ४८२

२. ना० शा०—षष्ठाध्याय—पृष्ठ ७१ ३. वि० अ० भा०—पृष्ठ ५६५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

एक दूसरे को जीवित समझकर विरह विकल होता है तो उस विरह वेदना से रतिभाव परिपुष्ट होकर विप्रलम्भ की आख्या ग्रहण करता है। किन्तु वियोग की दुःसह स्थिति में जब नायक अथवा नायिका किसी एक को मृत समझकर विलाप-प्रलाप करता है तो वहाँ उसकी वेदना से शोक भाव ही संवलित होकर करुणरस में परिणत हो जाता है—'स्त्री पुंसयोस्तु वियोगे जीवितत्वज्ञानदशायां वैक्लव्य-पोषितायाः रतेरेव प्राधान्याच्छृङ्गारो विप्रलम्भाख्यो रसः। मृतत्व ज्ञानदशायांतु रतिपोषितस्य वैक्लव्यस्येति करुण एव[1]'। इस व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि विप्रलम्भ शृंगार के लिए आश्रय में आलम्बन के जीवित रहने का विबोध अनिवार्य है और करुण के लिए आश्रय में आलम्बन की दिवंगतदशा का ज्ञान आवश्यक है। भरतमुनि के सापेक्ष एवं निरपेक्ष भाव का आशय भी कदाचित् पं० राजजगन्नाथ के 'जीवितत्व' एवं 'मृतत्व' ज्ञान दशा से ही सम्बन्धित प्रतीत होता है। वियोग की दुःसह स्थिति में प्रेमी अपनी प्रेमिका को जीवित समझकर ही आशा का मिलन-संगीत गुनगुनाता रहता है, किन्तु करुण की स्थिति में आलम्बन के अभाव में आशा का यह तन्तु टूट जाता है और निराशा के तमोराज्य में वेदना घनीभूत होकर बरसने लगती है।

मेघदूत में विरही यक्ष को यह विश्वास है कि विरहव्योम के उस पार उसकी यक्षिणी किसी तरह अवश्य जी रही है। इसलिए उसके विरहोच्छ्वासों में पुनर्मिलन की आशा का विरह-संगीत लहराता रहता है। यही आशा-बन्धन उसे विपत्ति के तूफानों में भी जीवनवृन्त से गिरने नहीं देता[2]। अतएव उसके विरह भाव रति के परिपोषक होकर विप्रलम्भ की निष्पत्ति में योगदान देते हैं। कथा के अन्त में पुनः यक्ष और यक्षिणी का मिलन हुआ या नहीं—यह सर्वथा गौण तत्व है। महाकवि कालिदास ने भी कदाचित् इसे गौण एवं महत्त्वहीन समझकर यक्ष और यक्षिणी के मिलन दृश्य से पूर्व ही कथा का व्यथापूर्ण अन्त कर दिया है। ठीक इसके विपरीत कुमारसंभव में मदन दहन के बाद शिव की अहैतुकी कृपा से रति का मदन से पुनर्मिलन भी संघटित होता है, किन्तु इससे क्या कोई सेचेता कुमारसंभव के रति-विलाप को विप्रलम्भ शृंगार कहने का दुःसाहस करेगा? इसका भी मूल रहस्य यही है कि रति कामदेव को दिवंगत जानकर ही विलाप करती है, इसलिए उसकी विरह-वेदना में स्थायिशोक भाव का मार्मिक दंश विद्यमान है, उसके भावोच्छ्वासों में करुणा का अपारपारावार लहराता नजर आता है। जहाँ आलम्बन ही नहीं, वहाँ किस आधार पर रति अंकुरित होगी?

१. रस गंगाधर—प्रथमानन—पृष्ठ ३९

२. पूर्वमेघ— आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशोह्यंगनानाम्
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अतएव सिर्फ पुनर्मिलन सिद्धान्त के आधार पर करुण को विप्रलम्भ सिद्ध नहीं किया जा सकता। अस्तु,

उ० च० का अंगीरस-करुण

करुण एवं विप्रलम्भ के इस मौलिक विभेद को भलीभाँति हृदयगम कर लेने के बाद भवभूति के उ० च० में अंगीरस का परीक्षण समीचीन होगा। उपरोक्त समीक्षा सिद्धान्त के आधार पर उ० च० का मूलभाव शोक तथा अंगीरस करुण ही सिद्ध होता है। नाटक में प्रारम्भ से अन्ततक राम को सीता के दिवंगत होने का ज्ञान तथा दृढ़ विश्वास सदा बना रहता है। समस्त नाटकीय इतिवृत्त में तीन बार और तीन जगह राम सीता के साथ दिखाई देते हैं। प्रथम अंक में अयोध्या के राजभवन में, तृतीय अंक में पंचवटी के पूर्वानुभूत प्रदेशों में और अन्तिमवार महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में गंगा के पावन तट पर। किन्तु नाटक के प्रथम अंक में ही जो शोक का बीज निक्षिप्त किया जाता वह सप्तक अंक तक निरवच्छिन्न रूप से विकसित होता दिखाई देता है। प्रारम्भ में राम और सीता के अल्पकालिक संयोग के जो मधुर चित्र खींचे गये हैं, उनका वास्तविक महत्त्व भी आसन्न एवं दीर्घकालीन वियोग की सम्पुष्टि में ही निहित है। जैसे विप्रलम्भ के बाद संयोग शृङ्गार की महिमा द्विगुण हो जाती है,[1] उसी प्रकार संयोग शृङ्गार की मधुर पृष्ठभूमि में करुण का शोक भाव भी अत्यधिक घनीभूत एवं करुणार्द्र हो जाता है। इसीलिए भवभूति ने राम और सीता के आसन्न वियोग को अत्यधिक उद्दीप्त एवं घनीभूत बनाने के लिए पहले उनके शृङ्गारिक जीवन का रागात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। नाटक के प्रथम अंक में ही सीता निर्वासन के समय राम को सीता के जीवन नाश का पूर्ण विश्वास हो जाता है, इसलिए वे अपने को नृशंस, दुरात्मा, कृतघ्न आदि अभिधानों से संबोधित करते हुए कहते हैं कि जैसे कोई कसाई किसी पालतू पक्षी को बचपन से पाल-पोस कर भी अचानक मार डालता है, उसी प्रकार बचपन से पाली हुई तथा जीवन भर सुख-दुःख में संग-संग डोलने वाली इस प्राणप्रिया को आज मैं छल से मृत्यु के मुंह में झोंक रहा हूँ[2]। इसके बाद सोयी हुई सीता के चरणों में सिर टेककर राम उन्हें अन्तिम विदाई देते हैं। लो—राम के शिर में तुम्हारे चरणों का यह अन्तिम स्पर्श है[3]।

---

१. सा० द०—न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते॥ उद्धरण—पृ० १९४

२ उ० च०— शैशवात्प्रभृति पोषितां प्रियां सौहृदादपृथगाश्रयामिमाम्।
छद्मना परिददामि मृत्यवे शौनिके गृहशकुन्तिकामिव॥ १।४५

३. वही, प्रथम अंक—
(सीतायाः पादौ शिरसि कृत्वा) अयं पश्चिमस्ते रामशिरसि पादपंकजस्पर्शः। पृष्ठ ११६

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसके बाद तृतीय अंक में पुनः बारह वर्ष के बाद राम और सीता दोनों एक जगह दिखाई देते हैं किन्तु यह छायामिलन है जो सर्वथा एकांगी और अभावात्मक है। यहाँ छाया सीता राम को प्रत्यक्ष देखती अवश्य है किन्तु राम को सीता के पार्थिव अस्तित्व का कुछ भी बोध नहीं हो पाता। पंचवटी के पूर्वानुभूत प्रदेशों में राम सीता के आत्यन्तिक वियोग भावना से सिहर-सिहर उठते हैं। यहाँ राम की सीता भावना अवपूर्ण रूपेण स्मृति के रूप में ढल चुकी है इसलिए राम की विरह वेदना का आलम्बन यहाँ स्मृत सीता है, पार्थिव एवं प्रत्यक्ष सीता नहीं। वहाँ के पेड़-पौधे तथा जीव-जन्तु जो उनके अतीत वन जीवन के सखा-सहचर हैं—वे उद्दीपन विभाव हैं, अन्तर्जलन तप्त आँसू तथा विविध भावोच्छ्वास आदि अनुभाव हैं तथा चिन्ता, ग्लानि, मोह आदि संचारिभाव हैं जो स्थायी शोक से मिलकर करुण की निष्पत्ति में पूरा योगदान देते हैं।

यद्यपि मूर्च्छितावस्था में राम को दो बार सीता के स्निग्ध कर स्पर्श का सौभाग्य भी प्राप्त होता है, जिससे राम के अवचेतन मानस में सीता की लौकिक स्थिति का हल्का-सा धूमिल बोध भी होता है, किन्तु उनके चेतन मन में सीता के दिवंगत होने का भाव इतना प्रबल एवं दृढ़ है कि दोनों ही बार उसे वे भ्रम एवं मानसिक विकार समझकर विवश भाव से संतोष कर लेते हैं[1]। इस प्रकार समस्त तृतीय अंक में राम का यह विश्वास कई बार और कई रूपों में प्रकट हुआ है। जब वासन्ती राम को धैर्य धारण के लिए कहती है तो राम के शोकोद्गारों में सीता विनाश की शाश्वत् चेतना प्रज्वलित हो उठती है। वे कहते हैं—कि आज सीता से शून्य इस संसार को बारह वर्ष हो गया, अब तो उसका नाम शेष भी कहीं सुनाई नहीं देता—फिर भी क्या राम जीवित नहीं है[2] ? इसी प्रकार षष्ठ अंक में भी लव-कुश की मुखाकृति में सीता की मुखच्छवि को आंककर राम कुछ देर के लिए उनके सीतापुत्र की मधुरकल्पना में खो जाते हैं, किन्तु कुछ ही क्षण बाद लव-कुश के तटस्थ आलाप से वे पुनः अपने पूर्व विश्वास पर लौट जाते हैं और व्यक्तरूप से अपने 'कलत्र व्युपरम' की चर्चा करने लगते हैं[3]। सीता के कर स्पर्श तथा

---

१. (क) रामः—अथवा कुतः प्रियतमा ? नूनं संकल्पाभ्यासपाटवोपादान एसः भ्रमो राममद्दस्य।
तृतीय अंक–पृष्ठ २३०

(ख) रामः—व्यक्तं नास्त्येव। कथमन्यथा वासन्त्यपि न पश्येत् ? अपिखलु स्वप्न एव स्यात् ?
न चापि सुप्तः ? कुतो रामस्य निद्रा ? सर्वथापि स एवैषः भगवाननेकवारपरिकल्पितो
विप्रलम्भः पुनः पुनरनुबध्नाति माम्। —उ० च०, पृष्ठ २७९

२. देव्या शून्यस्य जगतो द्वादशः परिवत्सरः।
प्रणष्टमिव नामापि न च रामो न जीवति ? ३।३३

३. रामः— (स्वगतम्) अये, तटस्थ आलापः। कृतं प्रश्नेन। मुग्धहृदय ! को यमाकस्मि-
कस्ते संल्लवाधिकारः ? एवं निर्भिन्नहृदयावेगः शिशुजनेयाप्यनुकम्पितो स्मि।
भवतु तावदन्तरयामि। —षष्ठ अंक, पृ० ४६१

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

लवकुश की सीता सदृश रूपाकृति से राम के अवचेतन मन में सीता की पार्थिव स्थिति की धूमिल रेखाएँ उगती अवश्य हैं, किन्तु प्रत्यक्षतः विश्वास की गहराई में अंततक उनकी निरपेक्ष निराशा बनी ही रहती हैं। भवभूति का नाटककार प्रारम्भ से ही राम के इस प्रबल नैराश्य भाव को अक्षुण्ण एवं अविच्छिन्न रखने में सदा सचेष्ट दीखता है। कदाचित् उन्हें यह भय है कि अगर राम की निराशा आशा में परिणत हो जायगी तो नाटक का अन्त कौतुहल पूर्ण एवं स्वाभाविक नहीं हो पायगा। इसलिए राम के प्रबल नैराश्य भाव की रक्षा के लिए भवभूति का नाटककार सदा प्रयत्नशील एवं सतत जागरुक दिखाई देता है।

नाटक के मूल शोकभाव की सम्यक् परिणति के लिए भवभूति ने राम के अतिरिक्त उनके सभी सगे सम्बन्धियों में भी इस प्रबल नैराश्यभाव का समान रूप से संपोषण किया है। कौशल्या, जनक, वशिष्ठ तथा सुमन्त्र आदि गुरुजनों में भी सीता के दिवंगत होने का विश्वास पूर्णरूपेण दृढ़ हो चुका है। सीता के आत्यन्तिक विरहभाव से ये गुरुजन खिन्न एवं परितप्त ही नहीं होते, बल्कि उसके पुनर्मिलन को असंभव जानकर पूर्ण निराश भी हो जाते हैं। सीता के कारुणिक वियोग से संतप्त कौशल्या को देखकर ज्ञानी जनक के हृदय में पुत्री विछोह का घाव पुनः हरा हो जाता है—'क्षतेक्षारमिवासह्यं जातं तस्यैव दर्शनम्'[1]। यद्यपि लवकुश की मुखच्छवि में राम और सीता के सौन्दर्यबिम्ब को देखकर गुरुजनों के अवचेतन मन में सीता के जीवित भाव की सुकुमार रेखाएँ कई बार और कई रूपों में उभरती हैं, फिर भी मूल शोक भाव की रक्षा के लिए भवभूति ने कथानक का बड़ा ही कौशलपूर्ण विनियोग किया है। लवकुश को देखकर कौशल्या को राम का शिशुरूप स्मरण हो जाता है, उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि राम ने पुनः अपना वही शिशु रूप धारण कर लिया हो :—

पुनरपि शिशुर्भूतो वत्सः स मे रघुनन्दनः
झटिति कुरुते दृष्टः कोऽयं दृशोरमृतांजनम्[2] ॥

ज्ञानी जनक का स्थिर चित्त भी लवकुश को देखकर चंचल हो उठता है जैसे चुम्बक का छोटा-सा टुकड़ा विशाल लौहपिण्ड को अपनी ओर खींच लेता है :—

मनो मे सम्मोहस्थिरमपि हरत्येष बलवान्
अयोधातुं यद्वत्परिलघुरयस्कान्तशकलः[3] ॥

किन्तु पुनः बातचीत के प्रसंग में उन ऋषि कुमारों के विसंवादी प्रतिवचनों से निराश होकर जनक तथा कौशल्या अपने पूर्व विश्वास की गहराई में खो जाते हैं।

१. उ० च०—४।७
२. वही,—४।१९
३. वही,—४।२१

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

महामन्त्री सुमन्त्र भी लवकुश में सीता के प्रतिबिम्ब को देखकर सत्य की परिछाँही को छूना चाहते हैं, किन्तु शीघ्र ही अपने पूर्व विश्वास पर लौट आते हैं—'लतायां पूर्व लूनायां प्रसवस्योद्भवः कुतः'[1]। इस प्रकार भवभूति ने इस मूल शोक भाव की रक्षा एवं परिणति के लिए काफी तत्परता के साथ कथानक का कौशलपूर्ण विनियोग किया है। भवभूति के नाटककार का मूल संरम्भ इसी शोक भाव की सम्पुष्टि में अन्तर्निहित है।

इस प्रकार उ० च० में आदि से अन्त तक राम के मन मानस में सीता की दिवंगत स्थिति का सुदृढ़ अवबोध निरन्तर अविचल भाव से विद्यमान दिखाई देता है। राम के इस विरह बोध में वेदना एवं विवशता का प्रगाढ़ नैराश्यभाव सदा उद्वेलित होता रहता है, जो निश्चय ही आचार्य भरत के शब्दों में 'निरपेक्ष' एवं 'अभावात्मक' कहा जायगा। राम के इस प्रबल नैराश्यभाव को किसी भी तरह विप्रलम्भ के 'रतिभाव' का अभिधायक नहीं माना जा सकता। किसी मृत शरीर के आलम्बन से 'रतिभाव' कथमपि अंकुरित नहीं हो सकता, उससे शोकभाव ही संदीप्त हो सकता है और उस शोक भाव से करुण रस की ही निष्पत्ति संभव है। अतः विशुद्ध शास्त्रीय सिद्धान्त की कसौटी पर भी करुण रस ही उ० च० का अंगीरस सिद्ध होता है—इसमें किसी प्रकार की विचिकित्सा का स्थान नहीं।

एको रसः करुण एव की मीमांसा

साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में शास्त्र के अतिरिक्त सहृदय-हृदय की सहज स्वीकृति को भी शास्त्रकारों ने सदा प्रमाण रूप में उपन्यस्त किया है। विश्वनाथ ने करुण रस की आनन्दमयता की सिद्धि के लिए सहृदय-हृदय को ही प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है[2]। जहाँ तक उ० च० में करुण रस की प्रधानता का प्रश्न है, युगों से लोक-हृदय एकमत दिखाई देता है। उ० च० में करुण रस के अद्भुत परिपाक के आधार पर ही समालोचकों ने भवभूति को करुण रस का महान् उद्गाता उद्घोषित किया है। 'कारुण्यं भवभूति रेव तनुते', 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते' आदि चिरन्तनवाक्य इसी लोक-हृदय के निश्छल उद्गार हैं। अतएव जो कोई परम्परावादी समालोचक उ० च० में विप्रलम्भ को अंगीरस सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास करते हैं—निश्चय ही वे लक्षणैकचक्षु हैं, उन्हे किसी भी तरह सहृदय नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः भवभूति ने नाटक में वीर एवं शृङ्गार की पुरानी रूढ़ि की उपेक्षा कर नाट्य साहित्य के इतिहास में एक अभिनव आदर्श की स्थापना की है। शास्त्र एवं परम्परा की प्राचीन मान्यताओं के ऊपर एक

१. वही,—४।२०
२. सा० द० :—
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्—३।३, पृष्ठ ७०

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

चिर स्थायी एवं स्वस्थ परम्परा का नूतन निर्माण किया है। भवभूति करुण रस के व्यापक स्वरूप एवं स्थायी प्रभाव को भलीभांति जानते हैं। अतएव उन्होंने मुक्तकण्ठ से करुणरस को सभी रस रूपों की मूल प्रकृति उद्घोषित किया है :—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुदबुदतरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम्[1] ॥

अर्थात् करुणरस ही एकमात्र रसरूपों की मूल प्रकृति है, शेष अन्य सभी रस उसकी विकृतिमात्र हैं। जैसे एक ही जल निमित्त भेद से कभी भँवर, बुदबुद और कभी तरङ्गों का नाम रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार विभावादि के वैलक्षण्य मात्र से एक ही मूल करुणरस अन्य रस रूपों में परिणत हो जाता है। प्रस्तुत श्लोक उ० च० का बीज मन्त्र है। इसमें भवभूति के गम्भीर जीवन-दर्शन एवं परिनिष्ठित रस सिद्धान्त का उज्ज्वल प्रतिफलन हुआ है। उ० च० के विद्वान् टीकाकार वीरराघव का भी यही मत है। "इदमत्र कवेर्मतम्—यद्यपि शृङ्गार एक एव रसः इति शृङ्गार प्रकाशकारादिमतम् तथापि प्राचुर्याद् रागिविरागिसाधारण्यात् करुण एक एव रसः, अन्ये तु तद्विकृतय इति"[2]। वीरराघव ने यहाँ करुणरस की प्रधानता एवं व्यापकता की पुष्टि में जिन दो तर्कों को प्रस्तुत किया है—वे हैं—"प्राचुर्यात् और रागि-विरागिसाधारणयात्" अर्थात् इसका जीवन में प्राचुर्य देखा जाता है और इसकी स्थिति रागी और विरागी सभी में समान रूप से पायी जाती है।

यद्यपि प्रस्तुत श्लोक का प्रासंगिक अर्थ उ० च० की विषय वस्तु से ही अन्वित है, किन्तु इस प्रासंगिक अर्थ के अतिरिक्त भी यहाँ करुणरस के प्राधान्य प्रतिपादन में भवभूति का स्वारस्य निहित है। यह श्लोक भवभूति के प्रौढ़ जीवन दर्शन का मानदण्ड है और इसका उज्ज्वल निदर्शन उनका उ० च० नाटक है यद्यपि शृङ्गार-प्रकाशकारादि कुछ प्राचीन आचार्यों ने शृङ्गाररस को "जातिसुलभ" रस उद्घोषित कर उसे "रसराज" की संज्ञा से अभिहित किया है[3]। किन्तु जहाँ तक भावतादात्म्य की शक्ति का सम्बन्ध है वहाँ निस्सन्देह अन्य रसों की अपेक्षा करुणरस की व्यापकता स्वतः संवेद्य प्रतीत होती है। चाहे वह शृङ्गार का क्षेत्र हो या हास्य का, शान्तरस का प्रसंग हो या रौद्ररस का, सर्वत्र ही करुणरस का व्यापक प्रसार दृष्टिगोचर होता है। विप्रलम्भ शृङ्गार में करुणा कवि की समर्थ लेखनी का

१. उ० च०–३।४७
२. उत्तररामचरित पर वीरराघव की टीका–पृ० ९९, नि० सा० प्रेस १९४९
३. (क) यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणानुमीयते–ना० शा० षष्ठाध्याय, पृ० ७३
(ख) ···शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः···शृङ्गारप्रकाश।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आधार पाकर साकार हो उठती है। हास्य रस में उपहासास्पद व्यक्ति के साथ सामान्य पाठकों की सहानुभूति अकारण ही जाग्रत हो जाती है। सांसारिक शापताप से मुक्ति देने वाले शान्तरस का पूर्णपरिपाक भी कारुणिक दृश्यों के चित्रण से ही किया जाता है। जीवन में वैराग्य भाव पैदा करने के लिए शान्तरस प्रधान काव्य में बीभत्स रस की योजना आवश्यक मानी गयी है और बीभत्स के मूल में भी करुण रस का ही विपरीत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। करुण रस के इस व्यापक प्रसार के कारण ही भवभूति ने इसे प्रवृत्त रस उद्घोषित कर अन्य सभी रस रूपों को करुण रस के विवर्त्त रूप में कल्पित किया है। करुण रस की व्यापकता का मनोवैज्ञानिक रहस्य उसकी भावतादात्म्य शक्ति में निहित है। प्रो० बूचर ने करुण रस को अन्य रसों की अपेक्षा अधिक व्यापक और समर्थ घोषित किया है[1]। उत्तरचरित के स्वनाम धन्य टीकाकार वीरराघव ने इसकी व्यापकता को 'प्राचुर्यात्' और 'रागिविरागिसाधारण्यात्' कहकर पुष्ट किया है। महर्षि वाल्मीकि का विरक्त हृदय क्रौंच पक्षी के संयोग शृङ्गार से प्रभावित नहीं हुआ, किन्तु उसके निधनजन्य आर्त्तनाद को सुनकर उनके हृदय का शोकभाव श्लोक के रूप में फूट पड़ा[2]। जहाँ तक करुण रस की आनन्दमयता का प्रश्न है—वह काव्यलोक की भावभूमि में आकर शृङ्गार के समान ही अलौकिक आनन्द प्रदान करता है साहित्यदर्पणकार ने इसकी आनन्दमयता की पुष्टि में सहृदय-हृदय को ही प्रमाण रूप में उपस्थित किया है :—

करुणादावपि रसे जायते यत्परंसुखम्
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्[3]।

अस्तु, यहाँ विचारणीय यह है कि उ० च० में भवभूति करुण रस की प्रधानता एवं व्यापकता के प्रति कहाँ तक सजग हैं? जहाँ तक उत्तर चरित का सम्बन्ध है उसका कथावृत्त एवं भावजगत् दोनों ही करुण हैं। इसके सभी अंक प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रेक्षकों के हृदय में कारुण्य का ही संचार करते हैं। नाटक के प्रारम्भ में ही राज्याभिषेक के बाद राजर्षिजनक के मिथिला चले जाने पर राम उद्विग्नचित्ता सीता को सान्त्वना प्रदान करते दिखाई देते हैं,[4] किन्तु कुछ ही क्षणवाद निष्करुण नियति का ऐसा क्रूर झोंका आता है कि पुनः वही राम उसी आसन्नप्रसवा, प्राणप्रिया सीता को क्षण में ही सदा के लिए निर्वासित कर देते हैं।

---

१. पोयट्री एण्ड फाइन आर्ट्स—प्रो० बूचर—पृ० २६७।
२. तथा चादिकवेर्वाल्मीकिर्निहतसहचरविरहकातरक्रौंचयाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः—ध्वन्या० प्रथमउद्योत—५ वीं कारिका।
३. सा० द०—३।
४. उ० च०—१।७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कर्त्तव्य एवं प्रेम का यह क्रूर अभिनय कितना कठोर एवं करुण है ? इसे कोई सहृदय ही आँक सकता है। चित्र दर्शन के प्रसंग में भी अपने अतीत के सम-विषम चित्रों को देखकर राम और सीता जिस आन्तरिक वेदना से विकल होते हैं—वही क्या कम हृदय-द्रावक है ? निर्वासन के पूर्व चित्र दर्शन प्रसंग में राम और सीता के आदर्श दाम्पत्य प्रेम का जो रंगीन चित्र खींचा गया है[1] वह दोनों के आसन्न वियोग को अत्यधिक दुर्भाग्यपूर्ण एवं असह्य बना देता है। आजन्म शुद्धा सीता के अनाविल शील में ज्यों ही मिथ्यापरीवाद का विषदंश होता है, त्यों ही सारी कथा व्यथा के भार से लद जाती है, समस्त वातावरण एक ही वार करुणार्द्र और पंकिल हो जाता है। कर्त्तव्य की पवित्र वेदी पर पुनीत प्रेम का ऐसा नग्न एवं कठोर बलिदान देख कर यदि पत्थर की छाती फट जाय, बज्र हृदय भी अगर दो टूक ही जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? 'अपि ग्रावा रोदिति, दलति वज्रस्य हृदयम्'[2]।

द्वितीय अंक में पुनः बारह वर्षों के बाद शम्बूक वध के लिए राम अपने चिर परिचित पंचवटी प्रदेश में प्रवेश करते हैं, किन्तु यहाँ सीता के साथ अनुभूत अपने विगत सांख्यों को स्मरण कर विकल ही नहीं मूर्च्छित भी हो जाते हैं[3]। राम की वेदना से व्यथित होकर प्रकृति का कण-कण रो पड़ता है। उ० च० के तृतीय अंक में तो भवभूति को भारती विरहिणी सीता की तरह 'करुणस्य मूर्त्तिरथवा शरीरिणी' हो गयी है। करुणा की जैसी गम्भीर एवं मार्मिक अभिव्यंजना यहाँ हुई है, वैसी कदाचित् ही कहीं अन्यत्र उपलब्ध हो। एक ओर अतीत वन जीवन के सखा सहचर राम को सीता का स्मरण कराकर शोकाभिभूत कर ही रहे हैं, और दूसरी ओर वासन्ती के व्यंग्यशर से विद्ध राम का चिर संतप्त हृदय शतधा विदीर्ण हो जाता

---

१. उ० च०— किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलिलकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णे-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥ १।२७

२. वही,— अथैदं रक्षोभिः कनकहरिणच्छद्मविधिना,
तथा वृत्तं पापैर्व्यथयति यथा क्षालितमपि।
जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितै-
रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम् ॥ १।२८

३. वही,— चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः,
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः।
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हन्मर्मणि पुनः,
पुराभूतः शोको विकलयति मां नूतन इव ॥ २।२६

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है[1]। चौथे अंक में ब्रह्मज्ञानी जनक और राम जननी कौशल्या को सीता के दुर्भाग्यपूर्ण वियोग में शोकाभिभूत होते देख स्वभावतः ही उनके प्रति प्रेक्षकों की हार्दिक संवेदना एवं सजल करुणा का भाव उद्‌बुद्ध हो जाता है। पंचम अंक में एक ही वंश के दो राजकुमारों को परस्पर अज्ञानता की दशा में युद्ध करते देख कौन व्यथित नहीं होगा ?

षष्ठ अंक में एक ओर लव और कुश की मुखच्छवि में सीता के अंगलावण्य का प्रतिबिम्ब देखकर राम का विधुर हृदय वात्सल्य भाव से छलछला उठता है। किन्तु दूसरे ही क्षण आसन्नप्रसवा सीता का स्मरण कर शोकाभिभूत हो जाता है। राम की यह उक्ति कितनी मार्मिक एवं करुण है :—

चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः,
प्रवासेऽप्याश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च कलत्रव्युपरमे,
कुकूलानां राशो तदनु हृदयं पच्यत इव ॥[2]

अर्थात् अनवरत ध्यान से प्रिय की मूर्ति आँखों के आगे खड़ी हो जाती है। इस प्रकार वियोग में भी प्रियजन आस्वासन ही प्रदान करते हैं। किन्तु ज्यों हि वह कल्पित मूर्ति ध्यान से ओझल हो जाती है, त्यों ही यह असार संसार एक सुन सान जंगल के समान भयावह प्रतीत होने लगता है, और ऐसा लगता है मानों हृदय धधकते हुए अंगारों पर रख दिया गया हो। इसी एक श्लोक में राम की सारी विवशता और विकलता साकार हो उठी है। सातवें अंक में राम और सीता का पुनर्मिलन होता अवश्य है। किन्तु इस मिलन दृश्य में भी सीता निर्वासन का वही क्रूर करुण अभिनय गोचर होता है जिसे देखकर राम 'क्षुभितवाष्पोत्पीडनिर्भर' होकर वारंवार संज्ञाहीन हो जाते हैं। नियति नटी का यह करुण मधुर अभिनय भवभूति के अद्‌भुत नाट्य नैपुण्य से सजीव और साकार हो उठा है। इसमें एक अपूर्व भाव-गाम्भीर्य है जो करुण की ही सुखद मधुर परिणति है।

इस प्रकार उ० च० की समस्त कथा व्यथा के भार से आर्द्र और पंकिल दिखाई देती है। इसमें ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनके श्रवण एवं स्मरण मात्र से हमारा हृदय विगलित होने लगता है, मानस में करुणा की लघु लोल लहर उठने लगती है। आरम्भ से अन्त तक विपत्ति की बयार डोलती रहती है। इस नाटक

१. वासन्ती— त्वं जीवितं त्वमसि हृदयं द्वितीयं,
त्वं कौमुदी नयनयो रमृतं त्वमंगे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्यमुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥ उ० च० ३।२६

२. वही,—६।३८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के सभी पात्र, पशु-पक्षी, सरित-सर, गिरि-कानन, विभिन्न रागिनियों की तरह एक ही महाकरुणसंगीत के निर्माण में सतत योगदान देते रहते हैं। इसका मूल रस करुण है जो विभिन्न रूपों, वर्णों और स्वरों में संगीतित हो रहा है।

करुणरस की मूलप्रकृति

जहाँ तक भवभूति के करुण रस की मूलप्रकृति का प्रश्न है, वह अत्यन्त ही गम्भीर एवं मर्मस्पर्शी है। इसमें शोक संवलित भावों की उमड़-घुमड़ पर्याप्त है जो समय पाकर बरसता भी रहता है किन्तु अपनी मर्यादा के साथ, संयम और शालीनता के साथ। यहाँ संभ्रान्त, अभिजात एवं सुसंस्कृत व्यक्ति का विरह-निरूपण हुआ है—हाय तौबा मचाने वाले किसी आशिक का पागलपन नहीं। राम की करुणा उस पुटपाक के समान है जिसके अन्दर ही अन्दर तीव्र वेदना संदीपित होती रहती है :—

'अनिर्भिन्नो गभीरत्वादंतर्गूढघनव्यथः
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः[1] ॥

लक्ष्मण ने राम की आन्तरिक व्यथा को देखकर ठीक ही अनुमान लगाया था कि राम का यह अश्रु प्रवाह मोतियों की लड़ी की तरह टूटकर अनेक धाराओं में टप-टप गिरता हुआ पृथ्वी पर बिखर रहा है। प्रयत्नपूर्वक दबाये जाने पर भी हृदय का उद्वेग उनके फड़कते हुए ओठों तथा नासापुटों के द्वारा दूसरों को सहज-संसूचित हो रहा है[2]। वह सर्वथा अनुभव गम्य और सहृदय हृदय संवेद्य है। यद्यपि 'अन्तर्गूढघनव्यथा' की तीव्रता का आभास करने के लिए भवभूति ने बार-बार आसुओं की बाढ़ और मूर्च्छादशा का प्रकाम चित्रण किया है—जो कुछ हद तक सहृदयों को उद्वेजित भी कर देता है किन्तु भवभूति इसे भलीभाँति जानते हैं कि शोकातिरेक की दशा में जीभर रो लेने से ही हृदय हल्का होता है —तालाब के लबालब भर जाने पर नालियों द्वारा बाढ के जल को बहा देने में ही कुशल है— 'पुरोत्पीड़े तड़ागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया[3]'।

भवभूति की अन्तःप्रकृति गम्भीर होते हुए भी भावुक और मुखर है, सान्द्र एवं सघन होते हुए भी दीर्घविस्तारी और तरल है। इसलिए करुणा रस की अभि-

---

१. उ० च०—३।१

२.— अयं ते वाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्ता मणिसरो
विसर्पन् धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया,
परेषामुन्नेयो भवति च मराध्मातहृदयः॥ उ० च० १।२९

३. उ० च०— पुरोत्पीडे तटाकस्य, परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं, प्रलापैरेव धार्यते॥ ३।२९

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

व्यंजना में सर्वत्र ही उनका भावुक हृदय मुखर हो उठा हैं। किसी करुण प्रसंग की अवतारणा में वे नाटकीय कार्यव्यापार की स्वाभाविक विकास प्रक्रिया की परवाह किये विना बहुत देर तक वरसते रहते हैं। यही कारण है कि उनके नाटकीय कार्यव्यापार विकल भावों के भार से मन्थर तथा अवरुद्ध से प्रतीत होते हैं। उपलब्धि एवं प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से यद्यपि अभिव्यक्ति की संवृति में ही भावों की पूर्ण वृत्ति होती है, मुखरता में वेदना का आवेग विखर जाता है और परिणामतः उसकी प्रभावोत्पादकता क्षीण एवं क्षुण्ण हो जाती है। किन्तु भवभूति का प्रगल्भ एवं भावुक कलाकार नपे-तुले शब्दों द्वारा भावों की विवृति में विश्वास नहीं करता, वह विस्तारपूर्वक हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं सुकुमार अन्तर्दशाओं की मार्मिक उद्घाटन प्रक्रिया का पक्षपाती है। हृदय की सूक्ष्म रागात्मक तन्तुओं को बलात् झंकृत कर मानस में शोक भाव का क्रिड़ा तरंग पैदा करना भवभूति के भावुक कलाकार को अधिक प्रिय है। पूर्वानुभूत दाम्पत्य प्रेम का एक अत्यन्त सुकुमार एवं मार्मिक चित्र यहाँ द्रष्टव्य है जिसकी स्मृति राम के शोक भाव को अत्यधिक संदीपित कर देती है। वासन्ती राम को स्मरण दिलाती हुई कहती है—'हे देव ! देखिये, यह वही लतागृह है जिसके द्वार पर खड़े होकर आप सीता की प्रतीक्षा में विकल थे और सीता गोदावरी के तट पर कुछ देर तक हंसों के साथ क्रीड़ा करती हुई मनोविनोद कर रही थी। थोड़ी देर बाद जब लौटकर सीता ने आप को उदास देखा, तो अत्यन्त कातर भाव से उन्होंने कमल की पंखुड़ियों के समान अपनी उंगुलियों को जोड़कर (विलम्ब के लिए क्षमा याचना करते हुए) आपको प्रणाम किया था'[1]। अतीत की इस सुकुमार पृष्ठभूमि में सीता के मौग्ध्य भाव का निसर्ग निच्छल चित्र जितना जीवन्त उतरा है, राम की आन्तरिक व्यथा उतनी ही सान्द्र एवं तन्द्रिल प्रतीत होती है। यहाँ सीता के सहज भीत हृदय की प्रत्येक धड़कन राम के शोक संतप्त हृदय में वेदना का मूक संगीत बन कर गूंज उठी है, जिसका अनुरणन, निसन्देह, पाठकों को चिरकालतक भाव विभोर करता रहेगा।

भवभूति के करुण रस के प्रसंग में डी० एल० के सिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा

भारतीय नाट्यसाहित्य के सुधी समालोचक बाबू द्विजेन्द्र लाल राय ने भवभूति के इस करुण रस को कृत्रिम, सस्ता एवं विलापपूर्ण करार दिया है। पता नहीं

१. उ० च०—अस्मिन्नेव लतागृहे त्वममवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः,
सा हंसः कृतकौतुका चिरमभूद्गोदावरीसैकते।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया,
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामांजलिः ॥ ३।३७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उन्हें यह क्यों अच्छा नहीं लगा ? उन्होंने इस अरुचि के लिए जिन कारणों का उल्लेख किया है—वे विचारणीय हैं। उनका कथन है कि 'कर्त्तव्य और स्नेह, शोक और धैर्य, आनन्द और वेदना—इन मिश्र प्रवृत्तियों के संघर्ष से जो कषाय अमृत उत्पन्न होता है—उसे जो तैयार कर सकता है—तथा जो मिश्र प्रवृत्ति के सामंजस्य की रक्षा करके मनुष्य हृदय में निहित कारुण्य का अमृत द्वार खोल देता है, या जो विभिन्न श्रेणी के सौन्दर्य को एक जगह दिखाकर आँखों से अश्रुधारा अनजान रूप से बहा दे सकता है—वही महाकवि है, वही मनुष्य हृदय का सच्चा पारखी है'[1] किन्तु भवभूति जैसा मनुष्य हृदय का सच्चा पारखी संस्कृत साहित्य में कोई विरला ही होगा। मानव हृदय की जिस अतल गहराई में उनकी सहज पैठ है—शायद ही कोई नाटककार उस हद तक पहुँच सका हो। उ० च० इसका ज्वलन्त निदर्शन है। सच पूछिये तो मानवीय मनोभावों का विश्लेषण एवं उदात्तीकरण ही इस नाटक का मूल इतिवृत्त है। जहाँ तक मिश्र प्रवृत्तियों के संघर्ष से करुण रस की निष्पत्ति का प्रश्न है—वह भी सहज समाधेय है। समस्त उ० च० प्रारम्भ से अन्त तक कर्त्तव्य और प्रेम, शोक और धैर्य के पारस्परिक संघर्ष पर ही टिका हुआ है। नाटक के प्रथम अंक में कर्त्तव्य और प्रेम का आन्तरिक द्वन्द्व ही वह मूल उत्स हैं, जहाँ अन्ततः कर्त्तव्य की पुनीत वेदी पर सात्विक प्रेम की बलि चढ़ाई जाती है, कर्त्तव्य के कठोर अनुशासन से पवित्र प्रेम को निर्वासित कर दिया जाता है। इसके लिए राम के अर्न्तजगत् में जो जलन एवं द्वन्द्व है—उसकी सफल अभिव्यक्ति तृतीय अंक में हुई है। जहाँ तक सीता के क्षुब्ध मानस की स्वाभाविक प्रतिक्रिया का प्रश्न है, भवभुति ने उसे भारतीय आदर्श एवं मर्यादा की सीमा में दो एक संकेतों से ही अभिव्यक्त कर दिया है। निर्वासन के बारह वर्ष बाद राम को पहलीबार देखकर जो सीता राम को 'राजा' शब्द से सम्बोधन करती है, वही सीता अन्त में रघुकुल देवता राम को प्रणाम कर धन्य हो जाती है[2]। भावों के इस संघर्ष से ही करुणा का वह अमृत निष्पन्द होता है—जिसके पावनपरस से दो चिरसंतप्त हृदयों का आन्तरिक जलन उपशमित होता है—दो चिरभटके पथिक जीवन के संगम में मिलकर एक हो जाते हैं। द्विजेन्द्र बाबू ने कदाचित् भवभूति की करुणा की गहराई को साहित्य-समीक्षा के

---

१. कालिदास और भवभूति—द्विजेन्द्र लाल राय—पृ० १३० हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर बम्बई—१९५६

२. (क) तमसा—श्रूयते—'तपस्यतः किलशूद्रस्य दण्डधारणार्थमैक्ष्वाको राजा दण्डकारण्यमागतः इति।

सीता—दिट्ठिआ अपरिहीणधम्मो सो राआ। पृ० २१५

(ख) सीता—नमो नमो सुकृतपुण्यजनदर्शनीयाभ्यामार्यपुत्रचरणकमलाभ्याम्।

(इति मूर्च्छति) पृ २८८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विदेशी मानदण्ड से मापने का प्रयास किया है—जो कथमपि न्यायसंगत और समीचीन नहीं माना जा सकता। युगों से भवभूति की करुणा ने सहृदयों को आकृष्ट किया है और उसे बरबस रुलाकर आत्मतोष प्रदान किया है। फिर भी आश्चर्य है कि उ० च० की करुणा द्विजेन्द्र बाबू के चित्त को नहीं रमा सकी। अस्तु, फिर भी भवभूति की करुणा में एक अजीब दर्द है, एक अपूर्व संगीत है, एक अद्भुत संमोहन है—इसे किसी भी तरह इनकार नहीं किया जा सकता :—

तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते।

कतिपय अंगभूत रसों का अध्ययन

उपर्युक्त विवेचन से यह भलीभांति सिद्ध और प्रमाणित हो जाता है कि उ० च० का अंगीरस करुण है और इसकी सफल निष्पत्ति में भवभूति ने अपनी अद्भुत प्रतिभा का अभूतपूर्व विनियोग किया है। किन्तु उ० च० में करुण के अतिरिक्त जहाँ तहाँ कुछ अन्य अंगभूत रसों का भी परिपाक हुआ है जिसकी मीमांसा यहाँ अपेक्षित है। उत्तरचरित के अंगभूत रसों में शृङ्गार, वीर-वात्सल्य, अद्भुत तथा हास्य रसों का उल्लेख किया जा सकता है। नाटक के प्रथम अंक में संभोग शृङ्गार के कुछ अव्यक्त मधुर चित्र खींचे गये हैं, जो निसन्देह अत्यन्त उदात्त एवं हृदयग्राही है,[1] किन्तु आसन्न वियोग की कारुणिक पृष्ठभूमि में इस शृङ्गार का पृथक् आस्वाद नहीं होता, बल्कि यह सीता-निर्वासनजन्य करुणा को अत्यधिक तीव्र एवं प्रगाढ रूप प्रदान कर वहीं लय हो जाता है।

शृङ्गार के अतिरिक्त उ० च० में वात्सल्य एवं हास्य के भी कुछ अव्यक्त मधुर छींटे यत्र तत्र दिखाई देते हैं जो अंगी करुणरस की सम्पुष्टि में पूरा योगदान देते हैं। यद्यपि वात्सल्य को पृथक् रस के रूप में प्राचीन शास्त्रीय मान्यता प्राप्त नहीं है, फिर भी साहित्य दर्पणकार ने जिन युक्तियों के आधार पर वात्सल्य के स्वतन्त्र अस्तित्व का अनुमोदन किया है[2], उसकी अनुभूति उ० च० में कई रूपों में होती है। नाटक के तृतीय अंक में पुत्रीकृत गजशावक के मधुर प्रसंग की अवतारणा में सीता के मातृत्व हृदय का निश्छल अभिव्यंजन सहज संवेद्य है। पंचम अंक में वाल्मीकि आश्रम के अन्तेवासी लव और कुश के ब्रह्मवर्चस्वी स्वरूप को देखकर ज्ञानी जनक का स्थितप्रज्ञ मन भी स्नेह के किसी अज्ञात अनाम पुलक से चंचल हो उठता है, चिर संतप्त हृदय वात्सल्य की मीठी फुहारों से आर्द्र हो जाता है :—

मनो मे सम्मोहस्थिरमपि हरत्येष बलवान्
अयोधातुं यद्वत् परिलघुरयस्कान्तशकलः[3]।

---

१. उ० च०—१।२७
२. सा० द० ३।२३१—पृष्ठ २११
३. उ० च०—४।२१

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इसी प्रकार लवकुश के निसर्गललित रूप को देखकर कौशल्या की सदियों सूखी छाती में वात्सल्य का क्षीर पुनः छलछला उठता है और आंचल आंसू से भीग जाता है :—

पुनरपि शिशुर्भुतो वत्सः स मे रघुनन्दनो,
झटिति कुरुते दृष्टः कोऽयं दृशोरमृतांजनम्[1] ॥

लवकुश की इस अविचारित रमणीय आकृति को देखकर युद्धभूमि में भी राम का पितृहृदय स्नेह रस से सिक्त एवं आप्लुत हो जाता है। कालिदास के दुष्यन्त की सूखी सूनी गोद भी बालक सर्वदमन के पदरज से इसी प्रकार पूत एवं धन्य हुई है[2]। भवभूति का वात्सल्य भाव जनन्तर स्नेह सिद्धान्त पर अवलम्बित है। उनका कथन है कि कोई अनिर्वचनीय अज्ञात हेतु ही प्राणियों के अन्तस्तत्त्वों को सम्बन्धित करता है :—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं,
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः[3] ॥

इस प्रकार उ० च० में वात्सल्य का भी सम्यक् परिपाक यत्र तत्र हुआ है, किन्तु उसका पृथक् स्वाद नहीं मिलता वह अंगीरस की निष्पत्ति में पूर्णतः लीन दिखाई देता है।

हास्य की अपूर्णता

जहाँ तक हास्य रस की स्थिति है, वह पूर्ण विकसित एवं सम्पन्न नहीं है। इसका यही कारण है कि भवभूति की गम्भीर प्रकृति हास्य रस के अनुकूल नहीं थी और कदाचित् इसीलिए उन्होंने उ० च० में विदूषक जैसे विनोदी पात्र की अवतारणा नहीं की। फिर भी भवभूति ने जहाँ कहीं भी उदात्त हास्य की अवतारणा की है, वहाँ उन्होंने अपनी भींगी भावुकता का परिचय दिया है। सीता ने जो चित्र दर्शन प्रसंग में ऊर्मिला को लक्षितकर लक्ष्मण से पूछा है कि—'वत्स इयमपरा का', वह स्वस्थ हास्य का निदर्शन नहीं कहा जा सकता, बल्कि वह एक शिष्ट मधुर-

१. वही,—४।१९

२. अ० शा०—राजा—स्पृहयामि खलु दुर्ललितायास्मै। (निश्वस्य)
आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन्।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवन्ति ॥—कालिदास—७।१७

३. उ० च०—६।१२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

परिहास मात्र है। नाटक के चतुर्थ अंक में यज्ञीय अश्व को देखकर ब्रह्मचारी बटुओं की जो कुछ बाल सुलभ अव्यक्त मधुर उक्तियाँ निःसृत हुई हैं, निसन्देह उससे एक स्वस्थ एवं उदात्त हास्य की निष्पत्ति होती है[1]। जीवन जगत् से पूर्णतः अनभिज्ञ भोले बालकों की ऐसी सरल अभिव्यक्तियाँ विज्ञ जनों के शाश्वत् विनोद की दुर्लभ निधि हैं। किन्तु भवभूति का मर्यादित हास्य स्मिति की सीमा रेखा से आगे नहीं जाता, वह सहृदय मानस में वात्सल्य का कमल खिलाकर सहसा तिरोहित हो जाता है।

भवभूति की रस-क्षमता का सामान्य मूल्यांकन

इसके अतिरिक्त उ० च० में वीररस की भी अपूर्व निष्पत्ति हुई है। इसकी सजीव अवतारणा में परिणतप्रज्ञ भवभूति की दर्पस्फीत वाणी का अद्भुत चिद्-विलास सर्वथा स्तुत्य है। संस्कृत नाट्यपरम्परा में भवभूति के पूर्ववर्त्ती एवं परवर्त्ती नाट्यसाहित्य में भी वीररस की प्रौढ़ निष्पत्ति हुई है, किन्तु वे सभी भवभूति की तेजोदृप्त प्रतिभा के आगे श्रीहत प्रतीत होती हैं। उ० च० का पंचम और षष्ठ अंक इसका उज्वल निदर्शन है। यद्यपि नाटकीयता के अनुरोध से युद्धभूमि का सारा प्रसंग विष्कम्भक में विद्याधरी के मुँह से अभिव्यक्त कराया गया था इसीलिए रंगमंच पर कहीं भी युद्ध की विभीषिका नजर नहीं आती, किन्तु वर्णन प्रसंग में समर्थ शब्दों के विनियोग से युद्ध का सजीव चित्र सामने अवतरित हो जाता है। लव और कुश के स्वरूपवर्णन में भवभूति ने जिन दो चार तपःपूत एवं अछूते उपमानों का विनियोग किया है वे वीरता के समस्त ऐश्वर्य को अभिव्यंजित करने में सर्वथा अलम् हैं[2]। यद्यपि नाटकीयता की दृष्टि से उ० च० में वीररस की ऐसी सर्वसमर्थ एवं स्वतन्त्र निष्पत्ति अनपेक्षित ही प्रतीत होती है, क्योंकि नाटक में वे

---

१. वही,— पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं, तच्च धूनोत्यजस्रः,
दीर्घग्रीवः स भवति, खुरास्तस्य चत्वार एव।
शष्पाण्यत्ति, प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाश्रमात्रान्,
किं व्याख्यानैर्व्रजति स पुनर्दूरमेद्धे हि यामः ॥ ४।२६

२. उ० च०— त्रातुं लोकानिव परिणतः कायवानस्त्र वेदः
क्षात्रो धर्मः श्रित इव तनुं ब्रह्मकोशस्य गुप्त्यै।
सामर्थ्यानामिव समुदयः, सञ्चयो वा गुणाना-
माविर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः ॥ ६।१९

× × × ×

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्वसारा,
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपिगिरिवद्गुरुतां दधानो,
वीरो रसः किमयमित्युत दर्प एव ॥ ६।१९

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

ही तत्त्व महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं जो नाटकीय कार्यव्यापार में कोई गति प्रदान कर सके। किन्तु ऐसे अंक जो वस्तु विकास, पात्र-चित्रण तथा रसपरिपाक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं वे प्रायः सूच्य ही माने जाते हैं। ऐसे प्रसंगों को विष्कम्भकों आदि के माध्यम से सूचित कर दिया जाता है अथवा उसकी अन्यथा प्रकल्पना कर दी जाती है[1]। उ० च० का अंगीरस करुण है और शेष अन्य अवान्तर रस उसके अंग ही माने जायंगे। अंगी और अंगभूत रसों में समवाय सम्बन्ध होना अनिवार्य है। क्योंकि अंगभूत रसों की योजना अंगीरस को समृद्ध करने के लिए ही होती है। किन्तु जहाँ अंगभूत रस अंगीरस से पृथक् होकर स्वतन्त्र आस्वाद का विषय हो जाता है वहाँ नाटकीय कार्यव्यापार की प्रभावान्विति खण्डित हो जाती है। उ० च० में वीररस की यही स्थिति है। अंगीकरुण की सिद्धि एवं पुष्टि में इसका कोई विशिष्ट योगदान नजर नहीं आता। भले ही कविता की दृष्टि मे इसका महत्त्व आँका जा सकता है, किन्तु नाटकीय कार्यव्यापार की प्रभावान्विति की दृष्टि से इसका महत्त्व नगण्य ही माना जायेगा।

उ० च० के अन्तिम अंक में अद्भुत रस की बड़ी ही कलात्मक निष्पति हुई है। नाटक की निर्वहण सन्धि में मुख्यरूप से अद्भुत रस की योजना का शास्त्रीय विधान भी है[2]। कदाचित् पाठकों की कुतुहल वृत्ति के परितोष के लिए तथा कथानक के विखरे हुए तन्तुजाल को सुलझाने तथा एकान्वित करने के लिए नाटकान्त में किसी अलौकिक दृश्य अथवा घटना की कल्पना, सुविधाजनक होती है, इसलिए प्रायः सभी नाटककारों ने निर्वहण सन्धि में अनिवार्यतः अद्भुत रस का समावेश भी किया है, किन्तु उ० च० के गर्भांक नाटक में अद्भुत रस की योजना भवभूति के भावप्रवण व्यक्तित्व की अपूर्व देन है। यह जितना ही कलापूर्ण है उतना ही प्रभावशाली एवं परितोषकारी भी। वाल्मीकि के तपः तेज से सारा स्वप्न प्रत्यक्ष में वदल जाता है—नाटक इतिहास में परिणत हो जाता है। यहाँ अद्भुत रस मूल करुण की सम्पुष्टि में पूर्णतः विलीन है। भवभूति ने कदाचित् इसीलिए इसे 'करुणाद्भुत रस' की नवीन संज्ञा से अभिहित भी किया है।

सूत्रधार :—(प्रविश्य) भगवान्भूतार्थवादी प्राचेतसः स्थावरजंगमं जगदाज्ञापयति—'यदिदमस्माभिरार्षेण चक्षुषा समुद्वीक्ष्य पावनं वचनामृतं करुणाद्भुतरसं च किंचिदुपनिबद्धम्। तत्र काव्यगौरवादवधातव्यम्' इति[3]।

---

१. दश०— यत्स्यादनु चितं किञ्चित् नायकस्य रसस्य वा,
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।

२. अंगमन्ये रसाः सर्वे कार्यं निर्वहणेऽद्भुतम्—सा० द०

३. उ० च०—सप्तम अंक—पृ० ४८२

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

इस प्रकार उ० च० में का मूल अंगीरस करुण है, और शेष अवान्तर रस अंग रूप से उसकी पुष्टि एवं समृद्धि में सतत योगदान देते हैं। जहाँ तक भवभूति की रसात्मक क्षमता का प्रश्न है वह निःसन्देह अपूर्व और अनन्य साधारण है। वह जितना ही गम्भीर एवं सान्द्र है—प्रभाव की दृष्टि से उतना ही तरल एवं प्रभावशाली भी। यों वे मूलतः करुण के ही रससिद्ध कलाकार माने जाते हैं, फिर भी उन्हें कदाचित् हास्य रस को छोड़कर शेष सभी रसरूपों की सृष्टि में समान सफलता मिली है। चाहे करुण हो या शृङ्गार, वीर हो या वीभत्स—उसके निबन्धन में भवभूति पूर्ण सिद्धहस्त हैं। भवभूति की रसाभिव्यक्ति में उनकी सात्विक अनुभूति एवं समर्थ अभिव्यक्ति का मणिकाँचन योग है। किसी भी अव्यक्त भाव को रूप प्रदान करने में उनकी निसर्ग सिद्ध सरस्वती जितनी सक्षम है—उसके संप्रेषण में भी उतनी ही समर्थ एवं निपुण है। उनकी वाणी के सम्पर्क से कोई भी भाव सहज ही रसरूप में परिणत हो जाता है। इसके लिए उन्हें कोई आयास नहीं करना पड़ता। वे जटिल से जटिल एवं सरल से सरल मनोभावों की सफल अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ हैं। किन्तु कभी-कभी जब उनका भावप्रवण हृदय मुक्तभाव से कहीं बरसने लगता है तो वे वहाँ अपने को सहसा रोक नहीं पाते। वे घंटों उसी भाव सरिता में संतरण का आनन्द लेने लगते हैं। उत्तरचरित का समस्त तृतीय अंक इसका उज्जवल प्रमाण है। महाकवि कालिदास और भवभूति की रसदृष्टि का यह भेद कितना स्पष्ट है कि जहाँ कालिदास सर्वसमर्थ होकर भी अभिव्यक्ति की संवृति में ही भावों की पूर्ण विवृति मानते हैं, वहाँ भवभूति अभिधा की प्रगल्मता एवं अभिव्यक्ति की अनियन्त्रित विवृति के पूर्ण एवं प्रबल पक्षपाती हैं। नाटकीय रसपरिपाक की दृष्टि से नाटककार का अनियन्त्रित हृदय का होना एक अक्षम्य अपराध माना जाता है। क्योंकि नाट्यकला पूर्णतः संयम और शील की भाषा है, जीवन और जगत् की नपी-तुली परिभाषा है। भवभूति की आलोक सामान्य करुणा ने युगों से सहृदयों को बलात् आवर्जित किया है, उन्हें रुलाया है किन्तु कभी-कभी उद्वेजित भी किया है। फिर भी इनकी करुणा में एक अपूर्व सम्मोहन है, एक अद्भुत प्रभाव है—इसे कोई भी सचेता सहसा अस्वीकार नहीं कर सकता :—

'तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते'

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय ६

भाषा-शैली

शैली का अर्थ

अपने वक्तव्य को सुन्दर तथा प्रभावशाली बनाने के लिए रचना में जिस कौशल का विनियोग किया जाता है—उसे शैली कहते हैं। यह अभिव्यक्ति की वैयक्तिक विधा है, इसका आन्तरिक सम्बन्ध कलाकार के व्यक्तिगत शील एवं स्वभाव से रहता है। वस्तुतः व्यक्ति का शील-स्वभाव ही अभिव्यक्त होकर शैली में परिणत हो जाता है। यों कुछ हदतक रचना का बाह्य प्रकार तथा प्रतिपाद्य विषय भी रचनाकार की शैली को प्रभावित और अनुशासित करता है, आनन्दवर्द्धन ने शैली के नियामक तत्त्वों में रस के अतिरिक्त वक्ता, वाच्य तथा विषय के औचित्य को भी स्वीकार किया है[1], किन्तु वहां भी मूलतः कवि का अपना शील-स्वभाव ही प्रधान होता है। महाकवि कालिदास का कवि-स्वभाव अत्यन्त सुकुमार और मधुर है, प्रकृति प्रेम, शृङ्गारिक माधुर्य तथा उपमा की भाषा उनकी अभिव्यक्ति शैली के तीन मूल तत्त्व हैं। इसलिए उनकी सुकुमार लेखिनी से कभी भी ओजो दृप्त तथा कठोर रचना संभव न हो सकी, वीर, भयानक तथा करुण रस के प्रसंग में भी कवि अपने स्वभावगत शृङ्गारिक-माधुर्य तथा प्रकृति-प्रेम को नहीं पचा सका है। रघुवंशम् में राजा रघु की दिग्विजय यात्रा में युद्ध की विभीषिका का हमें अनुभव नहीं होता, हाँ अपने देश की बहुवर्णी प्रकृति का नयनाभिराम चित्र अवश्य दृष्टिगोचर हो जाता है। अयोध्या की दुर्दशा को चित्रित करते समय कवि की जन्मजात शृङ्गारिक प्रकृति वर्ण्य-विषय के ऊपर छा जाती है :—

स्तम्भेषु योषितप्रतियातनानामुत्कान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः[2] ॥

अर्थात्—'राज प्रासाद के खम्भों में पहले जिन रुपसी रमणियों की मुर्त्तियां बनी हुई थी, उनका रंग अब उड़ गया है। उन खम्भों को चन्दन-वृक्ष समझकर जो विषधर भुजंग उनसे लिपटे हुए हैं, उनकी केंचुले छूटकर उन मूर्त्तियों से सट

१. ध्वन्या०—रसास्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः।
विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति ॥ ३।६२

२. रघु०—१६।१७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

गई हैं—मानो, उन स्त्रियों ने अपने निरावृत स्तनों को ढंकने के लिए ऊपर से कोई झीना रेशमी कपड़ा डाल दिया है'। यहां सांप की सूखी भयावनी केंचुल कवि की कोमल शृङ्गारिक प्रकृति के स्पर्श से सरस स्तनोत्तरीय बन गई हैं। निश्चय ही अयोध्या के खण्डर की भयंकरता, विद्रूपता एवं कारुणिकता रमणी के सरस स्तनोत्तरीय में छिपकर कुछ कोमल और मधुर हो गई हैं। अतएव कवि का वैयक्तिक शील-स्वभाव ही उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त होकर शैली की आख्या ग्रहण करता है, और वही प्रधान होता है।

शैली में व्यक्तित्व की प्रधानता

जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने किसी गुणविशेष के कारण लोक-समाज में जाना पहचाना जाता है, उसी प्रकार कोई कवि या नाटककार भी अपने शैली विशेष के कारण अपनी रचनाओं में जाना पहचाना जाता है। उनकी कृतियों के विश्लेषणात्मक अध्ययन से उनके स्वभाव तथा रुचि-वैचित्र्य का अवबोध आसानी से हो सकता है। जिस प्रकार कोई दो व्यक्ति अपनी रूपाकृति तथा शील-स्वभाव में परस्पर भिन्न होता है, उसी प्रकार कोई दो कवि या नाटककार भी अपनी अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं। इसीलिए दण्डी ने रचना-पद्धति को प्रतिकविस्थित मानकर उसके भेदों की अनन्तता एवं विचित्रता की ओर इंगित किया है[1]। वस्तुतः शैली कवि या लेखक का शीलगत धर्म है जो उसकी अभिव्यक्ति की प्रत्येक विधा में संस्कार रूप से विद्यमान रहती है। कोमल, कठोर, भावुक या चिन्तन शील कवि अपनी रचनाओं में भलीभांति अवतरित हो जाता है। मनुष्य की विचारधारा जब उसकी मुखाकृति, वेशभूषा तथा क्रिया-कलाप तक को मोड़ देती है, तब यदि उसकी अन्तःप्रकृति उसकी भाषाशैली को प्रभावित एवं अनुशासित करे—तो इसमें आश्चर्य ही क्या? आदमी अपनी प्रकृति के अनुसार ही किसी बात को सोचता और समझता है और वह जिस रूप में सोचता है—अन्ततः उसी रूप में ढलता भी है इसलिए कोमल-पुरुष प्रकृति के अनुरूप ही उसकी अभिव्यक्ति-शैली भी कोमल-पुरुष हुआ करती है।

स्टाइल, शैली, मार्ग और रीति का विवेचन

शैली शब्द अंग्रेजी के 'स्टाइल' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। यों पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से यह विशुद्ध संस्कृत शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति शील शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ होता है—सद्भाव। कवि स्वभाव की अभिव्यक्ति पद्धति साहित्य में शैली कहलाती है। आचार्य कुन्तक ने इसे ही "कवि प्रस्थान

१. काव्या०—तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कविस्थिताः। १०१

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

हेतु" कहा है[1]। यद्यपि शैली शब्द का प्रयोग भारतीय वाङ्मय में व्याकरणभाष्य की विशिष्ट प्रणाली, आचार तथा व्याख्यान पद्धति आदि कई अर्थों में प्राचीन काल से ही होता आया है—"प्रायेण आचार्याणामियं शैली यत् सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति" इत्यादि,[2] किन्तु अभिव्यक्ति शैली के साहित्यिक अर्थ में शैली शब्द का प्रयोग भारतीय आलोचनाशास्त्र में आधुनिक ही है। भारतीयशास्त्र में शैली के "स्टाइल" अर्थ से मिलता-जुलता प्राचीन शब्द रीति एवं मार्ग आदि हैं, किन्तु इन शब्दों के वास्तविक अर्थ, तथा उनके स्वरूप एवं सीमा निर्धारण में आचार्यों में इतना मतभेद रहा है कि इसकी अर्थव्याप्ति का वास्तविक अवबोध होना कठिन हो जाता है। भामह से लेकर पण्डिराज जगन्नाथ तक रीति शब्द की अर्थ व्यवस्था पर विचार करने वाले आचार्यों में सबसे प्रसिद्ध वामन हैं जिसने रीति को काव्य की आत्मा घोषित कर इसकी सर्वाधिक प्रतिष्ठा की है[3]। आचार्य वामन के अनुसार विशिष्ट पदरचना रीति कहलाती है। इस विशिष्टता का सम्बन्ध गुणों से है और गुण का तात्पर्य काव्य शोभाकारक धर्म से है। वामन के गुण शब्द सौन्दर्य और अर्थ दोनों प्रतीक हैं—इस प्रकार शब्द और अर्थगत सौन्दर्य से युक्त पद संघटना को वामन ने रीति कहा है[4]। यह रीति तीन प्रकार की होती है—वैदर्भी, गौडी और पांचाली, किन्तु इनमें वैदर्भी समग्र गुणों से विभूषित होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है[5]। यद्यपि वामन ने रीति के वर्ग विभाजन में प्रादेशिक विशेषताओं का प्रत्याख्यान किया है,[6] फिर भी उसके नामकरण में प्रादेशिक विशेषताओं का संस्कार मूलतः विद्यमान ही है। वामन के रीति सिद्धान्त में व्यक्ति तत्त्व की अभिव्यंजना का अभाव है, क्योंकि इन्होंने रीति को पदसंघटना मानकर भी गुणों को ही उसका मूल तत्त्व स्वीकार किया है। इस प्रकार रीति के विषय में वामन का अभिमत वस्तुपरक ही समझना चाहिये।

आनन्दवर्धन का विचार

वामन के बाद आनन्दवर्धन ने रीति को पद संघटना मानकर भी उसे अंग संस्थान से अधिक महत्त्व प्रदान नहीं किया है। उनके अनुसार रीति का स्वरूप

---

१. व० जी०—सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः। १।२४
२. कुल्लुक भट्ट की टीका—मनुस्मृति–१।४
३. का० सू०—रीतिरात्मा काव्यस्य–१।२।६
४. वही, विशिष्टपदरचना रीतिः–१।२।७, विशेषो गुणात्मा–१।२।८
काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः–३।१।१
५. वही, सा त्रेधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली च–१।२।९, समग्रगुणा वैदर्भी–१।२।११
६. वही, किं पुनर्देशवशाद् द्रव्यगुणोत्पत्तिः काव्यानां ये नायं देशविशेषव्यपदेशः ?
तौल्यम्–१।२।९–की विवृति।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

निर्धारण समास की स्थिति पर आधारित है। अतः रीति असमासा, मध्यम समासा और दीर्घ समासा के भेद से तीन प्रकार की होती है[1]। यह रीति माधुर्यादि गुणों के आश्रय में स्थित रहकर रस को अभिव्यक्त करती है[2]। आनन्दवर्धन ने रीति के नियामक तत्त्वों में रस के अतिरिक्त वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य को प्रधान रूप से स्वीकार किया है[3]। उनके अनुसार वक्ता के स्वभाव एवं मनःस्थिति के अनुकूल ही रीति का प्रयोग करना आवश्यक है। वाच्यौचित्य से इनका आशय वर्ण्य विषय से है, अगर वर्ण्य विषय कोमल या परुष है तो उसकी वर्णन शैली में भी सुकुमारता या परुषता अपेक्षित है। विषय औचित्य से इनका तात्पर्य विभिन्न काव्यरूपों से है। महाकाव्य तथा नाटक आदि काव्यरूपों का प्रभाव उनकी रचना शैली पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता ही है। यद्यपि ध्वनिकार के इस दृष्टिकोण से असहमत होने की कोई गुंजाइस नहीं है, फिर भी रीति के विवेचन में इनका दृष्टिकोण भी मूलतः वस्तुपरक ही समझना चाहिये।

दण्डी एव कुन्तक का व्यक्तिवादी स्वर

वामन से पूर्व दण्डी ने तथा वामन के बाद कुन्तक ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया है[4]। रीति के विवेचन में जहाँ वामन और आनन्दवर्धन वस्तुवादी प्रतीत होते हैं, वहाँ दण्डी और कुन्तक ने निर्भ्रान्त शब्दों में रीति (मार्ग) में व्यक्ति तत्त्व की सत्ता और महत्ता प्रतिपादित की है। इसी व्यक्ति तत्त्व की प्रधानता के कारण दण्डी ने मार्ग को 'प्रतिकविस्थित' स्वीकार किया है[5], और कुन्तक ने तो इसे 'कविप्रस्थानरेतु' ही घोषित किया है। कुन्तक ने काव्य में कवि स्वभाव को प्रमुख मानकर मार्ग के तीन भेदों का प्रतिपादन किया है—सुकुमार, विचित्र और मध्यम। यद्यपि मार्ग के विवेचन में कुन्तक ने बड़े जोरदार शब्दों में प्रादेशिक एवं कालिक विशेषताओं का प्रत्याख्यान किया है[6], किन्तु व्यापक दृष्टि से विचार करने

---

१. ध्वन्या०—असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासा च त्रिधा संघटनोदिता॥ ३।६१

२. ध्वन्या०—गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा—३।६२

३. वही, ३।६२

४. काव्या०—अस्त्यनेकों गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्—४०
व० जी०—सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कवि प्रस्थान हेतवः। १।२४

५. काव्या०—इति मार्ग द्वयं भिन्नं तत्स्वरूपं निरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कविस्थिताः॥ १०१

६. व० जी०—न च विशिष्टरीतियुक्तत्वेन काव्यकरणं मातुलेयभगिनीविवाहवद् देशधर्मतया व्यवस्थापयितुं शक्यम्……तस्मिन् सति तथाविधकाव्यकरणं सर्वस्य स्यात्…
इत्यादि, पृ० ९९।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पर यह सर्वथा असंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि शैली (मार्ग) के निर्माण में जिस कवि-व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है—उस कवि-व्यक्तित्व के निर्माण में देशकाल का प्रभाव भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रहता ही है। फिर भी कवि स्वभाव के आधार पर मार्ग शब्द का विवेचन अत्यन्त मौलिक और महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार मार्ग के विवेचन में कुन्तक का दृष्टिकोण सर्वथा व्यक्तिपरक और वैज्ञानिक है।

शैली के दो मूलभूत तत्त्व

उपर्युक्त विवेचन के अधार पर शैली के दो मूलतत्त्व सिद्ध होते हैं—एक व्यक्ति तत्त्व और दूसरा वस्तु तत्त्व। भारतीय आलोचनाशास्त्र में वामन तथा आनन्दवर्धन ने शैली (रीति) के वस्तु तत्त्व का ही विवेचन किया है, किन्तु दण्डी तथा कुन्तक आदि आलंकारिकों ने इसके व्यक्ति तत्त्व को वांछित महत्त्व प्रदान किया है। वास्तव में शैली के वस्तु तत्व एवं व्यक्तितत्वों में व्यक्ति तत्व ही प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण है। व्यक्तितत्व के द्वारा ही रचनाकार शैली के बाह्य उपकरणों का समन्वय कर अपने अंतस् को अभिव्यंजित करता है। आधुनिक शैली शब्द अंग्रेजी के जिस 'स्टाइल' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है उसका मूलाधार यही व्यक्ति तत्व है। 'स्टाइल इज दि मेन' आदि सिद्धान्त वचनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। अतः आधुनिक शैली शब्द प्राचीन संस्कृत आलोचनाशास्त्र के मार्ग शब्द से बिल्कुल अभिन्न प्रतीत होता है। यों कुछ विद्वानों ने दोनों को अभिन्न मानने में आपत्ति प्रदर्शित की है। उनका कहना है 'भारतीय रीति में व्यक्तितत्त्व का अभाव है और व्यक्तितत्व शैली का मूलाधार है अतः दोनों को एक मानना भ्रान्ति है' किन्तु रीति के स्थानापन्न मार्ग शब्द के साथ शैली शब्द की अभिन्नता प्रतिपादित की जा सकती है। शैली का व्यक्तितत्त्व दण्डी और कुन्तक के मार्ग शब्द में पूर्ण रूपेण विद्यमान है। दण्डी ने काव्यमार्ग को 'प्रतिकविस्थित' मानकर व्यक्तितत्त्व का ही व्याख्यान किया है। कुन्तक ने तो मुक्त कण्ठ से कवि स्वभाव को ही शैली का मूलाधार घोषित किया है। इसके बाद भावप्रकाश में शारदातनय ने 'पुंसि-पुंसि विशेषेण काऽपि-काऽपि सरस्वती' घोषित कर इसी व्यक्तितत्व की प्रतिष्ठा की है। यद्यपि भारतीय आलोचनाशास्त्र के मूर्धन्य समालोचक आनन्दवर्द्धन ने भी रस के विवेचन में व्यक्तितत्त्व को उचित महत्त्व प्रदान किया है, किन्तु रीति के विवेचन में उनका दृष्टिकोण अत्यन्त संयमित ही दीख पड़ता है। इस सम्बन्ध में कुन्तक की दृष्टि अत्यन्त आधुनिक प्रतीत होती है और कुन्तक के मार्ग शब्द को 'स्टाइल' अर्थ में प्रयुक्त वर्तमान शैली शब्द के साथ मजे से खड़ा किया जा सकता है।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

भवभूति की भाषाशैली का विवेचन

शैली शब्द की इस शास्त्रीय पृष्ठभूमि में भवभूति की भाषाशैली का विवेचन यहाँ अपेक्षित है अतः सर्वप्रथम इस संदर्भ में भवभूति की नाट्यशैली सम्बन्धी अपनी मान्यताओं पर ही विचार करना अधिक समीचीन होगा। भवभूति ने सौभाग्य से अपनी तीनों नाट्य कृतियों में अपनी भाषा शैली के सम्बन्ध में यत्किंचित् निर्देश किया है। मालतीमाधव में अपनी उदात्त नाट्यशैली का आदर्श बताते हुए उन्होंने लिखा है कि 'भाषा का प्रौढत्व, उदारता तथा अर्थगौरव ही पाण्डित्य और वैदग्ध्य के परिचायक हैं। नाट्य रचना में किसी अन्य शास्त्रीय ज्ञान तथा दार्शनिक पाण्डित्य की कोई आवश्यकता नहीं होती :—

यद्वैदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चित् गुणो नाटके।
यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम्
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः[1] ॥

यहाँ पाण्डित्य और वैदग्ध्य दोनों पद बिल्कुल साभिप्राय हैं। ये दोनों पद कवि-व्यक्तित्व के दो तत्वों की अभिव्यंजना करते हैं। पाण्डित्य में बुद्धितत्व और वैदग्ध्य में हृदयतत्त्व की प्रधानता होती है। एक का सम्बन्ध कला के वस्तुपक्ष से है तो दूसरे का भाव पक्ष से। बुद्धि से हम किसी वस्तु पर व्यवस्थित होकर विचार करते हैं और हृदय से हम उसके निखिल सौन्दर्य का भादन एवं आस्वादन करते हैं। भवभूति के अनुसार वस्तु एवं भाव दोनों तत्त्वों के मधुर परिपाक एवं सम्यक् विनियोग से ही किसी श्रेष्ठ कलाकृति की उद्भूति होती है। मात्र पाण्डित्य प्रदर्शन की बात नाटक के अन्तर्गत नहीं आती और अगर ऐसा होता तो वेद, उपनिषद्, सांख्य-योग आदि शास्त्रों का वैदुष्य भी आदर्श नाट्यशैली के लिए आवश्यक माना जाता। नाटक तो सहृदयहृदयाह्लाद के लिए रचा जाता है, इसलिए यहाँ शास्त्रीय पाण्डित्य को वैदग्ध्य के सख्य अथवा दास्यभाव में ही रहना होता है। फिर भी पाण्डित्य एवं वैदग्ध्य के सहभाव से ही नाट्यशैली में प्रौढि, उदारता तथा अर्थगौरव इन तीन गुणों का समन्वय होता है जो उदात्त नाट्यशैली के लिए अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है।

पाण्डित्य और वैदग्ध्य का मूल्यांकन

भवभूति की उदात्त नाट्यशैली में निसर्गतः प्रतिभा और पाण्डित्य का, स्वाध्याय एवं संस्कार का, विदग्धता तथा विचित्रता का मणिकांचन योग घटित हुआ है। उन्होंने जिन नाटकीय गुणों को पाण्डित्य एवं वैदग्ध्य का परिचायक कहा है, वे

१. मालती माधव—१।८

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सभी गुण उनकी नाट्यकृतियों में न्यूनाधिक रूप से यथास्थान विनिवेशित हुए हैं। जहाँ तक विदग्धता का प्रश्न है, निश्चय ही यह भाषाशैली का एक सर्वश्रेष्ठ गुण है, इससे किसी भी साहित्य स्रष्टा की प्रातिभ ऊर्जा व्यक्त होती है। यों सामान्यतः कवि-कर्म-निर्वाह की निपुणता को विदग्धता की संज्ञा दी जाती है किन्तु वाणी की भंगिमा, उक्तिचातुर्य तथा सारगर्भित कथन आदि गुण विदग्धता या विचक्षणता के उज्वल प्रमाण हैं विदग्धता की उपयोगिता एवं प्रभावोत्पादकता विशेषकर नाट्यकला की संवादशैली में परिलक्षित होती है। उ० च० के तृतीय अंक में सीतानिर्वासन से विक्षुब्ध वासन्ती द्वारा राम को दिये गये उपालम्भों में भवभूति की विदग्धता की अच्छी निष्पति हुई है :—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमंगे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण[1]॥

अर्थात् 'हे देव! पहले तो आपने उस भोली भाली सीता को ऐसी चाटूक्तियों से फुसलाया कि तुम मेरे प्राण हो, तुम मेरा दूसरा हृदय ही हो, तुम मेरे नयनों की चाँदनी हो और तुम्हारा प्रत्येक स्पर्श मेरे लिए अमृत रसायन है, किन्तु बाद में— हाय! उसी तपस्विनी को आपने……। अथवा जाने दीजिए, अब उसे कहने से लाभ ही क्या? वासन्ती के इस क्षोभपूर्ण उपालम्भ में अन्तर्गूढ व्यथा का कैसा तीव्र दर्शन है? फिर भी पदावली कितनी सरल और स्वाभाविक हैं? श्लोक के अन्तिम चरण में तो कवि ने वासन्ती के मुँह से कुछ भी न कहलाकर मानों सब कुछ कहला दिया है। यहाँ अभिव्यक्ति की संवृत्ति में ही भावों की पूर्ण विवृत्ति हुई है। नाटकीय वस्तु-व्यापार की उपयोगिता एवं प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से इस वेदग्ध्यपूर्ण उपालम्भ का सीता के विक्षुब्ध उन्मन मन पर बड़ा ही प्रशमनकारी प्रभाव पड़ता है। भवभूति के अनुसंधित्सुओं को इस प्रकार उ० च० में शैलीगत विदग्धता की अनन्त रत्न राशि बिखरी पड़ी मिलेगी।

भवभूति की भाषाशैली में विदग्धता के साथ पाण्डित्य का मधुर परिपाक हुआ है। ये दार्शनिक जगत् के प्रथम श्रेणी के पंडित थे। इन्होंने कुमारिल के 'श्लोक वार्त्तिक' तथा मंडन मिश्र के 'भावना विवेक' जैसे ग्रन्थों पर विद्वतापूर्ण टीका लिखी थी। मा० मा० के 'यद्वैदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च' वाले पद्य से पता चलता है कि उन्होंने अपनी उज्वल वंशपरम्परा के अनुरूप ही सभी शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन और मनन किया था किन्तु इनकी कलागत जागरुकता का वास्तविक अवबोध हमें वहाँ मिलता है, जहाँ वे नाट्य-रचना के लिए शास्त्रीय

१. उ० च०—३।२६

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पाण्डित्य को अनुपयुक्त घोषित करते हैं। कवि को अपने मार्ग एवं गन्तव्य का सही ज्ञान है। इसलिए नाटक लिखने के पूर्व कवि अपने समस्त शास्त्रीय पाण्डित्य को अच्छी तरह पचाकर एक विशुद्ध साहित्यिक के रूप में परिणत होकर अपनी नाट्य रचना में प्रवृत्त होता है। उनका यह रूप परिवर्त्तन उनके विशुद्ध साहित्यिक व्यक्तित्व एवं कलात्मक दायित्व का उज्वल प्रमाण है। यद्यपि उनकी दार्शनिक प्रतिभा के परमाणु भी यत्र तत्र उनकी नाट्यकृतियों मे उपलब्ध होते हैं, किन्तु वे कहीं भी रसास्वादन में बाधक प्रतीत नहीं होते। सर्वत्र देश, काल, पात्र और परिस्थिति के अनुकूल ही उनका विनियोग हुआ है। जनक, वशिष्ट, अरुन्धती तथा वाल्मीकि आदि ऋषियों की भाषा में यदि दार्शनिक ज्ञान वैभव का संस्कार उपलब्ध होता है तो वह उनके त्रिकालदर्शी व्यक्तित्व के सर्वथा अनुकूल ही है। सबसे अधिक मूल्य की बात यह है कि भवभूति ने उ० च० में कहीं भी अपने शास्त्रीय पाण्डित्य को आरोपित नहीं किया है, संस्कार वश कुछ भावावेश क्षणों में यदि कहीं उसका प्रत्यक्षीकरण होता भी है तो वह भी उनकी आदर्श नाट्यशैली का भूषण ही है। राजर्षि जनक के प्रति भगवती अरुन्धती के द्वारा दिये गये आर्शीवचनों में भवभूति ने वैदिक वाक्य शैली का भव्य आदर्श प्रस्तुत किया है जो पात्र एवं प्रसंग के सर्वथा अनुकूल है—यथा 'अक्षरं ते ज्योतिः प्रकाशताम्। सत्वां पुनातु देवः परोरजसां य एष तपति' इत्यादि[1]। इसी प्रकार भगवान् ऋष्यश्रृङ्ग के आर्शीवचनों की यथार्थता एवं अमोघता को सूचित करते हुए भवभूति ने अरुन्धती के मुंह से कुछ वैदिक छन्दशैली का सफल संविधान किया है :—

आविर्भूत ज्योतिषां ब्राह्मणानां
ये व्याहारास्तेषु मा संशयो भूत्।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता
नैते वाचं विलुप्तार्थां वदन्ति[2]॥

महाकवि कालिदास ने भी शाकुन्तल में महर्षिकण्व की वैदिक प्रकृति को तदनुकूल भाषा प्रदान की है[3]। व्यक्तित्व एवं वातावरण की समस्त प्रकृति को तदनुकूल भाषा शैली द्वारा अभिव्यंजित करना निश्चय ही एक समर्थ नाटककार का अपेक्षित नाट्य कौशल है।

---

१. उ० च०—च० अंक—पृष्ठ ३२५
२. वही, ४।१८
३. अ० शा०— अमी वेदिं परितः कल्पधिष्ण्याः
सभिद्वन्तः प्रान्तः सस्तीर्णदर्भा।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैः
वैतानास्त्वां बह्वयः पावयन्तु॥ ४।१०

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

किन्तु उ० च० में एक आध स्थल ऐसी भी है जहाँ भवभूति की भाषा में दार्शनिक शब्दों का प्रयोग अर्थबोध की दृष्टि से कुछ क्लिष्ट एवं दुरूह प्रतीत होते हैं। यथा—

विद्याकल्पेन मरुता मेघानां भूयसामपि।
ब्रह्मणीव विवर्त्तानां क्वापि प्रविलयः कृतः[1] ॥

प्रस्तुत पद्य में विवर्त शब्द वेदान्त का है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार तत्वज्ञान से यह सम्पूर्ण नाम रूपात्मकप्रपंच ब्रह्म में लीन हो जाता है उसी प्रकार कुमार लव के द्वारा मुक्त वारूणास्त्र से निर्मित मिथ्यात्मक मेघ कुमार चन्द्र केतु के वायव्यास्त्र के प्रभाव से कहीं विलीन हो गया। इस पद्य की समस्त अर्थराशि ब्रह्म और विवर्त इन दो शब्दों के अर्थबोध पर अवलम्बित है, जो निश्चय ही साधारण सहृदयों के भावन व्यापार में गडुभूत सिद्ध होता है। किन्तु इस प्रकार के एक आध दोष उनके शैलीगत सौन्दर्य में तिरोहित हो जाते हैं।

प्रौढि के विभिन्न अर्थ

भवभूति ने जिन तीन गुणों को आदर्श नाट्यशैली का मापदण्ड माना है वे है—प्रौढि, उदारता और अर्थ गौरव। जब कोई नाटककार अपने विवक्षित अर्थ की सफल अभिव्यक्ति समर्थ शब्दों के द्वारा भलीभाँति कर पाता है तब उसकी भाषा में प्रौढि आती है[2]। दण्डी के अनुसार 'प्रौढि' में एक ही साथ कई गुणों का समाहार होता है—पदार्थ प्रतीति के लिए वाक्यार्थ का प्रयोग और वाक्यार्थ बोध के लिए समर्थ पद का प्रयोग, शब्दों की साभिप्रायिकता तथा व्यास शैली एवं समास शैली में रचनाकार की निपुणता आदि गुण भाषा प्रौढि के प्रधान तत्व हैं[3]। भवभूति की भाषाशैली में प्रौढि के इन समग्र गुणों का सहज समावेश हुआ है। समस्त उ० च० में ऐसा एक भी स्थान नहीं जहां वे अपने अभिप्रेत अर्थ की वांछित अभिव्यंजना में समर्थ सिद्ध नहीं हुए हों। किन्तु परिमित पदों द्वारा समस्त वाक्यार्थ बोध की अपेक्षा पदार्थ-प्रतीति के लिए वाक्य प्रयोग की कला में भवभूति विशेष निपुण प्रतीत होते हैं। पदों में वाक्यार्थ की गरिमा को अभिव्यंजित करने की कला में कदाचित् कालिदास जितना कुशल दीखते हैं—उतना भवभूति नहीं। कालिदास थोड़े से चुने हुए शब्दों में अधिकाधिक अर्थ की अभिव्यंजना कर देते हैं किन्तु भवभूति विपुल वाग्विस्तार द्वारा किसी भाव का विशद वर्णन करते हैं।

---

१. उ० च० ६।६

२. विवक्षितार्थनिर्वाहः काव्ये प्रौढिरितिस्मृता—मा० मा० की शेषराजशर्म प्रणीत टीका, पृष्ठ १५

३. काव्या०—पदार्थे वाक्यवचनं, वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिव्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

जहां कालिदास केवल 'मृगाक्षि' शब्द के द्वारा नायिका के नेत्रों की चंचलता, सुन्दरता एवं विशालता आदि गुणों का बोध कराते हैं वहां भवभूति उसमें कई विशेषण जोड़कर उसका विशद अभिधान करते हैं। सीता की आंखों की उपमा उन्होंने एक वर्षीय मृग शावक की भयभीत चंचल आंखों से दी है 'त्रस्तै कहायन कुरंग विलोल दृष्टेः' इस पद्य में सिर्फ कुरंग दृष्टि से उनका काम नहीं चला, अतः 'त्रस्त, एकहायन तथा विलोल' इन तीन विशेषणों के द्वारा उसका विशद चित्रण प्रस्तुत किया है। फिर भी भवभूति के वाच्यार्थ की प्रगल्भता कालिदास की व्यंग्यार्थगर्भा शैली से कम रमणीय नहीं है।

व्यास और समास शैली

जहां तक भाषा की व्यास शैली और समास शैली का प्रश्न है—भवभूति दोनों ही शैलियों के सिद्धहस्त कलाकार हैं। वे जिस अधिकार और कौशल के साथ,

'ज्याजिह्वयावलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रमुद्भूरिघोरघनघर्घरघोषमेतत्।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रलीलाविडम्बिविकटोदरमस्तचापम्[1] ॥

जैसी निविडतम समास शैली का विकटबन्ध प्रस्तुत कर सकते हैं, उसी अधिकार के साथ तथा उतनी ही निपुणता से वे कोमल व्यस्त पदावली का प्रसन्न प्रयोग भी कर सकते हैं—इस प्रसंग में भवभूति का यह अनुष्टुप् द्रष्टव्य है :—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति[2]।

यहां राम के अलोकसामान्य व्यक्तित्व को अत्यन्त सहज ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। इसमें एक दैवी सरलता है। इस पद्य में एक भी समास नहीं, एक भी श्रमसाध्य अलंकार नहीं, फिर भी भाषा कितनी प्रसन्न और प्रांजल है?

उ० च० के पंचम और षष्ठ अंकों में भयंकर युद्ध का ओजोदृप्त, तथा समास-भूयिष्ठ वर्णन, तथा द्वितीय अंक में प्रकृति के प्रचंड भैरव दृश्यों का रोमहर्षक चित्रण भवभूति की निविडतम समास शैली के उज्वल निदर्शन हैं[3]। यद्यपि नाटकीय रंगमंच पर युद्ध का दृश्य प्रदर्शन वर्जित है किन्तु भवभूति के समास संकुल, ओजोगुण विशिष्ट और सशक्त वर्णन शैली में युद्ध की सारी विभीषिका मंच पर मूर्त्त रूपधारण कर लेती है। किन्तु वही कवि जब कोमल प्रसंगों की अवतारणा में व्यस्त पदावली तथा सरल-सुगम शैली का विनियोग करता है तो उसकी असाधारण प्रतिभा पर विस्मय विमुग्ध हो जाना पड़ता है :—

---

१. उ० च० ४।२९
२. वही, २।३७
३. वही, २।१६, २।२९, ५।९, ५।१२, ५।१४, ५।३५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।
पुरो वा पश्चाद् वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते[1] ॥

इस श्लोक में एक भी समास नहीं है, फिर भी साधु स्वभाव का परिचय सरल मधुर शैली में कितना स्वच्छ और स्पष्ट उतरा है ?

जहाँ तक विवक्षित अर्थ को समर्थ शब्दावली में अभिव्यंजित करने का प्रश्न है, भवभूति इस कला में परम प्रवीण हैं। दुरुह से दुरुह मनोभावों तथा सूक्ष्माति सूक्ष्म मनोविकारों को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने सर्वत्र ही समर्थ शब्दों का विनियोग किया है। भाव के अनुरूप भाषा के प्रयोग में उनकी प्रतिभा सर्वत्र अप्रतिम ही नजर आती है। बारह वर्षों के सुदीर्घ विप्रयोग के बाद दण्डकारण्य में दुःखिनी सीता जब अपने प्राणवल्लभ, विरह विह्वल राम को सहसा देखती है तो उसके मन की एक अनिर्वचनीय दशा हो जाती है। भवभूति ने सीता के उन्मन मन की उस अव्यक्त एवं भाव गम्य दशा को जो प्राणवन्त भाषा प्रदान की है वह उनकी भाषा प्रौढि का उज्ज्वल प्रमाण है :—

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशात्
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव[2] ॥

तमसा सीता से कह रही है—'बेटी ! इस समय तुम्हारा हृदय पुनः समागम की आशा न रह जाने के कारण उपेक्षामय, अकारण परित्याग से विषादपूर्ण, दीर्घ वियोग में अचानक भेंट हो जाने से नितान्त स्तब्ध, राम के सौजन्य से प्रसन्न, उनके करुण विरहोदगारों से अत्यन्त शोकाकुल तथा निरतिशय प्रेम के कारण सर्वथा द्रवीभूत सा हो रहा है। यहां कुशल नाटककार ने उत्प्रेक्षा के द्वारा सीता के अवचेतन मानस में क्रमशः एक के बाद दूसरे मनोभावों का उदय और विलय अत्यन्त सफलता के साथ चित्रित किया है। विभिन्न भावों के इस पंचामृत को साहित्य शास्त्र की भाषा में भावशबलता का उदाहरण माना जाता है।

तीन प्रकार का शैली-विनियोग

काव्य में अपने विवक्षित अर्थ की समर्थ निष्पत्ति के लिए कविगण प्रायः जिन शैलियों का विनियोग किया करते हैं—वे तीन प्रकार की होती हैं। (१) प्रस्तुत-

१. वही, २।२
२. उ० च०—३।१३

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विषय का प्रकृतवर्णन (२) प्रस्तुत का अप्रस्तुत उपमानों द्वारा अलंकृत वर्णन और (३) वर्ण्य विषय के रूप तथा गुणों से प्रभावित वातावरण का चित्रण करना—जैसे पूर्ण चन्द्र का सौन्दर्य वर्णन समुद्र के उठते हुए ज्वारों को दिखाकर करना, अथवा प्रसंगानुकूल नूतन वातावरण की कल्पना द्वारा वर्ण्य विषय के रूप एवं गुणों को तीव्रता प्रदान करना इत्यादि। अभिव्यक्ति की इन तीन विधाओं में कवि को तदनुकूल सरल, तिर्यक और उर्मिल रेखाओं का प्रयोग करना पड़ता है। इनमें कोई भी अभिव्यक्ति पद्धति किसी से श्रेष्ठ या हीन नहीं है। यहाँ देखना यह होता है कि उस वर्ण्य विषय का प्रभाव हमारे मानस पर कैसा पड़ता हैं? महाकवि भवभूति ने अभिव्यक्ति की इन तीनो विधाओं का सफलता के साथ प्रयोग किया है। यहाँ उ० च० से इनका एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है :—

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तु रन्तर्भूतानि सीव्यति[1]॥

अर्थात् 'जो प्रेम अकारण होता है, उसकी कोई रोकथाम नहीं हो सकती, वह स्नेहसूत्र सांसारिक प्राणियों के हृदय को अनायास एक दूसरे से मिलाये रहता है'। प्रस्तुत पद्य में जननान्तर प्रेम का प्रकृत वर्णन कितना सरल और आकर्षक बन पड़ा है। बिना किसी उपमा, उत्प्रेक्षा या कल्पना चमत्कार के ही यह वर्णन अत्यन्त रमणीय हो गया है। जो भवभूति अपने शब्दाडम्बर तथा प्रगल्भ रचना शैली के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, वे कभी-कभी बिना धूम मचाये, बिना स्वांग रचाये कितनी सहजता से इतनी मार्मिक बातें कह जाते हैं—किसे इसका पता? इस सहजता का कारण भावों का सहज संवेदन और निश्छल अभिव्यंजन है। उ० च० में प्रकृत वर्णन शैली के ऐसे कितने उदाहरण भरे पड़े हैं।

अब अलंकृत वर्णन में कवि की तीर्यक शैली का यह उदाहरण द्रष्टव्य है :—

त्रातुं लोकानिव परिणतः कायवानस्त्रवेदः
क्षात्रो धर्मः श्रित इव तनुं ब्रह्मकोशस्य गुप्त्यै।
सामर्थ्यानामिव समुदयः संचयो वा गुणानाम्
आविर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः[2]॥

अर्थात्—कुमार लव को देखकर श्रीराम कहते हैं—'क्या धनुर्वेद ही लोकों की रक्षा के लिए अवतीर्ण हो गया है? अथवा वेद कोष की रक्षा के लिए छात्र धर्म ने ही शरीर धारण कर लिया है? अथवा शक्तियों का समूह, गुणों का समवाय तथा जगत का पुण्य पुंज ही इनके रूप में प्रकट हो गया है'। यहां लव के क्षात्रोचित, धीर-वीर-गम्भीर व्यक्तित्व का अद्भुत सौन्दर्य उत्प्रेक्षा की तिर्यक् रेखाओं से उन्मीलित और अभिव्यंजित किया गया है।

१. उ० च०—५।१७
२. वही, ६।९

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शैली का तीसरा प्रकार जहाँ वस्तु के रूप और गुणों से प्रभावित वातावरण को उपस्थित कर वर्ण्यविषय को स्थापित किया जाता है, वहां भी भवभूति की समर्थ सरस्वती अप्रतिम ही दीखती है। ग्रीष्म के मध्याह्न में दण्कारण्य की भीषण गर्मी के वर्णन प्रसंग में कवि ने इसी शैली का प्रयोग किया है :—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।
सीमानः प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते[1] ॥

अर्थात्—'जेठ की दोपहरी में दण्डकारण्य के किसी एक प्रान्त में घनघोर निस्तब्धता छायी हुई है और कहीं श्वापद जन्तुओं का गगनभेदी गर्जन सुनाई पड़ रहा है कहीं स्वेच्छापूर्वक सोये हुए, गम्भीर फुत्कार करनेवाले विषैले साँपों के विषज्वाल से आग धधक उठती है। क्षुद्र गड्ढों में कहीं-कहीं कीचड़ मिश्रित पानी झिलमिला रहा है और कहीं प्यास से व्याकुल गिरगिट अजगर के पसीने को चाटकर अपनी तृषा को शान्त कर रहा है।' इस ग्रीष्म वर्णन में कितनी स्वच्छता और कैसी चित्रात्मकता है? गर्मी से आकुल व्याकुल जंगली जन्तुओं का गर्जन करना, अजगर के जहर भाग की ज्वाला से सूखे तृणों में आग का धधक उठना तथा तृषार्त गिरगिटों का अजगर के पसीने को चाटना कितना स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक व्यापार है। तृषार्त जन्तुओं के स्वाभाविक व्यापार वर्णन द्वारा यहां वर्ण्य विषय को बिम्बायित किया गया है। दण्डकारण्य की भयंकर गर्मी का चित्रण यहाँ प्रभाव की तरंग द्वारा शैली की ऊर्मिल रेखाओं में प्रस्तुत किया गया है।

भवभूति की शैली में इसका प्रतिलोम रूप भी मिलता है अर्थात् वर्ण्यविषय के रूप एवं प्रभाव को अतिशयित तीव्रता प्रदान करने के लिए इन्होंने कहीं-कहीं तदनुकूल विषयों की नवीन उद्भावना भी की है। वासन्ती राम को उपालम्भ दे रही है इसी प्रसंग में पूर्वानुभूत दाम्पत्य प्रेम के एक अत्यन्त कोमल प्रसंग की नवीन उद्भावना द्वारा वर्ण्यविषय को उद्दीप्त किया जा रहा है :—

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वममस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरी सैकते।
आयान्त्यः परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः[2] ॥

अर्थात्—'हे देव! देखिये यह वही लतागृह है जिसके द्वार पर आप घंटों खड़े रहकर सीता की बाट जोह रहे थे और सीता गोदावरी के तट पर देर तक हंसों के

१. उ० च० २।१६
२. वही, ३।३७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

साथ क्रीड़ा करती हुई मनोविनोद कर रही थी। थोड़ी देर बाद जब लौटकर सीता ने आपको उदास और दुःखी देखा तो अत्यन्त कातर भाव से उन्होंने कमल की कलियों के समान अपनी उंगलियों को जोड़कर (विलम्ब के लिए क्षमा याचना करते हुए) आपको प्रणाम किया था।' इस सुकुमार प्रसंग की नूतन अवतारणा से वर्ण्यविषय राम का शोक अत्यधिक तीव्र और संदीप्त हो उठता है।

भवभूति की नाट्यशैली का दूसरा पक्ष—उदारता

प्रौढ़ि के बाद नाट्यशैली की दूसरी विशेषता उदारता है। इसका सम्बन्ध काव्यगुण और काव्यशैली दोनों से माना गया है। टीकाकारों ने उदारता का अर्थ ग्राम्यदोषाभाव स्वीकार किया है[1]। दण्डी तथा वामन ने उदारता को एक काव्य गुण स्वीकार किया है। काव्य गुण के वास्तविक उत्कर्ष को दण्डी ने उदारता कहा है। उनका कहना है कि इसी गुण के कारण कोई भी काव्यशैली धन्य होती है[2]। किन्तु वामन ने रचनाशैली की विकटता को उदारता कहा है[3]। विकटता की विवृत्ति करते हुए उन्होंने लिखा है कि विकटता की स्थिति में श्रोताओं को प्रत्येक पद नाचते हुए से प्रतीत होते हैं[4]। नाचते हुए पदों से वामन का स्पष्ट संकेत पदों के नाद-सौन्दर्य से हैं, जहाँ वर्णों एवं पदों की विशेष शिल्प-योजना के कारण भाव मूर्त्त रूप धारण कर लेता है। भवभूति की भाषाशैली में आचार्य वामन की उदारता का निखिल सौन्दर्य सम्पत् विद्यमान है। अपने पदों में अर्थ के अनुकूल ध्वनि पैदा करने तथा शब्द चित्र उतारने की कला में भवभूति नितान्त निपुण हैं। युद्धभूमि के भीषण भयावह दृश्यों का वर्णन करते समय तथा प्रकृत्ति के प्रचण्ड भैरव दृश्यों का चित्रण करते समय उनकी भाषाशैली अपनी नादात्मक प्रतिध्वनि से ही उन दृश्यों को रूपायित कर देती है 'झणंझणितकंकणक्वणितकिंकिणीकं धनुः' आदि पद्य को पढ़ते ही युद्धभूमि में धनुष की प्रत्यंचा के स्फालन से बजने वाली किंकणी की आवाज हमारे कर्णकुहर में परिव्याप्त हो जाती है[5]।

पर्वत की पाषाणी कन्दराओं में गदगद नाद करती हुई गोदावरी की उद्दाम उच्छलित धारा का ध्वनिचित्र इस कौशल के साथ खींचा गया है कि सारा दृश्य शब्दों में ही साकार हो उठा है।

---

१. उदारता तु वैदग्ध्यं ग्राम्यत्वात् पृगंमता-
मा० मा० की शेषराज कृत टीका, पृ० १५

२. काव्या०—उत्कर्षवान् गुणः कश्चिदुक्ते यस्मिन् प्रतीयते।
तदुदाराश्रयं येन सनाथा काव्यपद्धतिः॥ १।७६

३. का० सू०—विकटत्वमुदारता—वामन—३।१।२२

४. वही,—यस्मिन् सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति, तद्विकटत्वम्—लीलाय-मानत्वमित्यर्थः—वामन—३-१।२२ की वृत्ति।

५. उ० च०—६।१

 CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो
मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दक्षिणाः ।
अन्योन्यप्रतिघातसंकुलचलत्कल्लोलकोलाहलै-
रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्संगमाः[1] ॥

किसी अज्ञात गिरिश्रृङ्ग से नीचे पाषाणी कन्दरा में गिरकर गद्गदनाद करने वाली गोदावरी का उद्दाम रूप 'गद्गदनद्दगोदावरीवारयो' की सान्द्र गम्भीर ध्वनि से ही मूर्त्त हो जाता है । उसके प्रवाह वेग का गिरि-चट्टानों से टकराने पर उसकी उत्ताल तरंगों में जो परस्पर संघर्षण हो रहा है उसका उर्जस्विल संगीत श्लोक के तृतीय चरण में फूटता प्रतीत होता है ।

अर्थगौरव की परिमिताक्षरा शैली

इसके अतिरिक्त भवभूति ने अर्थगौरव को अपनी भाषाशैली का अन्यतम आदर्श स्वीकार किया है । अर्थगौरव में भावों की सघनता, अनेकार्थ प्रतिपादन क्षमता तथा किसी भी पदार्थ के समस्त ऐश्वर्य को परिमित पदों में अभिव्यंजित करने की स्वाभाविक योग्यता आदि गुणों का सहज समन्वय होता है । 'अर्थ अमित अति आखर थोड़े' अर्थगौरव की नयी तुली परिभाषा है । जब कोई कवि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों की अभिव्यक्ति कर पाता है तो सामान्यतः उसका काव्य अर्थगौरव से पूर्ण माना जाता है । यद्यपि कम से कम शब्दों में अधिकाधिक अर्थ की अभिव्यक्ति श्लेषालंकार से भी संभव हो सकती है, किन्तु उसे अर्थगौरव की गरिमा का प्रतीक नहीं माना जा सकता, वह काव्यकला का कृत्रिम, अकली और प्रयत्नसाध्य रूप होता है । अर्थगौरव की परिमिताक्षरा शैली में भावों की सघनता, उज्वलता एवं स्वाभाविकता की सह स्थिति अनिवार्य है । अनुभूति की गहराई और अभिव्यक्ति की स्वच्छता अर्थगौरव के अपेक्षित तत्त्व हैं । इसके लिए भावों का सहज संवेदन और निच्छल अभिव्यंजन परम अनिवार्य है ।

विदग्धता, पाण्डित्य और उदात्त आदर्शवाद भवभूति की काव्य प्रतिभा के विधायक तत्त्व हैं । इन्हीं तत्त्वों के दिव्य संयोग एवं विनियोग से उनकी भाषाशैली में अर्थगौरव का निखिल सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है । चाहे वह प्रेम का विषय हो या वीरता का प्रसंग हो, उनकी भाषाशैली में उनका आदर्शवाद सर्वत्र प्रतिबिम्बित होता रहता है । उनके गौरवपूर्ण व्यक्तित्व का समस्त सौन्दर्य संगीत उनकी अभिव्यंजना शैली में तरंगित होता रहता है । अर्थगौरव की महिमा से मंडित भवभूति का यह अनुष्टुप् द्रष्टव्य है :—

---

१. उ० च०—२।१०

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

न किंचिदपि कुर्वाणां सांख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि तस्य प्रियोजनः[1] ॥

अर्थात्—'चाहे' प्रिय व्यक्ति अपने प्रेमी के लिए कुछ भी न करे, किन्तु उसके लिए वह एक अनिर्वचनीय पदार्थ होता है। क्योंकि प्रिय के सान्निध्य अथवा स्मरणमात्र से ही प्रेमी जन का दुःख दूर हो जाता है। इस छोटे से अनुष्टुप् में नपे तुले शब्दों द्वारा प्रेम के समस्त सार सौन्दर्य को नितान्त संयमित ढंग से अभिव्यंजित किया गया है। भवभूति के अधिकांश अनुष्टुप् अर्थगौरव की महिमा से मंडित हैं।

सूक्ति-निर्माण-क्षमता

इसके अतिरिक्त रचना में सूक्तियों का समुचित सन्निवेश भी अर्थगौरव का मानदण्ड माना जाता है। रचनाकार की अनुभूति जब पूर्णतः पचकर प्रकृतिस्थ हो जाती है तब उसकी भाषाशैली में सूक्तियों की सहज निष्पति होती है। इसमें शब्दों की संक्षिप्तता ऐवं भावों की सघनता के अतिरिक्त उदात्तता, यथार्थता एवं स्वाभाविकता आदि दिव्य गुणों का सहज समन्वय होता है। इन्हीं गुणों से समन्वित होकर कोई भी उक्ति सूक्ति की संज्ञा से सुशोभित होती है। जिस प्रकार गंगा की दिव्यधारा विष्णुलोक से निकलकर भगवान् शंकर की जटाओं में प्रवाहित होती रहती है उसी प्रकार सूक्तियाँ भी कवि मानस से अनायास विनिसृत होकर सहृदयों की रसना पर थिरकती रहती है। हम सोते जागते, उठते बैठते इसकी आवृत्ति कर पुलकित और भावमग्न होते रहते हैं। भवभूति के उ० च० में सूक्तिचयों का बहुतायत प्रयोग इस तथ्य का उज्वल प्रमाण है कि यह कृति परिणतप्रज्ञ भवभूति की असाधारण सारस्वत साधना की अन्यतम उपलब्धि है।

प्रायः श्लोक के चतुर्थ चरण में उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, निदर्शना तथा अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों के माध्यम से सूक्तियों की संभूति देखी जाती है, किन्तु वही उसका अन्तिम रूप नहीं है वस्तुतः वह तो आत्मचेतना की सहज उपलब्धि है जो गद्य तथा पद्य के माध्यम से किसी अलंकार का सहारा लिये बिना भी विनिसृत हो सकती है। किन्तु जहाँ भी अलंकारों के आलम्बन से सूक्तियों का जन्म होता है, वहाँ उन अलंकारों को कटक-कुण्डलादिवत् बहिर्निवेश्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये भी उसी वासना की दिव्य देन हैं जो विचारों के साथ कवि के अन्तरतर से उत्थित होते हैं। भवभूति का सूक्तिनिचय इसका साक्षी है जो अपने अलकृत एवं अनलंकृत परिवेश में अर्थगौरव की समस्त महिमा से मंडित है। भवभूति की ऐसी सूक्तियाँ श्लोकों के किसी चरण में अथवा वाक्यखण्ड के किसी एकदेश में स्थित

१. उ० च०-६।५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

रहकर भी अपनी अर्थगरिमा की नैसर्गिक ज्योति से समस्त रचनाशैली को उद्भासित कर देती है। यथा—

(क) सतां सद्भिः संगः कथमपि हि पुण्येन भवति[1]।

(ख) सत्संगजानि निधनान्यपि तारयन्ति[2]।

(ग) गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः[3]।

(घ) हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्[4]।

(ङ) 'स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्ष' इति विप्रतिषिद्धमेतत्[5]।

(च) सुलभसौख्यमिदानीं बालत्वं भवति[6]।

ऐसी अनेक परिणत पंक्तियाँ उनकी उदात्त रचनाशैली में अर्थगौरव के मानदण्ड स्वरूप उद्धृत की जा सकती हैं।

वक्ता वाच्य और विषय के औचित्य का निर्वाह

उ० च० के प्रारम्भ में भवभूति ने अपने लिए "'वश्यवाक्' तथा भरतवाक्य में 'परिणतप्रज्ञ[8]' इन दो विशेषणों का साधिकार प्रयोग किया है। इनमें प्रथम विशेषण इनके संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार को संसूचित करता है और दूसरा इनके पाण्डित्य प्रकर्ष तथा वैदग्ध्य की सिद्धावस्था को अभिव्यंजित करता है। वस्तुतः उ० च० में भवभूति की भाषाशैली की चरमपरिणति देखकर यह सहज ही निश्चय हो जाता है कि यह उनकी गर्वोक्ति नहीं—स्वभावोक्ति है। भवभूति ऋषियों की उस तपःपूत एवं तेजोदीप्त परम्परा में गम्भीर आस्था रखनेवाले सुधी कलाकार हैं जो अर्थों का अनुसंधान किये विना ही शब्दों का प्रयोग किया करते हैं और अर्थ उन शब्दों के पीछे दौड़कर स्वयं ही आवद्ध हो जाते हैं[9]। निसन्देह संस्कृत भाषा पर उनका असाधारण प्रभुत्व है—भाषा एक विनीत दासी की भाँति सदा उनके संकेत पर नाचती नजर आती है। किसी भी कठोर सुकुमार भावों की अभिव्यक्ति में उन्हें तदनुभावी शब्दों को खोजने का आयास नहीं करना पड़ता। चाहे वह करुणरस का प्रसंग हो या वीर रस का, उनकी निसर्ग सिद्ध वाणी में सभी विषय सरलता से रूपायित हो जाते हैं। समस्त उ० च० इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

---

१. उ० च०–२।१ २. वही, २।११
३. वही, ४।११ ४. वही, ६।३४
५. वही, पृ० ४३९
६. वही, चतुर्थ अंक–पृ० ३४१
७. उ० च०–यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुयर्त्तते–१।२
८. वही,–शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतप्रज्ञस्य वाणीमिमाम्–७।२१
९. वही,–ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति–१।१०

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आनन्दवर्द्धन ने रिति के नियामक तत्त्वों में रस के अतिरिक्त वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य को भी महत्त्वपूर्ण कारण स्वीकार किया है[1]। भवभूति की भाषाशैली विशेषकर उ० च० में औचित्य की उपर्युक्त कसौटी पर बिलकुल खरी उतरती है। नाटकीय औचित्य की रक्षा तथा कलात्मक उत्कर्ष की श्रीवृद्धि के लिए इन्होंने सर्वत्र देश, काल, पात्र और परिस्थिति के अनुकूल ही भाषा का प्रयोग किया है जो निश्चय ही उनके कलात्मक दायित्व का उज्वल प्रमाण है। जो भवभूति वीररस के प्रसंग में सांग्रामिक वातावरण के अनुकूल औजोगुण विशिष्ट, समासबहुल तथा दर्पस्फीत शैली की रचना कर सकते हैं, वही पुनः करुणा, वात्सल्य एवं लोक संग्रह सनातन भावों की अवतारणा में अत्यन्त सौम्य, शान्त और सरल दिखाई देते हैं। ज्ञानी जनक, गुरुवशिष्ट तथा सती अरुन्धती की भाषा आत्मा के तेज से उद्दीप्त हैं जो इनके त्रिकालदर्शी व्यक्तित्व के सर्वथा अनुकूल है। राजर्षि जनक ने भगवती अरुन्धती को जिन शब्दों में प्रणाम निवेदित किया है, वे उनके विश्ववन्द्य व्यक्तित्व के समस्त ऐश्वर्य को अभिव्यक्ति करने में पूर्ण समर्थ हैं[2]। तमसा, मुरला आदि दिव्य नारियों के संभाषण में बहुतेरे जलीय उपमान प्रयुक्त हुए हैं, जो उनकी अन्तर्प्रकृति के बिलकुल अनुकूल हैं[3]। महर्षि वाल्मीकि के अन्तेवासी कुमार लव और कुश की भाषा में यदि एक ओर बाल सुलभ चपलता परिलक्षित होती है तो दूसरी ओर उनमें तपोवन की निर्भयता तथा ब्रह्मचर्य का दिव्य तेज भी प्रस्फुटित होता प्रतीत होता है। यद्यपि क्षेमेद्र ने अपनी औचित्य विचारचर्चा में कुमार लव की 'वृद्धास्तेन न विचारणीयचरिता[4]' इस कथन को अनौचित्यपूर्ण घोषित किया

---

१. ध्वन्या०—रसास्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः।
विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति ॥ ३।६२

२. उ० च०—यथापूतं मन्यो निधिरपि पवित्रस्य महसः।
पतिस्ते पूर्वेषामपि खलु गुरूणां गुरुतमः॥
त्रिलोकी मंगल्यामवनितललीनेन शिरसा।
जगद्वन्द्यां देवीमुषसमिव वन्दे भगवतीम् ॥ ४।१०

३. वही, एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्-
भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समक्षम् ॥ ३।४७
... ...
अवनिरमरसिन्धुः साधर्मस्मद्विधाभिः स च कुलपतिराद्यश्छन्दसां यः प्रयोक्ता।
स च मुनिरनुयातारुन्धतीकोवशिष्ठस्तव वितरतु भद्रं भूयसे मंगलाय ॥ ३।४८

४. उ० च०—वृद्धान्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्त्तते
सुन्दस्त्रीमथनेऽप्यकुंठयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीणि कुतोमुखान्यपि पदान्यासनखरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥ ५।३४

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

है। उनका कहना है कि भवभूति ने यहाँ राम के उदात्त व्यक्तित्व में चरित्र दोष दिखाकर प्रधान नायकगत वीर रस का विनाश कर दिया है,[1] किन्तु क्षेमेन्द्र की यह आलोचना बहुत संगत प्रतीत नहीं होती। वस्तुतः इस नाटक में कवि का अभिप्राय राम के जीवन चरित में वीर रस का आस्वादन कराना नहीं है। इसका अंगीरस करुण है जिसकी पुष्टि में इस पद्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उपर्युक्त पद्य से यह ध्वनित होता है कि इतने दोषों से युक्त होकर भी राम दुनियाँ की दृष्टि में नमस्य एवं अनुकरणीय बने हुए हैं किन्तु सीताजी आजन्म शुद्धा और अग्नि के समान पवित्र है उसे लोकापवाद के दंश से दूषित घोषितकर अकारण निर्वासन दण्ड किया गया है। नियति नटी का यह क्रूर अभिनय कितना द्रावक और मर्मस्पर्शी है? अतएव लव के इस कथन को अंगीकरुण रस का प्रतिपक्षी स्वर नहीं माना जा सकता।

उ० च० में भाषाशैली के अनौचित्यपूर्ण स्थल की मीमांसा

फिर भी इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि इस प्रकार के शब्द प्रयोग से राम का उदात्त व्यक्तित्व अवश्य ही कुछ क्षुण्ण और मलीन हो जाता है जो निश्चय ही शास्त्रीय आचार एवं अनुशासन के सर्वथा विरुद्ध है। नाटक में ऐसे प्रसंग जिससे नायक का व्यक्तित्व एवं शील क्षुण्ण एवं खण्डित होता हो या अंगीरस के विरुद्ध प्रभाव सृष्टि करता हो—हेय ही माने जाते हैं, अथवा उसकी अन्यथा प्रकल्पना कर दी जाती है[2]। साथ ही इस कथन से कुमार लव का आश्रमोचित शील एवं सौन्दर्य भी कुछ औद्धत्यपूर्ण एवं अशोभनीय हो जाता है। अतएव भवभूति जैसे आदर्शवादी नाटककार के लिए इस प्रकार का संभाषण शैलीगत दोष ही माना जायगा।

इसी प्रकार षष्ठ अंक के अंत में ब्रह्मचारी लव और कुश के सामने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के मुंह से मुग्धा सीता की अल्हड़ जवानी, स्तन मुकुल तथा अंग लावण्य का रोमान्टिक वर्णन भी भवभूति के मर्यादावादी व्यक्तित्व तथा उदात्त

---

१. औ० वि० चर्चा—अत्राप्रधानस्य रामसूनोः कुमारलवस्य परप्रतापोत्कर्षासहिष्णो वीररसोद्दीपनाय सकलप्रबन्धजीवितसर्वस्वभूतस्य प्रधाननायकगतस्य वीररसस्य ताडकादमन-खरदूषणापसरण-वालि-व्यापादनादिजनविहितापवादप्रतिपादनेन स्ववचसा कविना विनाशः कृत इत्यनुचितमेतत्।

क्षेमेन्द्र.....।

२. सा० द०—यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत॥ विश्वनाथ

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

शैली के सर्वथा प्रतिकूल ही प्रतीत होता है[1]। जो भवभूति अपनी आदर्शवादी नीति तथा मर्यादावादी दृष्टिकोण के कारण उ० च० में अपने नारी-पात्रों के आवयविक रूप-सौन्दर्य तथा तारुण्य-लावण्य का वर्णन करने में थरथर काँपते नजर आते हैं, वही भवभूति यहाँ राम के मुंह से लव-कुश के सामने सीता की मुग्धावस्था का मन्मथकारी वर्णन करने में जरा भी नहीं हिचके—यह आश्चर्य का विषय है। निश्चय ही यह उनके आदर्श व्यक्तित्व तथा उदात्त नाट्यशैली का सर्वथा अप्रत्याशित एवं विसंवादी स्वर है। अगर इस पद्य को राम का 'स्वगत भाषण' मान लिया जाय तो किसी तरह इस अनौचित्य दोष का परिमार्जन हो सकता है, किन्तु किसी भी टीकाकार ने इसे राम का 'स्वगत भाषण' स्वीकार नहीं किया है। अतः इसे नाटककार का शैलीगत दोष ही माना जायगा—दूसरा कोई उपाय नहीं है।

शारीरिक सौन्दर्यचित्रण का अभाव

भवभूति की नाट्यशैली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने उ० च० में कहीं भी एक स्थान पर नारी या पुरुष पात्रों के आकृतिमूलक सौन्दर्य का संश्लिष्ट चित्रण प्रस्तुत नहीं किया है। भारतीय नाट्य-परम्परा में कदाचित् विशाखदत्त को छोड़कर प्रायः सभी नाटककारों ने विशेषकर अपने नारी-पात्रों के रूप-लावण्य का पूरी तल्लीनता के साथ चित्रण किया है। महाकवि कालिदास ने मालविका, उर्वशी तथा शकुन्तला के शरीर-गठन, रूप-सौन्दर्य एवं तारुण्य-लावण्य को पूरी तन्मयता से उन्मीलित किया है, किन्तु रमणी सौन्दर्य-चित्रण के ऊपर भवभूति का ध्यान कभी गया ही नहीं, जहाँ भी ऐसा अवसर आया है वहाँ उन्होंने उनके आन्तरिक गुणों को ही उद्घाटित किया है, शारीरिक सौन्दर्य-चित्रण की अपेक्षा उनकी शक्ति और कान्ति पर ही उनका ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित हुआ है। उ० च० में ऐसे अवसरों की कमी नहीं, जहाँ वे अगर चाहते तो आसानी से रमणी सौन्दर्य-वर्णन में रम सकते थे किन्तु अपने भक्तहृदय तथा मर्यादावादी दृष्टिकोण के कारण वे सदा श्लोक जीवन के सनातन भावों को अभिव्यंजित करने में ही लगे रहे। वे हाड़मांस के भंगुर रूप चित्रण में कहीं नहीं उलझते, इसीलिए उनकी सौन्दर्यदृष्टि आत्मा की अमरज्योति से सदा उद्दीप्त और भास्वर प्रतीत होती है। उनके रूप के माध्यम से शक्ति एवं शील का, तेज एवं ऐश्वर्य का दिव्य आलोक फैलता नजर आता है। कालिदास की रूपसुरा भवभूति की काव्यकला में शील की सुधावन गई है। इसके

१. उ० च०—तदा किंचित्किंचित्कृतरदमहोभिः कतिपयै-
स्तदैतद्विस्तारी स्तनमुकुलमासीन्मृगदृशः।
वयः स्नेहाकूतव्यतिकरघनो यत्र मदनः
प्रगल्भव्यापारः स्फुरति हृदि मुग्धश्च वपुषि ॥ ६।३५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

श्रवण मात्र से ही हमारा मन अन्नमय कोष से ऊपर उठकर आनन्दमय कोष में प्रतिष्ठित हो जाता है। सीता का चिरन्तन सौन्दर्य उसके लोकपावन व्यक्तित्व एवं अनाविल शील में निहित है। वह जन्म से परिपूत है। वह तीर्थोदक के समान निर्मल और अग्नि के समान पवित्र है[1]। वह 'गेहे लक्ष्मी' है, उसका उदार दर्शन आँखों के लिए अमृत शलाका है। उसका प्रत्येक रूप प्रिय एवं पवित्र है—'किमस्याः न प्रेयः'[2]। भगवती अरुन्धती ने सीता के विश्ववन्दनीय व्यक्तित्व एवं परम पावन शील के प्रति अपना सहज भक्तिभाव व्यक्त किया है[3]। इसी प्रकार कुमार लव और कुश के ब्रह्मवर्चस्वी स्वरूप एवं पौरुषातिरेक को भवभूति ने कल्पना की ऊर्मिल रेखाओं में इस तरह उछालकर प्रस्तुत किया है कि उससे एक साथ ही शक्ति-शील और सौन्दर्य का शतदल प्रस्फुटित हो जाता है[4]। वस्तुतः भवभूति की कवि दृष्टि रूपलावण्य के पार्थिव सौन्दर्य में कहीं उलझती नहीं, उनके रूप-दर्शन में शील-एव शक्ति का अखण्ड सौन्दर्य लहराता नजर आता है। शक्ति, शील एवं सौन्दर्य को एक ही साथ अभिव्यंजित करने के कारण भवभूति की नाट्यशैली परम्परा से सर्वथा पृथक् किंवा उदात्त प्रतीत होती है।

युगीन प्रवृतियों का प्रभाव; गद्यशैली का आदर्श

यह ऊपर ही कहा जा चुका है कि भवभूति की भाषा-शैली पर बाणभट्ट, भारवि आदि युगप्रवर्त्तक शैलीकारों की साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं प्रयोगों का गहरा प्रभाव पड़ा है, किन्तु भवभूति की रचनाशैली की विशेषता इस तथ्य में निहित है

---

१. उ० च०—उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः ?
तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः ॥ १।१३

२. वही,— इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिनयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः,
किमस्या न प्रेयो ? यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥ १।३८

३. वही,— शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तस्थिष्ठतु तथा
विशुद्धेरुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्तिं द्रढयति।
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतां
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः ॥ ४।११

४. वही,— त्रातुं लोकानिव परिपातः कायवानस्त्रवेदः
क्षात्रो धर्मः श्रित इव तनुं ब्रह्मकोशस्य गुप्त्यै।
सामर्थ्यानामिव समुदयः संचयो वा गुणानाम्
आविर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः ॥ ६।९
दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्वसारा वीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतादधानो वीरोरसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥ ६।१९

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कि उन्होंने उन युगीन प्रवृत्तियों को अपने उदार उदर में पूरी तरह आत्मसात् कर लिया है। यों भवभूति एक सर्वसमर्थ नाटककार हैं अतएव उनकी भाषा-शैली में नाटकीय गुणों का होना अनिवार्य है, फिर भी उनकी गद्यशैली पर महाकवि बाणभट्ट की प्रसन्न गम्भीर शैली का चरण-चिह्न देखा जा सकता है। उ० च० में कहीं-कहीं भवभूति का गद्य खण्ड बाणभट्ट की चूर्णक गद्य शैली के समस्त ऐश्वर्य को धारण कर अवतरित हुआ है। सामान्य पाठकों को यदाकदा यह भ्रम भी हो सकता है कि वह कादम्बरी पढ़ रहा है या उ० च०? इस का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

वन देवता—चित्रम्! आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः।

आत्रेयी—तेन हि पुनः समयेन तं भगवन्तमाविर्भूतशब्दब्रह्मप्रकाशमृषिमुपसंगम्य भगवान् भूतभावनः पद्मयोनिरवोचत्—'ऋषे! प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद्ब्रूहि रामचरितम्। अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभातु। आद्यः कविरसि' इत्युक्त्वान्तर्हितः। अथ स भगवान् प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमिति हासं रामायणं प्रणिनाय'[1]।

प्रस्तुत गद्य खण्ड भवभूति की प्रशस्त गद्यशैली का उत्कृष्ट निदर्शन है किन्तु कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ इनकी गद्यशैली दीर्घ समास एवं अलंकार के बोझ से अत्यधिक शिथिल और अनाटकीय प्रतीत होती है। यथा—

सीता—'अहो दलन्नव नीलोत्पल-श्यामल-स्निग्ध-मसृण-शोभमान-मांसलेन देहसौभाग्येन विस्मयस्तिमित-तात-दृश्यमान-सौम्यसुन्दर-श्रीरनादरत्रुटितशंकरशरासनशिखण्डमुखमण्डल आर्यपुत्र आलिखितः'[2]।

उपर्युक्त गद्यखण्ड मूल प्राकृत का संस्कृत रूपान्तर है। यद्यपि इस वर्णन में भगवान् श्रीराम का सुगठित शरीर, धनुर्भंग का दृश्य तथा जनक की मनोभावना—सभी का संश्लिष्ट चित्र एक ही साथ उपलब्ध हो जाता है, फिर भी इस प्रकार की गद्यशैली नाटक के लिए अनुपयुक्त ही मानी जायगी। नाटक में गद्य की वही शैली काम्य एवं वरेण्य होती है जो अनायास ही पाठकों की जिह्वा पर चढ़ जाय तथा आसानी से जिसका अर्थबोध हो सके। प्रस्तुत काव्य खण्ड में ऐसा एक भी गुण नहीं जो रंगमंच के लिए उपयुक्त हो सके। इसका अर्थबोध तथा सौन्दर्यबोध तो बहुत बाद की वस्तु है, सर्वप्रथम इसका एक श्वांस में सही-सही उच्चारण करना ही अत्यन्त कष्ट साध्य प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति प्राकृत भाषा के प्रयोग में पूर्ण सिद्धहस्त नहीं थे, कदाचित् इसीलिए उन्होंने अपनी तीनों कृतियों

१. उ० च० द्वितीय अंक—पृ० १४२
२. वही, प्रथम अंक—पृ० ५३

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

में एक भी पद्य प्राकृत में निबद्ध नहीं किया। यहाँ यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि भवभूति के समय तक प्राकृतभाषा का प्रयोग उतना लोकप्रिय नहीं रह गया था, क्योंकि भवभूति के समकालीन महाकवि वाक्पतिराज ने प्राकृतभाषा में ही 'गउडवहो' महाकाव्य का प्रणयन किया था और उसके बहुत बाद भी राजशेखर ने शुद्ध प्राकृत भाषा में 'कर्पूरमंजरी' सट्टक की रचना की थी। इससे स्पष्ट पता लगता है कि उस समय तक प्राकृत का लोक और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान था। अतएव यही मानना तर्कसंगत प्रतीत होता है कि प्राकृत के प्रति भवभूति की सहज और स्वाभाविक रुचि नहीं थी।

अलंकरण सज्जा

भवभूति की भाषा-शैली की एक अन्यतम विशेषता उसकी अलंकरण सज्जा है। उ० च० में खासकर उन्होंने अलंकारों का विनियोग एक सुधीकलाकार की भाँति किया है। भवभूति की अलंकार-योजना की यह महती विशेषता है कि वे सामान्यतः बहिर्निवेश्य नहीं होते, बल्कि वे उनके अन्तरतर से ही उत्थित होते हैं। वे ठोक पीटकर अलंकार नहीं गढ़ते, बल्कि रस और मस्ती में बिम्ब का निर्माण करते हैं। भवभूति का किसी अलंकार विशेष के प्रति कोई प्रबल आग्रह नहीं दीख पड़ता, उन्होंने प्रायः सभी प्रचलित अलंकारों का सफलता और स्वाभाविकता के साथ विनियोग किया है। जिस प्रकार कालिदास उपमा जगत में प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार भवभूति को किसी अलंकार विशेष की सीमा में रखकर नहीं पहचाना जा सकता। इनकी भाषा में ही ऐसी शक्ति है जिसके पीछे अलंकार अनायास ही उमड़ते चले आते हैं। भवभूति की प्रतिभा एवं पाण्डित्य से अपरिचित व्यक्ति को वे अलंकार यत्नपूर्वक बिठाये हुए से लग सकते हैं, किन्तु उनकी समर्थ शैली से परिचित सहृदय को वे 'अपृथक्यत्ननिर्वर्त्य' ही प्रतीत होंगे। उपमा के प्रयोग में वे बहुधा मूर्त्त की उपमा अमूर्त्त से तथा द्रव्य का गुण से दिया करते हैं। भवभूति की सीता करुणा की प्रतिमूर्ति अथवा शरीरिणी विरहव्यथा के समान प्रतीत होती है :—

"करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी[1]"

पुत्री-वियोग में झुलसे हुए बूढ़े जनक को माता कौशल्या का दर्शन घाव पर नमक के समान असह्य हो रहा है—"क्षतैक्षारमिवासह्यं जातं यस्यैव दर्शनम्[2]"। किन्तु जहाँ कहीं अमूर्त्त की उपमा इन्होंने मूर्त्त पदार्थ से भी दी है वहाँ भी इनकी मौलिकता सर्वथा अक्षुण्ण है। बूढ़े जनक पुत्री-वियोग में अन्दर ही अन्दर दह्यमान जर्जरमहावृक्ष की तरह संतप्त दिखाई देते हैं :—

१. उ० च० ४।४ २. वही, ४।७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"अंतःप्रसृप्तदहनो जरन्निव वनस्पतिः[1]"।

फिर भी उपमा के प्रयोग में जो अधिकार तथा जो स्वाभाविकता कालिदास में देखी जाती है, वह भवभूति में नहीं। मछली का पानी में तैरना, पंछी का आकाश में उड़ना तथा कालिदास का उपमा की भाषा में बोलना जन्मसिद्ध अधिकार है। उपमा के अतिरिक्त रूपक-उत्प्रेक्षा-अर्थान्तरन्यास, स्वभावोक्ति आदि चिरपरिचित अलंकारों के प्रयोग में भी भवभूति परम प्रवीण दिखाई देते है[2]।

प्रकृति-चित्रण में तदनुकूल भाषा का प्रयोग

उ० च० में भवभूति ने कहीं-कहीं अपने वर्ण्य विषय को रूपायित करने के लिए अनुप्रास का भी हृदयहारी विनियोग किया है। प्रकृति के कोमल अथवा कठोर दृश्यों को चित्रित करते समय तथा रणक्षेत्र की भीषणता को बिम्बायित करते समय अनुप्रास की अद्भुत छटा प्रदर्शित हुई। अनुप्रास में वर्णों एवं पदों की पुनरावृत्ति के मीलित झंकार से ही वर्ण्य विषय का स्वरूप और सौन्दर्य आँखों के आगे उपस्थित हो जाता है। ग्रीष्म के भीषण उत्ताप को चित्रित करते समय अनुप्रास का निम्न-लिखित प्रयोग विशेष द्रष्टव्य है :—

कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन संपातिभि-
र्धर्मस्रंसितबन्धनैश्च कुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम्।
छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः
कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाकूलेकुलायद्रुमाः[3]॥

प्रस्तुत पद्य के प्रथम चरण में "णकार" और "डकार" की गुरुगम्भीर ध्वनि की त्रिरावृत्ति से निर्झरिणी तटतरुओं में भीमकाय जंगली हाथियों के विशाल गण्डस्थल के संघर्षण का भीषण दृश्य उपस्थित हो जाता है। द्वितीय चरण में रेफ, सकार और नकार जैसे कोमल वर्गों की आवृत्ति से सूखे मुरझाये तथा शिथिल वृत्तवाले फूलों का गोदावरी की विमल धारा में गिरने का अत्यन्त सुकुमार चित्र खींचा गया है इसी प्रकार आतपक्लान्त पक्षियों का वृक्षों की त्वचा को कुरेदकर कीड़ा निकालने का स्वाभाविक रूप श्लोक के तृतीय चरण में "स्किर" "स्किर" की पदावृत्ति तथा "सकार" और "टकार" के श्रुत्यनुप्रास से ही दृष्टिगोचर हो जाता है। किन्तु श्लोक के चतुर्थ चरण में ककार का लम्बा सम्मेलन वर्ण्य विषय

१. उ० च० ४।२
२. रूपकालंकार के लिए विशेष द्रष्टव्य—१।३८, ३।३६
उत्प्रेक्षा—२।९, ३।१३, ३।२३, ४।८, ६।९, ६।१९
अर्थान्तरन्यास—२।१, २।४, २।११, ४।११, ४।१२, ४।१८, ५।१७, ५।१८, ७।४
स्वाभावोक्ति—२।९, २।१४, २।१६, २।२०, २।११, २।२९, २।६०, ४।२६ इत्यादि।
३. उ० च०—२।९

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

के नैसर्गिक सौन्दर्य को तिरोहित कर देता है। यहाँ कवि का सारा संरम्भ ककार के विराट आयोजन में ही व्यय हो जाता है और वस्तु एवं भाव का सौन्दर्य ककार की बदली में ही गायब हो जाता है। अलंकार जहाँ वस्तु एवं भाव के सौन्दर्य को आच्छादित कर देता है वहाँ वह भूषण नहीं, दूषण हो जाता है। किन्तु इस प्रकार का स्थल विशेष उ० च० में प्रायः नहीं के बराबर हैं। यहाँ भाषा अपने प्रकृत तथा अलंकृत परिवेश में वस्तु एवं भाव के समस्त ऐश्वर्य को वहन करती प्रतीत होती है। वस्तुतः उ० च० में भवभूति की भाषाशैली का उत्कर्ष एवं अक्षय सौन्दर्य उसकी अलंकरण शय्या में नहीं, बल्कि उसकी अपरिमित शक्ति तथा अभिव्यक्ति के अनन्त ऐश्वर्य में निहित है। चित्रात्मकता और भावात्मकता उसकी भाषाशैली के प्राण-सर्वस्व हैं।

भारतीय नाट्यपरम्परा में भवभूति अपनी शैलीगत जिन विशेषताओं के कारण इतने महार्घ और महनीय हैं, उनमें उनके संश्लिष्ट एवं चित्रात्मक प्रकृतिवर्णन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के प्रायः सभी मान्यवदान्य नाटककारों ने यथास्थान प्रकृति का भावपूर्ण वर्णन किया है, किन्तु उनमें भवभूति का प्रकृति वर्णन अपनी व्यापकता, चित्रात्मकता तथा शैली शिल्प की भिन्नता के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण है। कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त आदि महान् नाटककारों ने प्रकृति के केवल सौम्य-शान्त दृश्यों का उद्दीपन विभाव के रूप में चित्रण किया है, किन्तु भवभूति ने प्रकृति के कोमल एवं कठोर उभयरूपों का आलम्बन विभाव के रूप में अत्यन्त संश्लिष्ट एवं बिम्बग्राही वर्णन प्रस्तुत किया है। समस्त संस्कृत साहित्य में कदाचित् बाणभट्ट ही ऐसे उद्भट कवि हैं, जिन्होंने गद्य के माध्यम से प्रकृति के उभय रूपों का अत्यन्त संश्लिष्ट चित्रण किया है। भवभूति की प्रकृति चित्रण शैली में महाकवि बाण की उर्जस्विल भाषा एवं उदात्त शैली का दिव्य संस्कार सुरक्षित है। यद्यपि प्रकृतिवर्णन करते समय भवभूति की दृष्टि प्रकृति के प्रचण्ड एवं भीषण भयावह दृश्यों की ओर ही अधिक गई है, किन्तु जहाँ भी उन्होंने प्रकृति के सौम्य एवं मधुर दृश्यों की अवतारणा की है—वहाँ भी उनकी भाषाशैली में भावतरंगों का निखिल ऐश्वर्य विद्यमान है। इस प्रसंग में उनका निम्नांकित पद्य द्रष्टव्य है जिसमें किसी बहते हुए पहाड़ी झरनों का बिम्बग्राही चित्र खींचा गया है :—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरबीरुत्-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुंज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसोनिर्झरिण्यः[1] ॥

१. उ० च०—२।२०

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अर्थात्—'यहाँ मद के कारण किल्लोल करनेवाले पक्षियों के बैठने से कम्पित होकर निर्झरिणी तट पर उगी हुई वेतस लताओं के फूल झरनों में झर रहे हैं। इससे पहाड़ी झरनों का स्वच्छ-शीतल-जल अनायास ही सुवासित हो रहा है। निर्झरिणी की वेगवती धारा कहीं जम्बूनिकुंज से प्रतिहत होकर छितराकर बह रही है और उनमें काले-काले पके जामुनों के गिरने से टपाटप की मधुर ध्वनि मुखरित हो रही हैं"। कैसा स्वाभाविक और बिम्बग्राही वर्णन है? सर्वप्रथम इसकी अनुनासिक ध्वनियाँ हमारे मानस में अनायास ही लयमाधुरी उत्पन्न कर देती हैं और उस लय में भाव का सौकुमार्य तथा कल्पना का माधुर्य घुलमिलकर एक मीलित झंकार पैदा कर देता है। प्रणयोल्लास से मदविह्वल पक्षियों का नर्त्तन एवं कलकूजन निर्झरिणी के तटप्रदेश को अपने मधुर स्वर से आप्यायित कर रहा है—इसके श्रवणमात्र से ही पाठकों के श्रवणरन्ध्र में भी अव्यक्त मधुर संगीत का वर्षण हो जाता है। पहाड़ी झरनों के स्वच्छ शीतल जल को तटवर्ती लताओं के फूल झरकर अपने प्रकृत गन्ध से वासित कर रहे हैं और साथ ही उनमें काले पके जामुनों के गिरने से टप-टप ध्वनि का सुखद संगीत भी दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रस्तुत पद्य में वनभूमि ने अपनी अद्भुत रचनाशैली के द्वारा हमारी श्रुति, नासा, रसना, नेत्र और त्वगिन्द्रियों को समवेत रूप से तृप्ति प्रदान किया है। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द-बिम्बों का यह पंचामृत भवभूति की रचनाशैली का दिव्य अवदान है।

गम्भीर उदात्त शैली में हास्य का अभाव; शिष्ट, संयत और परिष्कृत व्यंग्यविनोद

भवभूति की गम्भीर उदात्त शैली में हास्य रस के लिए विशेष अवकाश नहीं था, कदाचित् इसीलिए उनके नाटकों में विदूषक जैसे हँसोड़ एवं विनोदी पात्रों का अत्यन्ताभाव ही गोचर होता है। विदूषक भारतीय रंगमंच का अत्यन्त आकर्षक पात्र होता है जो अपने स्वाभाविक व्यंग्य विनोद के द्वारा यदा-कदा सामाजिकों के मानसिक तनाव को दूरकर उन्हें मानसिक स्फूर्ति और ताजगी प्रदान करता है। भारतीय नाट्य-परम्परा में प्रायः सभी नाटककारों ने कदाचित् इसी उद्देश्य से विदूषक जैसे पात्र की अवतारणा की है। किन्तु भवभूति स्वभावतः अत्यन्त गम्भीर और उदात्त विचार के व्यक्ति थे। वे विदूषक के सस्ते एवं सर्वसुलभ हास्य को अपनी गम्भीर एवं उदात्तशैली का दूषण ही मानते थे। अपने व्यक्तित्व की इसी गम्भीरता एवं उदात्तता के कारण उन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में विदूषक जैसे पात्र की अवतारणा नहीं की। भवभूति की नाट्यशैली की इस विशिष्टता से यह भी प्रतीत होता है कि उनकी रचना शैली में परम्पराजन्य गतानुगतिकता का कोई प्रबल आग्रह नहीं है। अतीत एवं परम्परा के उज्ज्वल उपयोगी तत्त्वों में

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

सज्ञान आस्था रखते हुए उन्होंने सर्वत्र अपनी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र प्रतिभा की पवित्र किरणें बिखेरी हैं। सच पूछा जाय तो उ० च० की गम्भीर और उदात्त भावभूमि में विदूषक जैसे पात्र की कोई आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के सखारूप में अगर विदूषक की अवतारणा भी होती, तो वह कदाचित् असंगत और हास्यास्पद ही होता। किन्तु विदूषक के अभाव में भी भवभूति ने उ० च० में जहाँ कहीं हास्य की सृष्टि की है, वहाँ उन्होंने अपनी भींगी भावुकता का परिचय दिया है। उनके तपःपूत व्यक्तित्व के अनुरूप ही उनका हास्य अत्यन्त शिष्ट, संयत और परिष्कृत रुचि का परिचायक है। उनका उदात्त हास्य स्मिति की सीमा रेखा का कहीं उल्लंघन नहीं करता, वह अधर प्रदेश को किंचित् उन्मीलित कर अपनी धीरोदात्त प्रकृति से ही सामाजिकों के मन को मुग्ध कर देता है। उ० च० के प्रथम अंक में चित्र दर्शन के अवसर पर उर्मिला को लक्ष्य कर लक्ष्मण के प्रति सीता की यह उक्ति "वत्स इयमपरा का[1]" सात्त्विक हास्य का उज्ज्वल निदर्शन है। यद्यपि इसे स्वस्थ हास्य का उदाहरण नहीं माना जा सकता, क्योंकि हास्य का एक भी अंग यहाँ पूर्णतः स्फुट नहीं है—अतएव यह एक मधुर परिहास से ऊपर नहीं उठ सका है, फिर भी इसमें एक ऐसा गुलाबी नशा है जो हृदय में एक गुदगुदी पैदाकर स्मिति की सीमा रेखा में विलीन हो जाता है।

इसी प्रकार निश्छल सरल हास्य का एक अन्य उत्कृष्ट निदर्शन हमें वहाँ भी मिलता है जहाँ ब्रह्मचारी वटुओं ने जीवन में पहली बार घोड़े को देखकर आश्चर्य-चकित होकर अपनी अकृत्रिम वाणी में उसका परिचयात्मक वर्णन किया है :—

पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं, तच्च धूनोत्यजस्रं
दीर्घग्रीवः स भवति, खुरास्तस्य चत्वार एव।
शष्पाण्यत्ति, प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रान्
किं व्याख्यानैर्व्रजति सपुनर्दूरमेह्येहि यामः[2] ॥

भोले बालकों की यह निश्छल अभिव्यक्ति विज्ञजनों के पवित्र विनोद की एक शाश्वत निधि है। भवभूति की दिव्यशैली की महिमा यहाँ इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने अबोध बालकों के मुँह से सरल-स्निग्ध शैली में जो अश्व का स्वाभाविक वर्णन किया है, उससे उसका स्वरूप तो प्रत्यक्ष हो ही जाता है, साथ ही बाल हृदय की सहज-निश्छल अभिव्यक्ति से छनकर निकले हुए अमृतद्रव से स्वतः एक दिव्य हास्य की भी सृष्टि हो जाती है। निसन्देह उ० च० की उदात्त भावभूमि के सर्वथा अनुरूप हास्य-विनोद के ऐसे सरलमधुर छींटे भवभूति की नाट्यशैली की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं।

१. उ० च०—प्रथम अंक, पृ० ५७
२. उ० च०—४।२६

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

पुनरावृत्त पदों की समालोचना : उनकी शैली के कुछ दोषों का मूल्यांकन

भवभूति की भाषाशैली की एक विचित्रता यह है कि वे अपनी कृतियों में श्लोकों, पदों एवं पदांशों को प्रायः दुहराते रहते हैं। उ० च० में ऐसे करीब ३० श्लोक हैं जो म० च० तथा मा० मा० में किसी न किसी रूप में व्यवहृत हो चुके हैं। केवल उ० च० में ही कुछ ऐसे पद्य हैं जो कई बार आवृत्त हुए हैं। निश्चय ही भवभूति जैसे वश्यवाक् तथा परिणतप्रज्ञ महाकवि के लिए यह एक विचित्रविसंगति मालूम होती है। भाषा और भाव पर उनके असाधारण प्रभुत्व को देखकर उनसे यही अपेक्षा होती है कि वे अपनी कृतियों में समान भावों की अभिव्यक्ति के अवसरपर भी कल्पना और अभिव्यक्ति का चिरनूतन चमत्कार प्रदर्शित करते। किन्तु लोक और साहित्य में पूर्णतः दीक्षित तथा इतना प्रतिभा पुरस्कृत होकर भी भवभूति अपनी कृतियों में श्लोकों एवं पदों की आवृत्ति के पीछे क्यों हैरान हैं? यह रहस्य समझ में नहीं आता। इन पुनरावृत्त पंक्तियों की परीक्षा से विदित होता है कि कुछ चुने हुए बहुचर्चित पद्य एवं पंक्तियों को ही भवभूति ने अपनी कृतियों में बार-बार दुहराया है। इससे यह प्रतीत होता है कि भवभूति को ये पद्य और पंक्तियाँ अत्यधिक पसंद थीं इसलिए उन्होंने इन श्लोकों को अवसर पाकर बार-बार दुहराया है। अनुत्तम वाक्य सभी समय विनिसृत नहीं होते, वे कभी किसी शान्त निभृत क्षण में अनायास बन जाते हैं और एक बार बन जाने के बाद वह कलाकार की स्थायी सम्पत्ति हो जाती है इन पावन पंक्तियों को बार-बार गुनगुनाकर, व्यवहार कर कलाकार एक अपूर्व तोष का अनुभव करता है, अपनी प्रतिभा के पुण्य पुष्प को पुनः पुनः सूँघ कर वह मन ही मन प्रमुदित होता रहता है। भवभूति की कृतियों में उन पुनरावृत्त पद्यों तथा पंक्तियों का भी कदाचित् यही रहस्य है। ये पंक्तियाँ अपने आप में भले ही बहुमूल्य हों, किन्तु भवभूति जैसे समर्थ नाटककार के लिए इनका पुनरावर्त्तन उनका शैलीगत दोष ही गिना जायगा। कोई भी आलोचक भवभूति को इस मोहजन्य दोष में मुक्त नहीं कर सकता।

ऊपर भवभूति की भाषा-शैली में गुणों एवं अवगुणों का यथामति अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस पार्थिव जगत् की कोई भी वस्तु एकान्ततः निर्दुष्ट नहीं, भवभूति का उ० च० भी इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता फिर भी उ० च० में भवभूति की भाषा-शैली में एक अद्भुत शक्ति और सौन्दर्य है जो अपने अक्षय माधुर्य से अनन्त काल तक सहृदयों को उद्वेलित और संतृप्त करती रहेगी :—

'तथाप्यन्तर्मोदकमपि भवभूतिर्वितनुते'

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

अध्याय ७

उपसंहार

पीछे के छ अध्यायों में भारतीय समीक्षा सिद्धान्त के विविध मानदण्डों से भवभूति के उ० च० को समझने का यथासंभव प्रयास किया गया है। इसके प्रथम अध्याय में भारतीय नाट्यकला का विमर्श है जिसमें भारतीय नाट्य कला के कतिपय आधारभूत तत्वों का स्वरूप विश्लेषण एवं तात्विक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में भवभूति के जीवनवृत्त, कृतित्व एवं व्यक्तित्व का निर्णय है। शेष चार अध्यायों में उ० च० का वस्तु संविधान चरित्र-चित्रण, रसविमर्श तथा भाषाशैली का विस्तृत अध्ययन एवं समीक्षण प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने सिद्धान्त रूप से वस्तु, नेता और रस को ही नाट्यकला का मूलतत्व घोषित किया है। यथार्थतः इन्हीं तीन तत्वों में शेष अन्य नाटकीय तत्वों का समाहार हो जाता है। वस्तुसिद्धान्त की दृष्टि से भवभूति के उ० च० की कथावस्तु प्रख्यात हैं इसका मूल उपजीव्य वाल्मीकि रामायण का उत्तरकाण्ड है जिसमें राम और सीता की करुण कहानी वर्णित है। किन्तु भवभूति ने उसमें नाटकीय संवेग भरने के लिए तथा उसे रंगमंचीय परिवेश प्रदान करने के लिए कल्पना का भी प्रकाम विनियोग किया है। अतएव शास्त्रीय दृष्टि से उ० च० की कथावस्तु मिश्रकोटि की ही कही जायगी। जहाँ तक वस्तुविन्यास के विभिन्न अंगों तथा उपांगों का प्रश्न है—वह ऊपर ही कहा जा चुका है कि भवभूति ने भट्टनारायण तथा श्रीहर्ष की तरह किसी लक्षण ग्रन्थ को सामने रखकर उ० च० की रचना नहीं की थी, अतएव इसके वस्तुविन्यास में सभी अर्थप्रकृतियों तथा सन्धि-सन्ध्यंगों का आमूल चूल अनुसंधान करना कदाचित् असमीचीन ही होगा। उ० च० की कथावस्तु यद्यपि ऐतिहासिक है, फिर भी इसके दृश्य और वातावरण बिल्कुल घरेलू हैं। आज भी राम और सीता के आदर्श त्याग तथा उदात्त प्रेम की करुण मधुर छाया किसी मर्त्य कुटीर में देखी जा सकती है। राम की असाधारण कर्त्तव्य निष्ठा और सीता की अनुपम सहनशीलता तथा इन दो कूलों के बीच सतत प्रवहमान दोनों का शुद्ध सात्विक दाम्पत्य प्रेम अत्यन्त उदात्त और शालीन है। कर्त्तव्य एवं परिस्थिति की द्वन्द्वात्मक स्थिति में राम और सीता के मर्यादित प्रेम की जैसी उज्ज्वल परिणति यहाँ दिखाई देती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

यद्यपि कभी-कभी उ० च० के दाम्पत्य प्रेम की तुलना मेघदूत के दाम्पत्य प्रेम से की जाती हैं, किन्तु दोनों की प्रकृति और परिणति में पर्याप्त वैषम्य है। उ० च० का दाम्पत्य प्रेम श्रद्धा और विश्वास की विशुद्ध भावभूमि पर आधारित है, उसमें वासना का कोई पार्थिव गन्ध नहीं मालूम पड़ता, किन्तु मेघदूत का प्रेम कामी यक्ष का प्रेम है। कालिदास का यक्ष जहाँ पत्नी-प्रेम के लिए स्वयं कर्तव्य च्युत हो जाता है, वहाँ भवभूति के राम कर्त्तव्य के कठिन दायित्व का समुचित निर्वाह करने के लिए पत्नी प्रेम को निर्वासित कर देते हैं, यद्यपि दाम्पत्य प्रेम की प्रगाढ़ता एवं तीव्रता दोनों में समान है, फिर भी दोनों की दशाएँ और दिशाएँ बिल्कुल भिन्न भिन्न ही हैं।

यों उ० च० में इतिवृत्त का कोई विशेष मूल्य नहीं है, यहाँ जो सर्वाधिक मूल्यवान् तत्व है वह है भवभूति का अक्षय भावकोष, जिसकी गम्भीर विवृति में नाटकीय कथावस्तु की सहज निर्मिति हुई है। इसीलिए कुछ आलोचकों ने भवभूति के उ० च० में इतिवृत्त की प्रतनुता तथा व्यापार की शिथिलता की गहरी आलोचना की है, किन्तु भवभूति ने उ० च० के नाटकीय इतिवृत्त के लिए रामकथा के जिस सुकुमार और समस्यामूलक अंश को चुना है, उसके संविधान में वृत्त का संकोच सर्वथा प्रत्याशित ही प्रतीत होता है। फिर भी भवभूति का भावजगत इतना समृद्ध और शक्तिशाली है कि वह अपने प्रशान्त गम्भीर प्रवाह में पाठकों को भलीभाँति निमज्जित करा देता है। नाटकीय व्यापार की दृष्टि से उ० च० में बाह्य घटनाओं का घात प्रतिघात भले ही क्षुण्ण एवं क्षीण दिखाई पड़े, किन्तु भावों की आन्तरिक क्रियाशीलता सर्वत्र लक्षित होती है। तृतीय अंक में कहानी के एक बिन्दु पर खड़े रहकर भी राम और सीता अपने भावी मिलन की दिशा में एक बहुत बड़ी दूरी तय कर लेते हैं। निश्चय ही यह इतिवृत्त की जड़ता नहीं, बल्कि उसकी गतिशीलता का ही प्रमाण है।

जहाँ तक भवभूति के उ० च० में नेतृतत्व का सम्बन्ध है, उसका नाटकीय विनियोग बिल्कुल आदर्श और हृदयग्राही है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम इसके नायक हैं और नायिका जगज्जननी श्रीजानकीजी। इसमें नायक अपने गुण और धर्म के अनुसार धीरोदात्त हैं और नायिका स्वीया, प्रौढ़ा तथा पतिव्रता है। यद्यपि इनका शील और चारित्र्य अत्यधिक स्फुट और सगुणगोचर नहीं है फिर भी ये चिर परिचित और शुद्ध भारतीय प्रतीत होते हैं, क्योंकि ये भारतीय संस्कृति, शील और व्यक्तित्व से पूर्ण समृद्ध हैं। भवभूति की आदर्श और गम्भीर प्रकृति के अनुकूल ही उ० च० में विदूषक तथा किसी प्रतिनायक का सर्वथा अभाव है। किन्तु अगर सच पूछा जाय तो मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के सखा रूप में विनोदी विदूषक का चित्रण

 CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

कदाचित् हास्यास्पद ही होता है। इसी प्रकार राम के सार्वभौम व्यक्तित्व के विरुद्ध किसी प्रतिनायक अथवा खलनायक का चित्रण भी नाटकीय प्रभाव सृष्टि की दृष्टि से सर्वथा अनुचित ही होता। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि उ० च० में भवभूति के पात्रों में व्यक्तित्व की विविधता का अभाव है।

उ० च० में नारी-पात्रों की रचना में भवभूति ने विशेष नाट्यकौशल का प्रदर्शन किया है। गंगा, पृथ्वी, तमसा, मुरला आदि नारी-पात्रों की रंगीन कल्पना के द्वारा भवभूति ने सनातन प्रेम भाव की मार्मिक एवं अभूतपूर्व अभिव्यंजना की है—कहीं माता के रूप में और कहीं सखी के रूप में। इस प्रकार बाल-चरित्र का चित्रण भी उ० च० में अत्यधिक स्वाभाविक और लोभनीय उतरा है। कुमार लव और कुश के ब्रह्मवर्चस्वी शील एवं चरित्र में क्षत्रियोचित शौर्य एवं आश्रम सुलभ तेज की सफल अभिव्यक्ति हुई है। शेष अन्य पुरुष अथवा नारी-पात्र उ० च० में पूर्ण सिद्ध एवं नमस्य होकर ही रंगमंच पर अवतरित हुए हैं, अतएव उनके शील-निरूपण की कोई नाटकीय आवश्यकता एवं अनिवार्यता नजर नहीं आती। वे स्वरूपतः ही पूज्य और नमस्य हैं। इनके तपःपूत व्यक्तित्व से उ० च० की नाटकीय भावभूमि सर्वत्र उद्दीप्त और भास्वर है।

रस के क्षेत्र में भवभूति करुण रस के सिद्ध सारस्वत आचार्य हैं। उ० च० का मूल अंगीरस करुण ही है। यद्यपि यहाँ वीर वात्सल्य आदि रसों का भी सम्यक् परिपाक हुआ है फिर भी ये मूल करुण रस के ही विवर्त्तमात्र हैं। रस के विषय में भवभूति की अपनी एक विशिष्ट मान्यता भी है जो संस्कृत साहित्य में अपना एक ऐतिहासिक महत्व रखती है। इनके अनुसार एक करुण रस ही मूल रस है और शेष सभी रस इसके विवर्त्तमात्र हैं। यद्यपि 'एको रसः करुण एव' का प्रासंगिक अर्थ उ० च० की प्रतिपाद्य विषयवस्तु से ही अन्वित है, फिर भी इस प्रासंगिक अर्थ के अतिरिक्त यहाँ करुण रस के प्राधान्य प्रतिपादन में भी भवभूति का स्वारस्य निहित मालूम पड़ता है। उपर्युक्त श्लोक भवभूति के प्रौढ़ जीवन दर्शन का मानदण्ड है और इसका उज्ज्वल निदर्शन उनका उ० च० नाटक है। अतएव जो समालोचक सिर्फ लक्षणग्रन्थों की संगति बैठाने के लिए भवभूति के उ० च० में करुण विप्रलम्भ को अंगीरस सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास करते हैं निश्चय ही वे लक्षणैक चक्षु किंवा गतानुगतिक ही हैं। सिर्फ राम और सीता के पुनर्मिलन दृश्य को देखकर उ० च० में विप्रलम्भ शृंगार को अंगीरस कथमपि नहीं माना जा सकता। क्योंकि अगर पुनर्मिलन सिद्धान्त को ही विप्रलम्भ का नियामक तत्त्व माना जाय तो कालिदास के मेघदूत में विप्रलम्भ शृंगार को किसी भी तरह अंगीरस नहीं माना जा सकता, क्योंकि यक्ष और यक्षिणी का वहाँ अन्त तक मिलन नहीं हो पाता है, ठीक इसके

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

विपरीत कुमारसंभव में मदनदहन के बाद भगवान् शिव की अहैतुकी कृपा से रति का मदन से पुनर्मिलन भी संघटित होता है किन्तु इससे क्या कोई सचेता कुमार-संभव के रतिविलाप को विप्रलम्भ शृंगार कहने का दुःसाहस करेगा ? अतएव केवल पुनर्मिलन सिद्धान्त के आधार पर भवभूति के उ० च० में विप्रलम्भ शृंगार को अंगीरस के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। वस्तुतः भवभूति ने यहाँ करुण रस को उ० च० का अंगीरस सिद्ध कर शृंगार और वीर रस की प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओं के ऊपर एक स्थायी और स्वस्थ परम्परा का नूतन निर्माण किया है।

जहाँ तक भवभूति की भाषाशैली का प्रश्न है, वह अत्यन्त मौलिक, प्रसन्न और गम्भीर है। यह एक वश्यवाक् कवि तथा परिणतप्रज्ञ नाटककार थे। संस्कृत भाषा पर इनका असामान्य अधिकार था। संस्कृत साहित्य में वाणी को अपने संकेत पर नचाने वाली कतिपय अंगुलिगण्य विभूतियों में भवभूति की गणना की जा सकती है। मानवभावों के विश्लेषण में, प्रकृति के कोमल कठोर दृश्यों के विम्वग्राही वर्णन में तथा प्रसंगानुकूल रस की समर्थ निष्पत्ति में भवभूति अपने उ० च० में एक सिद्ध शैलीकार के रूप में दिखाई देते हैं। ये जिस निपुणता से प्रकृति के भीषण भयावह दृश्यों का अत्यन्त संश्लिष्ट और बिम्वग्राही वर्णन कर सकते हैं उसी निपुणता से सुकुमार रमणीय दृश्यों का अत्यन्त पारदर्शी वर्णन भी कर सकते हैं। ये जिस सुगमता से 'वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे' जैसी समास रहित प्रसन्न मधुर पदावली का प्रयोग कर सकते हैं उसी सुगमता से पुनः 'ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रमुद्भूरिघोरघनघर्घरघोषमेतत्' जैसी क्लिष्ट पदावली का भी विनियोग कर सकते हैं। अतएव शास्त्रीय दृष्टिकोण से इनकी भाषाशैली पांचाली रीति के अन्तर्गत ही मानी जायगी।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि भवभूति की भाषाशैली पर महाकवि बाण और दण्डी की ऊर्जस्विल भाषाशैली का प्रभाव पड़ा था। यद्यपि समास बहुल क्लिष्ट पदावली का प्रयोग नाटकीय प्रभाव सृष्टि के लिए अत्यधिक उपादेय और महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता, फिर भी भवभूति जिस युग में साहित्य रचना कर रहे थे, उस युग के लिए भवभूति की प्रसन्न गम्भीर शैली पूर्ण रूपेण उपयुक्त थी। भाषा एवं भावगत युगीन प्रवृत्तियों का पूर्ण निर्वाह कर ही कोई कवि या नाटककार यश का भागी बन सकता है। निसन्देह भवभूति इसके अपवाद नहीं हैं।

महाकवि भवभूति भारतीय नाट्य साहित्य के सर्वमान्य नाटककार एवं रस-सिद्धकवि हैं और उनका उ० च० संस्कृत साहित्य की सर्वश्रेष्ठ नाट्यकृतियों में अन्यतम है। यहाँ भवभूति के नाटककार में द्रष्टा और स्रष्टा की युगपत् सहस्थिति दिखाई देती है। इनका उन्मुक्त दृष्टिकोण, उदात्त जीवनदर्शन तथा कलात्मक

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

उत्कर्ष उ० च० में भलीभाँति अभिव्यक्त हुआ है। इन्होंने नाट्यकला को लक्षणग्रन्थों की रूढ़िबद्धता से मुक्तकर तथा भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से एक मौलिक परिवेश प्रदान कर उसे एक नये क्षितिज की ओर उन्मुख किया है। संस्कृत साहित्य में ऐसे अनेक नाटककार हैं, जिन्होंने लक्षण ग्रन्थों का अक्षरशः पालन करना ही नाट्यकला का चरम आदर्श मान लिया है। किन्तु महानुभूति भवभूति इसके ज्वलन्त अपवाद हैं। उ० च० में इन्होंने शास्त्रीय सिद्धान्तों की परवाह किये बिना हृदय के उच्छल-उदात्त संगीत को, वेदनामयी अनुभूति को नाटकीय भावभूमि में अवतरित किया है। शास्त्र एवं परम्परा के अपरिहार्य नियम के विरुद्ध इन्होंने उ० च० में करुण रस को अंगीरस के रूप में प्रतिष्ठित कर अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण तथा साहित्यिक सत्साहस का परिचय दिया है। यद्यपि यह सही है कि भवभूति को इसके लिए तत्कालीन कट्टरपंथी पंडित समाज की कटु आलोचनाओं का प्रकामगरल पान भी करना पड़ा, किन्तु कला और साहित्य के प्रति उनकी निष्ठा कभी क्षीण एवं क्षुण्ण नहीं हुई बल्कि वह उत्तरोत्तर तीव्रतर एवं गम्भीरतर ही होती गयी। उन्हें यह पूर्ण विश्वास है कि देश-काल के विस्तृत आयाम में अवश्य ही कभी कोई समानधर्मा सुधी सहृदय जन्म लेगा जो उनकी नाट्यकृतियों का वास्तविक मूल्यांकन कर सकेगा—'उत्पत्स्यते मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी'। निसन्देह यह कला एवं साहित्य के प्रति एक सुधी सजग समालोचक का शुद्ध सात्विक उद्‌गार है।

भवभूति ऋषियों की उस तपःपूत परम्परा में गम्भीर आस्था रखने वाले सुधी कलाकार हैं जिनकी वाणी अर्थ का अनुसंधान किये बिना ही विनिसृत हुआ करती है और अर्थ उससे सहज ही संपृक्त होते जाते हैं 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति'। इन्होंने आदिकवि वाल्मीकि की चिरनिर्वासिता सीता के मिथ्या परीवाद को अपनी कल्पना के गंगाजल से धोकर पुनः उन्हें जिस नाटकीय भावभूमि में राम से मिलन कराया है, वह निसन्देह, भवभूति की अलोक सामान्य नाट्य प्रतिभा का उज्ज्वल प्रमाण है। यह संस्कृत नाटकों की सुखान्त परम्परा का अनुवर्तन मात्र नहीं, बल्कि आदिकवि वाल्मीकि की चिरप्रतिष्ठित परम्परा के ऊपर एक स्वस्थ आदर्श नाट्य-परम्परा का दिव्य नूतन निर्माण है। कला एवं भाव के क्षेत्र में भवभूति वाल्मीकि और कालिदास से प्रभावित अवश्य हुए हैं, फिर भी पराजित नहीं। इनकी कल्पना और अनुभूति में पूर्वजों के अर्जित श्रमकण संचित अवश्य हैं, किन्तु कहीं भी उनमें वासीपन अथवा विदेशीपन का बोध नहीं होता। अतीत के उज्ज्वल उपयोगी तत्त्वों में सज्ञान आस्था रखते हुए, निष्ठा के साथ निरंतर गतिशील रहकर इन्होंने उ० च० में सर्वत्र अपनी प्रतिभा की पवित्र किरणें बिखेरी हैं। इनके उ० च० का श्रद्धापूर्वक अध्ययन करने के बाद जो एक

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

तपःपूत, संस्कृतिविपुल एवं संस्कारस्नात लोक दृष्टिगोचर होता है, उसमें कवि के निसंग मानस का अपवाद एवं नीरस अवकाश का कोई व्यर्थ क्षण नहीं, बल्कि एक व्यापक मनोयोग के साथ जीवन और साहित्य में सानन्द विचरण की दिव्य निष्ठा लीला वर्त्तमान है। वह उनके किसी ऐहिक अभाव की पूर्त्ति का साधन नहीं, बल्कि चिरन्तन शान्ति एवं पवित्रता के मनोराज्य में उनके आमुष्मिक आनन्दवाद की कलात्मक परिणति है। इति शम्।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

आकर ग्रन्थों की सूची

१ अरस्तू का काव्यशास्त्र—डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय।

२ अभिज्ञानशाकुन्तल—कालिदास।

३ अनर्घराघव—टीकाकार रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा, १९६०

४ उत्तररामचरितम्—डॉ० पी० वी० काणे, मोतीलाल बनारसीदास, १९६२

५ उ० च०—निर्णयसागर प्रेस, १९४९

६ वही,—शेषराज शर्मा तथा कान्तानाथ तैलंग, चौखम्बा, १९६२

७ वही,—शारदारंजन राय, कलकत्ता, १९४९

८ वही,—आनन्दस्वरूप तथा जनार्दनशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, १९६३

९ वही,—एस० के० वेल्वल्कर, हारवर्ड यूनिवर्सिटी, १९१५

१० ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर खण्ड १, दास गुप्त और एस० के० डे०, कलकत्ता, १९४३

११ अरिस्टोटल्स थियरी ऑफ पोएट्री ऐण्ड फाइन आर्ट, चतुर्थ संस्करण, प्रो० बुचर।

१२ कलेक्टेड वर्क्स ऑफ सर आर जी० भंडारकर, खण्ड २, भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना, १९२८

१३ कम्परेटिव एस्थेटिक्स—के० सी० पाण्डेय, चौखम्बा, १९५९

१४ कादम्बरी—बाणभट्ट।

१५ काव्यमीमांसा—राजशेखर।

१६ कालिदास और भवभूति—द्विजेन्द्र लाल राय।

१७ काव्यप्रकाश—मम्मट।

१८ कल्हण राजतरंगिणी—मोतीलाल बनारसीदास, १९६१

१९ कन्दमाला—कृष्ण कुमार धवन, भारतीय संस्कृत भवन, जालंधर, १९५५

२० टाइप्स ऑफ संस्कृत ड्रामा—डी० आर० मनकद, करांच, १९४२

२१ संस्कृत ड्रामा—ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड, १९२४

२२ द लॉज एण्ड प्रैक्टिस ऑफ संस्कृत ड्रामा—एस०एन० शास्त्री, चौखम्बा, १९६१

२३ दशरूपक—भोला शंकर व्यास।

२४ ध्वन्यालोक—आनन्दवर्द्धन।

२५ नाट्यशास्त्र—आचार्य भरत।

२६ प्रतिमानाटक—टीकाकार रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा, १९५५

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

२७ प्रसन्न राघव—शेषराज शर्मा, चौखम्बा, १९५६
२८ भवभूति ऐण्ड हिज प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर—ए० वरुआ, कलकत्ता, १८७८
२९ भारतीय नाट्य साहित्य—सेठ गोविन्द दास अभिनन्दन ग्रन्थ, सं०नगेन्द्र, दिल्ली
३० भावप्रकाश—शारदातनय, गायकवाड ओरियन्टल सीरिज, १९३०
३१ मालतीमाधव—आ० जी० भंडारकर, बम्बई, १८७६
३२ वही,—जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १९७६
३३ महावीरचरितम्—टोडरमल आक्सफोर्ड, १९२८
३४ वही,—रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा, १९५५
३५ महाकवि भवभूति—डॉ० गंगासागर राय, चौखम्बा, १९६५
३६ मास्टर्स ऑफ यूरोपीयन ड्रामा—जान एलेन लंदन, १९६२
३७ मुद्राराक्षस—के० एस० ध्रुव, पूना, १९३०
३८ रससिद्धान्त—स्वरूपविश्लेषण, डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल, १९६०
३९ रससिद्धान्त—डा० नगेन्द्र ।
४० रसगंगाधर—जगन्नाथ, निर्णयसागर प्रेस ।
४१ वाल्मीकिय रामायण—गीता प्रेस, गोरखपुर ।
४२ साहित्यदर्पण—शालिग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, १९५६
४३ संस्कृत साहित्य का इतिहास—प्रो० कीथ, अनुवादक, डॉ० मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल १९६०
४४ संस्कृत पोयटिक्स—एस० के० डे० कलकत्ता, १९६०
४५ संस्कृत सुकवि समीक्षा—बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा, १९६३
४६ संस्कृत ड्रामा एण्ड ड्रमेटिस्टस—के० पी० कुलकर्णी, १९२०
४७ स्टडीज इन इन्डोलोजी—भाग १, डॉ० मिराशी, नागपुर, १९६०
४८ हिन्दी काव्यप्रकाश—आ० विश्वेश्वर, दिल्ली ।
४९ हिन्दी वक्रोक्तिजीवित—वही, १९५५
५० हिन्दी काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति—वही, १९५४
५१ हिन्दी नाट्य दर्पण—वही, १९६१
५२ हिन्दी ध्वन्यालोक—वही, १९५२
५३ हिन्दी अभिनव भारती—वही, १९६१
५४ आलोचना पत्रिका (त्रैमासिक)—जनवरी, १९५७
५५ एसन्स ऑफ दि भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट खण्ड ३८—१९५७
५६ जर्नल्स आव द गंगा नाथ झा रिसर्च इंस्टीच्यूट, खण्ड ५—भाग १, १९५७

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.